साहित्य का इतिहास-दर्शन

श्रीनलिनविलोचन शर्मा

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

[C]
प्रथम संस्करण

विक्रमाब्द २०१६, शकाब्द १८८१, ख्रिष्टाब्द १६६०
मूल्य ३·५० सजिल्द ५·००

मुद्रक
वेणी माधव प्रेस
राँची।

समर्पण

गृहिणी-सचिव-सखी कुमुद

को

वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रंथ—साहित्य का इतिहास-दर्शन—पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हुए मुझे हर्ष हो रहा है। परिषद् की स्थापना जिन उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए बिहार-सरकार ने की है, उनमें मुख्य है—साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्त्ति और संवर्धन के लिए अधिकारी विद्वानों से उच्चकोटि के ग्रंथों का प्रणयन कराकर उन्हें प्रकाशित करना। परिषद् अपने इसी उद्देश्य की पूर्त्ति अबतक करती आ रही है। कहना न होगा कि परिषद् अपनी अल्पावधि में अबतक पचास से अधिक ऐसे ग्रंथों को प्रकाशित कर चुकी है, जिनकी विद्वज्जनों और पत्र-पत्रिकाओं ने मुक्तकंठ से सराहना की है। यह ग्रंथ उसी शृंखला की एक कड़ी है। विद्वान् लेखक ने साहित्य के अछूते अंग पर इस ग्रन्थ में प्रकाश डालने की चेष्टा की है। प्रस्तुत ग्रंथ में लेखक ने न केवल भारतीय साहित्येतिहास पर विचार किया है, प्रत्युत पाश्चात्य देशों के समग्र साहित्येतिहास पर उपलब्ध तथ्य-बहुल सामग्री को मथकर, अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। लेखक ने इस ग्रन्थ के प्रणयन में अपनी गंभीर अध्ययनशीलता, निष्ठा, धैर्य और सूक्ष्मदर्शिता का जो परिचय दिया है, वह प्रशंसनीय है।

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक पटना-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष, पटना से प्रकाशित त्रैमासिक 'साहित्य' के सम्पादक, बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान मंत्री, परिषद् के सदस्य और बदरीनाथ सर्वभाषा-महाविद्यालय के प्राचार्य हैं। आपने उत्तराधिकार-सूत्र द्वारा अपने पिता से गंभीर विद्वत्ता प्राप्त की है। आपके पिता भारत-विख्यात साहित्य और दर्शन के महाविद्वान् स्वर्गीय महामहोपध्याय रामावतार शर्माजी थे।

यह ग्रंथ परिषद् की भाषण-माला के अंतर्गत प्रस्तुत हुआ है। यह भाषण पटना के साहित्य-सम्मेलन-भवन में सन् १९५७ ई० में, १० जनवरी को कराया गया था। परंतु, ग्रंथ के रूप में प्रकाशित करने के पहले लेखक ने फिर से उस भाषण को माँजा-सँवारा है। इससे पुस्तक के प्रकाशित होने में अधिक विलंब हुआ। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि परिषद् के अन्य ग्रंथों की तरह इस ग्रंथ का भी सुधी-समाज समादर करेगा।

वसन्तोत्सव
१८८१ शकाब्द

वैद्यनाथ पाण्डेय
संचालक

भूमिका

प्रबंध (Thesis) में जो प्रतिज्ञा है, उसे निर्भ्रांत रूप में उपन्यस्त करने के बाद ही कुछ और आवश्यक बातों का उल्लेख कर रहा हूँ। प्रतिज्ञा यह है कि साहित्येतिहास भी, अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह कुछ विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास न होकर, युग-विशेष के लेखक-समूह की कृति-समष्टि का इतिहास ही हो सकता है। इस पर, सिद्धांत और व्यवहार दोनों में ही, ध्यान न देने के कारण साहित्यिक इतिहास ढीले सूत्र में गुँथी आलोचनाओं का रूप ग्रहण करता रहा है।

प्रबंध के सिद्धांत-भाग में, इसी कारण, प्रतिज्ञा-विशेष के पूर्वपक्ष का निरसन और उत्तर पक्ष का पुंखानुपुंख प्रतिपादन है। प्रबंध में गौण लेखकों की जो विस्तृत तालिकाएँ हैं, उनका भी यही कारण है, यह बताना अनावश्यक है।

भोज-प्रबन्ध-जैसी किसी पुस्तक को ले लीजिए, या प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में पंडितों के बीच प्रचलित कथाएँ और किंवदन्तियाँ, काल की दृष्टि से गति और परिवर्त्तन के विभावन अनुपस्थित हैं: पाणिनि, कालिदास, वररुचि आदि समसामयिक, और उत्तर तथा दक्षिण भारत के दूरतम राज्य और उनके नरेश पड़ोसी माने जाकर वर्णित मिलेंगे। ऐसा नहीं कि प्राचीन भारत में ही साहित्येतिहास के क्षेत्र में ऐसी स्थिति है। सत्रहवीं शताब्दी के पहले योरोप में भी फ्रांस और इंगलैंड, ग्रीस और रोम की चर्चा एक साथ ही होती थी, और वर्ज़िल और ओविड, तथा होरेस और होमर समसामयिक की तरह विवेचित होते थे। भारत में हो या योरोप में, पौर्वापर्य का निश्चित या अनिश्चित ज्ञान रहते हुए भी, विभिन्न युगों के बीच के अंतरायों के प्रति विद्वानों में चेतना न थी। प्राचीन काल में यहाँ या पश्चिम में, विकास-सम्बन्धी विकास-वृत्त का जो सिद्धान्त था—अर्थात्, अनिवार्यतः अग्रगमन और फिर ह्रास होता है—वह ऐतिहासिक प्रगति के वास्तविक वैविध्य की व्याख्या नहीं कर सकता था;[1] किन्तु विकास-रेखा के आधुनिक अध्ययन से भी साहित्येतिहास का निर्माण संभव नहीं हो सकता था; क्योंकि इसमें यह अनिर्निहित है कि परिपूर्णता के एक आदर्श की ओर विकास उन्मुख होता है।[2] इस परवर्त्ती सिद्धान्त का परिणाम तो मुख्यतः यही होता है कि अतीत हमारी दृष्टि में अधिकाधिक उपेक्षणीय बन जाता है और एकरूप उन्नति के अतिरिक्त जो भिन्नताएँ होती हैं, वे मिट जाती हैं।

विकास का आधुनिक विभावन, जैसा वह पश्चिम में मिलता है, तभी संभव हुआ, जब स्वतंत्र, विशिष्ट, राष्ट्रीय साहित्यों का सिद्धान्त स्थापित और स्वीकृत हुआ। पृथक् राष्ट्रीय

---

१. J. B. Bury. The Idea of Progress, London, १९२०।

२. Eduard Spranger, "Die Kultur zyklenth eorie und des problem des Kulturverfalls", Sitzlingsberichte der Preussischen Akademie der Wissenschaften, Berlin, १९२६, में; तथा Hubert Gillot, La Querelle des anciens Et des modernes

परम्पराओं और उनकी विकास-सरणियों की विविधता का अभिज्ञान तब हो पाया, जब अतीत का साहित्य पुनरुद्घाटित और आमूल पुनर्मूल्यांकित हुआ। मध्ययुगीन साहित्य के भांडार और लोक-साहित्य का जैसे-जैसे परिचय प्राप्त होता गया, वैसे-वैसे साहित्यिक क्षितिज का विस्तार उस परंपरा-परिधि के बाहर होता गया, जो श्रेण्य प्राचीनता से निर्धारित हुई थी। फलतः निकट अतीत का उपेक्षित और इस कारण अनाविष्कृत साहित्य परिशंसित होने लगा—पहले तो आंशिक रूप में, किन्तु फिर ऐसे अत्यधिक उत्साह के साथ कि श्रेण्य साहित्य की उपेक्षा होने लगी ।

सामान्यतः भारतीय भाषाओं में और विशेषतः हिन्दी में हम इसी स्थिति से संप्रति गुजर रहे हैं। निकट अतीत का साहित्य-भाण्डागार तो उद्घाटित हो रहा है और लोक-साहित्य भी संकलित और विवेचित होने लगा है, किन्तु बहुत दूर तक यह संस्कृत के श्रेण्य साहित्य की कीमत पर हो रहा है। कुछ दिनों पहले मराठी के विशाल चरित-कोश की अत्यधिक प्रशंसा मेरे एक मित्र ने की और उसे मेरे सामने लाकर रख दिया तो मैंने उसकी एक बड़ी साधारण परीक्षा की—उसमें मैंने बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशकों तक जीवित महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री का नाम ढूंढ़ा और मुझे खेदजनक संतोष हुआ कि भारतीय मनीषा के प्रायः अन्तिम प्रतीकों में भी अद्वितीय, पंच परमगुरुओं में एक, तत्रभवान् आचार्य का नाम कोश में नहीं था; संतोष की बात यह इसलिए कि मुझे पूरी आशंका थी कि नाम मिलेगा नहीं और मेरी आशंका ठीक निकली; यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि जीवन-पर्यन्त काशी में रहनेवाले आचार्यप्रवर महाराष्ट्री ही थे। इसी प्रकार हिन्दी-साहित्येतिहास में भारतेन्दु-युग के बौद्धिक वायुमण्डल और रुचि-स्तर का निर्धारण काशी की श्रेण्य परंपराओं की पृष्ठभूमि के पुनर्निर्माण के अभाव में संभव ही नहीं है। किन्तु भारतीय साहित्यों के पृथक् व्यक्तित्वों के अभिज्ञान के बाद ही उनके भी साहित्येतिहास का निर्माण संभव हुआ है, यह भी सत्य ही है।

पश्चिम में जिस प्रकार साहित्येतिहास राष्ट्रीय साहित्य तक ही सीमित रहा, वैसे ही भारत में भी विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्यों के अपने-अपने इतिहास मात्र हैं। अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब फ्रेंच विद्वानों ने यह उद्घाटन किया कि पड़ोसी इंगलैंड का भी अपना साहित्य है, तो उन्होंने उसे अपनी ही रुचि के चश्मे से देखा और अँगरेजी-साहित्य को हीन पाया;[१] ला फाँतें की तुलना में प्रायर, बोइलो की तुलना में राचेस्टर और ड्राइडेन और फेनेलों की तुलना में मिल्टन नगण्य सिद्ध हुए। किन्तु धीरे-धीरे पश्चिम के विभिन्न राष्ट्रों ने एक-दूसरे के साहित्यों के प्रति अधिकाधिक जागरूकता का परिचय दिया है, और अब पश्चिम में योरोपीय साहित्य के अंतस्संपृक्त इतिहास के निर्माण का प्रयास होने लगा है।[२]

भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों में भी, मुंशी के शब्दों में, 'प्रांतिक अस्मिता' का अभाव नहीं रहा है—हिन्दी के साहित्यकारों में इसके अभाव को उनकी हीनता का प्रमाण तक माना गया है—किंतु अब हम भी 'भारतीय साहित्यों' की बात करने लगे हैं, यद्यपि जो थोड़ा-बहुत काम हुआ है, वह अधिकांश में केन्द्रीय सरकार द्वारा और परिचयात्मक तथा विवरणात्मक

---

१. उदाहरणार्थ, Journal litteraire (१७१७) में "Dissertation Sur La oesie anglaise"; Rivarol की प्रसिद्ध उक्ति, 'what is not clear is not French'.

२. उदाहरणार्थ, Ford Madox Ford का March of Litrature, George. Allen

ढंग का ही। अभी भारतीय साहित्यों की अपनी प्रामाणिक और विस्तृत तिथिक्रम-तालिकाएँ तक नहीं हैं,[१] फिर भारतीय साहित्यों के वैसे अंतस्संपृक्त इतिहास के निर्माण का प्रयास ही कैसे संभव है, जैसे इतिहास की संभाव्यता और वांछनीयता का निर्देश प्रस्तुत पुस्तक में यथास्थान किया गया है।

ऐतिहासिक बोध, राष्ट्रीय अथवा भाषागत विशेषताओं का विचार, फिर पार्थक्य में अन्तर्निहित संपृक्तता का अभिज्ञान, तथा युग की प्रवृत्तियों और विकास की चेतना जब प्रत्न-तत्वानुसंधान-वृत्ति से समन्वित होते हैं, और शताब्दियों से एकत्र होती हुई सामग्री का वे अपने युग की इदानन्तता की दृष्टि से उपयोग करते हैं, तब साहित्येतिहास का निर्माण होता है। पहले सर्वत्र ही सभी साहित्यिक इतिहास जीवनीमूलक तथा इतिवृत्तात्मक सूचनाएँ तथा परिष्कार-सापेक्ष सामग्री के आगार ही रहे हैं। आचार्य शुक्ल ने 'मिश्रबंधुविनोद' की सर्वथा युक्ति-रहित आलोचना की है — इटली के Muratori तथा Tiroboschi जैसे विद्वानों के विशाल ग्रंथ, और Histoire littèraire de la France जैसी पुस्तक इति-वृत्त-संग्रह के अतिरिक्त और कुछ थोड़े ही थे। क्रमशः साहित्य के ऐसे विवरणात्मक इतिहास का आविर्भाव हुआ; जिसके पीछे आलोचनात्मक योजना और अतीत के पुनर्मूल्यांकन की चेष्टा थी, यद्यपि प्रारंभ में इनमें भी वैसे पाद्धतिक असामंजस्य थे जैसे, सुपरिचित उदाहरण लें तो, स्वयं शुक्लजी के इतिहास में पाये जाते हैं। Gian Mario Creesimbeni की Istoria della valgar poesia (१६६८) और Thomes Warton की History of English Poetry (१७७४–'८१) ऐसे ही प्राचीनतम साहित्येतिहास हैं। पश्चिम में भी उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही जाकर वास्तविक साहित्येतिहास के लेखन का आरम्भ होता है, जिसका श्रेय है Bouterwek, Schlegel, Villemain, Sismondi, Emiliani Guidici आदि विद्वानों को। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि इसके लिए तैयारियाँ १७वीं-१८वीं शताब्दियों में हुई थीं, जब साहित्येतिहास के लिए सामग्री-संकलन होने लगा था, एवं विकास के सिद्धान्त तथा आलोचना के नवीन विभावनों के आधार स्थापित हुए थे।

साहित्यिक इतिहास के उद्भव और विकास से संबद्ध समस्याओं तथा समाधानों के जो विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में निबद्ध हैं, वे बहुलांश में Sigmund Von Lempicki की "Geschichte der deutschen Literateur Wissenschaft biszum Ende des 18. Jahrhunderts", Göttingen १९२० Renè, Wellek की "The Rise of English Litearary History", Chapel Hill, N. C. १९४१ तथा Giovanni Gelto की "Storia delle Storie letterarie", Miton, १९४२; पर अवलंबित हैं। इनमें भी मैं Renè Wellek की पुस्तक का विशेष रूप से ऋणी हूँ। औरों का आभार-उल्लेख पादटिप्पणियों में है।

पुस्तक जिन्हें समर्पित है उन्हें, वह जैसी है, समर्पित है: मेरी कविता के सम्बन्ध में प्रतिकूल विचार रखने पर भी, वे मेरी कहानी, आलोचना, गवेषणा आदि को उपेक्षणीय नहीं मानतीं, यह उनकी गुणज्ञता ही है।

यह पुस्तक परिषद् के आद्य संचालक आचार्य शिवपूजन सहायजी तथा जननांतरसुहृद् श्रीउमानाथजी की कृपा और प्रेरणा का परिणाम है। उन्हें इसे प्रकाशित देख उतनी प्रसन्नता होगी, जितनी मुझे भी नहीं हो सकती।

---

१. 'साहित्य' के अंकों में हम ऐसी तालिकाएँ क्रमशः तैयार कराके प्रकाशित कर रहे हैं।—ले०

परिषद् के वर्त्तमान संचालक श्रीवैद्यनाथ पाण्डेयजी का भी मैं अनुगृहीत हूँ, जिन्होंने परिषद् में सदैव मेरी सुविधाओं का ध्यान रखा है। परिषद् के प्रकाशनाधिकारी आदरणीय श्रीअनूपलाल मंडलजी तथा उनके सहायक और मेरे मित्र श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' के मीठे तकाजे न होते रहते तो पुस्तक की प्रेस-कॉपी प्रस्तुत करने में मैं अभी कितना समय लेता, कह नहीं सकता। परिषद् के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथानुसंधान-विभाग के योग्य शोध-सहायक श्रीरामनारायण शास्त्री ने पुस्तक में समाविष्ट अनेक तालिकाओं के संकलन-लेखन में मेरी सहायता की है। मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ। 'साहित्य' के सहकारी सम्पादक, विद्यावृद्ध श्रीरंजन सूरिदेवजी, और उनके सुयोग्य सहयोगी श्रीरामकिशोर ठाकुर ने, वेणीमाधव मुद्रणालय, राँची, के तत्परतापूर्ण सहयोग से, जैसा प्रकाशन-मुद्रण संभव कर दिखाया है, उसकी अच्छाइयों का समस्त श्रेय उनका और दोषों का भागी एकमात्र मैं।

अन्त में, मैं कलाकार-प्रवर श्रीउपेन्द्र महारथी के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके द्वारा अंकित आवरण पुस्तक पर है।

—म० वि० श०

विषयानुक्रमणी

साहित्य का इतिहास-दर्शन

अध्याय १

इतिहास-दर्शन: भारतीय दृष्टिकोण

प्राच्य-विद्या-विशारद पाश्चात्यों के अनुसार प्राचीन भारतीयों ने अपने अतीत का इतिहास प्रस्तुत नहीं किया, उनमें ऐतिहासिक विवेक था ही नहीं।[१] हम जब आज के इतिहास-ग्रंथ देखते हैं, तो हमारे मन में भी क्या कुछ ऐसा संदेह उत्पन्न नहीं होता ?

किंतु इतिहास से तात्पर्य क्या है ? कार्लाइल का इतिहास-विषयक जीवनीमूलक विभावन (Conception); या रोशर, एवेनेल, मेकॉले का सार्वभौम; फ्रीमैन, सीली का राजनीतिक; लार्ड ऐक्टन का राजनीतिक; मार्क्स का भौतिकवादी; लैंप्रेख्त का मनोवैज्ञानिक; अथवा डॉलिंगर का धार्मिक विभावन ? ये सभी इतिहासकार आधुनिक युग के हैं। इतिहास के संबंध में इनके विभावनों में तात्त्विक अंतर हैं। इनमें से हम किसे वह कसौटी मानें जिसपर प्राचीन भारतीयों के वैसे प्रयासों को परखा जाय, जिन्हें अपने यहाँ अत्यंत प्राचीन काल से 'इतिहास' कहने की परंपरा चली आई है ?

इतिहास-विषयक विभावन से भिन्न, इतिहास-संबंधी आधारभूत सामग्री का भी प्रश्न है ? क्या उसपर प्राचीन भारतीयों ने ध्यान दिया था ? इस संबंध में भी हमारी ऐसी धारणा हो चली है कि प्राचीन भारतीयों के प्रयत्न अव्यवस्थित, अपूर्ण और सदोष हैं।

पहले हम भारतीय इतिहास की आधारभूत सामग्री पर ही विचार करें, भारतीयों के इतिहास-विषयक विभावन और दृष्टिकोण का विश्लेषण बाद में ही उचित होगा। तिथि-क्रम और भूगोल इन दोनों को इतिहास की दो आँखें माना गया है। इनमें से जहाँ तक प्रथम, तिथि-क्रम, का प्रश्न है, पुराणों में राज-वंशों, उनके समय और राजत्व-काल के स्पष्ट और निश्चित उल्लेख मिलते हैं। जिसे आधुनिक विद्वान् प्रागैतिहासिक कहते हैं, उस काल से लेकर ऐतिहासिक युग तक की विस्तीर्ण अवधि के समस्त राज-वंशों की तिथि-क्रमानुसारी जो तालिकाएँ पुराणों में सुलभ हैं, उनके अभाव में, प्रत्नतात्त्विक तथा मुद्राशास्त्रीय साक्ष्य की प्रचुरता के बावजूद, प्राचीन भारतीय इतिहास का पुनर्निर्माण असंभव सिद्ध होता। भारतीय इतिहास के पाश्चात्य इतिहासकारों ने, पुराणों को अविश्वास्य घोषित करते हुए भी, इन्हीं के आधार पर राजाओं के नाम और उनका राजत्व-काल निर्धारित किया है। पार्जिटर के द्वारा पुराणों से संकलित ऐसी सामग्री का महत्त्व निर्विवाद है, यद्यपि इस विद्वान् ने भी सामान्य रूप से यह कह डाला है कि प्राचीन भारत ने हमें इतिहास-ग्रंथ नहीं दिये हैं।[२]

फिर भी पार्जिटर यह स्वीकार करता है कि पुराण आदि ग्रंथों में परंपरा-प्राप्त विपुल

कलन किया है और पुस्तक के आरंभ में ही ये श्लोक उद्धृत किये हैं:—

> यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
> न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥
> इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
> बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥[३]

पार्जिटर पुराणों की ऐतिहासिकता स्वीकार नहीं करता, यह एक दृष्टि से ठीक ही है: पुराणमात्र इतिहास-ग्रंथ हैं ही कहाँ, हाँ उनमें इतिहास के अंश अवश्य ही सन्निविष्ट हैं। ये पुराण पहले क्षत्रियों द्वारा प्राकृत में लिखे गये, बाद में ब्राह्मणों ने इन्हें संस्कृत में रूपान्तरित किया, क्षत्रिय-परंपरा और ब्राह्मण-परंपरा परस्पर-विरोधी हैं, ये इस विद्वान् के अनुमान पर आश्रित सिद्धांत हैं और इनसे परंपरा-प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री का महत्त्व कम नहीं होता। भारतीय परंपरा का महत्त्व पार्जिटर मुक्तकंठ से स्वीकार करता भी है।[४] यद्यपि मैकडानेल और पार्जिटर प्रभृति के सिद्धांत—कि भारतीयों ने इतिहास-ग्रंथ नहीं लिखे हैं—के खण्डन के लिए कल्हण की राजतरंगिणी पर्याप्त है, किंतु इससे बहुत पहले के पुराणों में निबद्ध ऐतिहासिक परंपरा इतिहास ही क्यों नहीं है, यह इन विद्वानों के द्वारा नहीं बताया गया है। और इस सामग्री में, पुनः पार्जिटर के अनुसार ही, प्राचीन राजनीतिक विकास, आचार्यों और राजाओं की नामावली आदि का सुव्यवस्थित रूप प्राप्य है।[५]

वस्तुतः प्राचीन भारतीयों के द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक सामग्री का अभाव नहीं है। इस संबंध में पाश्चात्यों की भ्रांति का कारण है भारतीयों का इतिहास-विषयक विभावन। १९वीं शताब्दी में इतिहास-लेखन की जो प्रणाली पश्चिम में प्रचलित थी, उससे भारतीय प्रणाली सर्वथा भिन्न थी। पश्चिम के तत्कालीन स्वीकृत प्रतिमानों के सहारे पाश्चात्य विद्वान् न तो भारतीय साहित्य और कलाओं के साथ न्याय कर सके, न यहाँ की प्राचीन इतिहास-लेखन-प्रणाली की विशेषता ही समझ पाये।

'इतिहास' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद में प्राप्त होता है।[६] शतपथ ब्राह्मण[७], जैमिनीय बृहदारण्यक[८] तथा छान्दोग्योपनिषद्[९] में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य में अन्वाख्यान और इतिहास का भिन्न प्रकार की कृतियों के रूप में स्फुट निर्देश है। आगे चलकर इतिहास, पुराण और आख्यान—ये स्पष्ट भेद कथित हैं।

इतिहास का विषय है—आर्ष्यादि बहुव्याख्यानं देवर्षिचरिताश्रयम् ।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मयुक् ॥[१०]

और उसका आदर्श, महाभारतकार के अनुसार, है—

> धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
> पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥

कठिनाई, सच बात यह है, इतिहास-विषयक इसी विलक्षण दृष्टिकोण के कारण रही है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस पुरुषार्थ-चतुष्टय में मानव-सभ्यता का प्रत्येक क्षेत्र अंतर्भुक्त हो जाता है। इतिहास का, इस आदर्श तक पहुँचने के लिए, राजाओं के युद्धों और विवाहों तक सीमित रहना, उसकी एकांगिता का परिचायक है। मनुष्य के संपूर्ण जीवन की कथा कहनेवाला इतिहास आधुनिक काल में अब जाकर प्रचेष्टित हो रहा है। १९वीं शताब्दी के पाश्चात्य

विद्वानों का ऐसे इतिहास से अपने यहाँ परिचय नहीं था, यद्यपि सिद्धांतरूप में कार्लाइल कह चुका था कि 'इतिहास वैसा दर्शन है जो दृष्टांतों के माध्यम से शिक्षा देता है।'

टिप्पणियाँ

१. (क) 'History is the one weak point in Indian literature. It is in fact non-existent. The total lack of historical sense is so characteristic that the whole course of Sanskrit literature is darkened by the shadow of this defect, suffering as it does from an entire absence of chronology.'

—*Macdonell* : *Sanskrit Literature.* पृ० १०।

(ख) 'Ancient India has bequeathed to us no historical works.'

—*Pargiter* : *Ancient Indian Historical Tradition.*, पृ० २।

(ग) यही भूल अरबी यात्री अलबेरूनी ने की थी। १०३० ई० में भारत पर लिखित अपनी पुस्तक में वह कहता है—

'Unfortunately the Hindus do not pay much attention to the historical order of things, they are very careless in relating the chronological succession of their kings and when they are pressed for information and are at a loss, not knowing what to say, they invariably take to romancing.'

—*E. C. Sachau* : *Alberuni's India,* पृ० १०।

२. दे० १(ख)।

३. वायु-पुराण, १, २००-१; पद्म पु०, ५, २, ५०-२; शिव पु०, ५, १, ३५; महाभारत, १, २, ६४५ तथा १, १, २६०। पार्जिटर ने उपर्युक्त पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर ये श्लोक उद्धृत किये हैं और संदर्भ-संकेत पाद-टिप्पणी में दिये हैं।

४. (क) 'Tradition....is the only resource, since historical works are wanting, and is not an untrustworthy guide. In ancient times men knew perfectly well the difference between truth and falsehood, as abundant proverbs and sayings show. It was natural therefore that they should discriminate what was true and preserve it; and historical tradition must be considered in this light.'

उपरिवत्, पृ० ३।

(ख) 'The general trustworthiness of tradition is the fact demonstrated, wherever it has been possible to test tradition by the results of discoveries and excavations, and we should distrust scepticism born of ignorance. The position now is this—there is a strong presumption in favour of tradition; if any one contrasts tradition, the burden lies on him to show that it is wrong; and, till he does that, tradition holds the field.'

उपरिवत, पृ० ६।

५. उपरिवत्, पृ० ११ ।

६. १५, ६, ४ ।

७. १३, ४, ३, १२, १३ ।

८. २, ४, १६; ४, १२; ५, ११ ।

९. ३, ४, १, २ ।

१०. श्रीधर स्वामी द्वारा विष्णु-पुराण के श्लोक ३, ४, १० की टीका में उद्धृत ।

अध्याय २

इतिहास-दर्शन : पाश्चात्य आदर्श

इस शताब्दी के आरंभ में—१६०३ में—जे० बी० बेरी नामक विद्वान् ने अपने एक भाषण में बड़ी दृढ़ता के साथ यह सिद्धांत प्रतिपादित किया था—'इतिहास एक विज्ञान है, उससे न कुछ कम न कुछ ज्यादा।' इसका तीव्र विरोध तुरत ही दो दिशाओं से हुआ : भूत-जगत् के अध्येता प्राकृतिक दार्शनिकों[1] का उत्तर था कि इतिहास विज्ञान से बहुत कम है, और साहित्यिकों का कहना था कि वह विज्ञान से बहुत अधिक है।

आलोचकों के पहले वर्ग का तर्क था कि विज्ञान की आधारभूत सामग्री के विपरीत इतिहास की सामग्री अनिश्चित और अनिर्धारणीय होती है; इतिहास के तथाकथित तथ्य का प्रत्यक्ष निरीक्षण नहीं हो सकता; प्रयोग संभव नहीं हैं; प्रत्येक ऐतिहासिक घटना अपने ढंग की एक अकेली होती है और किसी भी स्थिति में उसको पुनरावृत्त नहीं कराया जा सकता; अतः, इसके परिणामस्वरूप, घटनाओं का न तो निश्चित वर्गीकरण किया जा सकता है, न इतिहास के सामान्य सिद्धांतों या नियमों का ही उद्भावन किया जा सकता है; इतिहास की सामग्री अपेक्षया जटिलतर होती है; इतिहासकारों में इस बात को लेकर ऐकमत्य नहीं है कि क्या महत्त्वपूर्ण है और क्या गौण; इतिहास में आकस्मिकता का तत्त्व ऐसा है, जो सारे हिसाब-किताब को झूठ सिद्ध कर देता है और भविष्य-कथन असंभव हो जाता है; और सर्वोपरि है व्यक्ति का अस्तित्व और उसके स्वेच्छाकृत प्रयास, जिनके कारण इतिहास को वैज्ञानिक भित्ति पर स्थापित करने की चेष्टा विफल ही क्यों, हास्यास्पद सिद्ध होती है।

इसके प्रतिकूल साहित्यकारों का कहना था कि इतिहास विज्ञान हो या न हो, वह कला जरूर है। विज्ञान अधिक-से-अधिक इतिहास का कंकाल ही प्रस्तुत कर सकता है; उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिए कवि की कल्पना आवश्यक है; और जब कंकाल एक बार सजीव हो जाता है तो उसे सुरुचिपूर्ण परिधान देने और प्रभावशाली बनाने के लिए कुशल लेखक की निपुणता की जरूरत होती है। वैज्ञानिक की मनोराग-रहित निस्पृहता इतिहास के लिए अपर्याप्त और अवांछनीय है, क्योंकि उसका विषय है चैतन्य मनुष्यों का क्रिया-कलाप। प्रसिद्ध इतिहासकार जी० एम० ट्रेवेल्यन के अनुसार "जो आदमी खुद ही मनोराग और उत्साह से रहित है, वह दूसरे के मनोरागों पर शायद ही कभी विश्वास कर सकेगा, उन्हें समझ तो वह कभी नहीं सकेगा।"

इस तरह जो त्रिकोणात्मक गत्यवरोध उत्पन्न हो गया वह आज भी दूर नहीं हुआ है। किंतु इस विवाद से एक तथ्य उत्थित हुआ है और वह यह कि इस गत्यवरोध के कारण

'इतिहास' तथा 'विज्ञान' स्वयं वाचक ही हैं, जिनके वाच्य अनिश्चित हैं और यह देखा गया है कि उससे पूर्व-पक्ष जो समझ रहा है, उससे भिन्न ही कुछ उत्तर-पक्ष को ग्रहण करना अभीष्ट है। 'क्या इतिहास का भी विज्ञान हो सकता है ?' इस प्रश्न का दो-टूक निषेधात्मक उत्तर दिया गया है; किंतु इसके पहले 'विज्ञान' को यों परिभाषित भी करते हैं—"विज्ञान ऐसे सामान्यकरण-सिद्धांत या नियम की अन्विति में समान तथ्यों के एक बृहत् समूह के संघटित होने का नाम है, जो सिद्धांत या नियमादि से निर्धारित परिस्थितियों में घटनाओं की पुनरावृत्ति के निश्चित पूर्व-कथन का आधार प्रस्तुत करते हैं।" किंतु, सत्य यह है कि विज्ञान का भले ही यह लक्ष्य हो कि तथ्यों का सामान्यकरण हो, नियम उद्भावित किये जायँ और पूर्व-कथन के लिए आधार प्राप्त किये जा सकें, फिर भी यदि वह लक्ष्य की पूरी तरह प्राप्ति नहीं भी करता तो वह अपने काम या प्रकृति से वंचित नहीं होता। ऋतुकी [१] को हम विज्ञान ही मानते हैं, हालांकि मौसम के संबंध में इस विज्ञान के विशेषज्ञ जो अग्र-सूचनाएँ देते हैं वे, ऐसा कहा जाता है, उतनी ही संख्या में ठीक साबित होती हैं जितनी में गलत ! इसीलिए आज विज्ञान की सामान्य परिभाषाएँ इससे अधिक उसके लिए दावा करती ही नहीं कि वह "संघटित, व्यवस्थित और परिभाषित ज्ञान है।" उदाहरण के लिए, टी० एच० हक्स्ले के अनुसार, विज्ञान "वह समस्त ज्ञान है जो साक्ष्य पर अवलंबित और युक्तियुक्त होता है"; एलेक्स हिल (Alex Hill) का कथन है, "समस्त बौद्धिक ज्ञान विज्ञान ही है;" कार्ल पियर्सन का मत है, "तथ्यों का वर्गीकरण, उनका पौर्वापर्य और आपेक्षिक महत्त्व—ये ही विज्ञान के कार्य हैं;" और अमेरिकन वैज्ञानिक एफ० जे० टेगार्ट तो विज्ञान की यह परिभाषा मात्र देकर संतुष्ट हो जाते हैं, "वह गोचर वस्तुओं में प्रकटित प्रक्रियाओं का संघटित अनुसंधान है।" यदि एकमात्र लक्ष्य सत्य-निर्धारण है, संबद्ध समस्त तथ्यों का अवधानपूर्वक अन्वेषण होता है, पूर्वाग्रहों और पूर्व-धारणाओं से मुक्त विवेचनात्मक निर्णय पर निर्माण किया जाता है और गवेषणीय वस्तु के अनुरूप सामान्यकरण, कोटीकरण और नियमकरण होता है, तो अध्ययन के विषय को विज्ञान का गुण प्रदान करने के लिए ये पर्याप्त हैं। इसलिए इतिहास को ही क्यों, किसी भी विषय को, इन कसौटियों पर परखने के बाद ही, विज्ञान की सीमा के अंतर्गत या बहिर्गत मानना उचित है। विज्ञान की परिधि के बाहर वे ही विषय होंगे, जिनका वस्तु-तत्त्व, इन कसौटियों पर परखे जाने के बाद, लुप्त हो जाता है। क्या इतिहास के वस्तु-तत्त्व के साथ ऐसा होता है ? ऐसा प्रतीत तो नहीं होता। इतिहास को मनुष्य के स्थायी गुणों और उसके सकल परिवेश के नियमनों में कम-से-कम उतने ठोस आधार तो मिल ही जाते हैं जितने रासायनिकों के अणु-कण या पदार्थशास्त्रियों के विद्युत्कण हैं। तब इतिहास का वस्तु-तत्त्व क्या है ? यहाँ 'इतिहास' शब्द के वाच्य पर विचार कर लेना समीचीन होगा। इस शब्द का अनेक परस्पर-भिन्न अर्थों में प्रयोग होता है, यह कहना अनावश्यक है। सूक्ष्म अंतरों को छोड़ भी दें, तो तीन अर्थ तो स्पष्टतः निर्धारणीय हैं।

प्रथम, घटनाओं के वास्तविक क्रम को द्योतित करने के लिए 'इतिहास' शब्द का प्रयोग होता है। यह सुविधाजनक होते हुए भी युक्तिसंगत नहीं है। जब हम अशोक या नेपोलियन को 'इतिहास का निर्माता' कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यह नहीं होता कि वे इतिहास के लेखक हैं, बल्कि यह कि उन्होंने संसार के घटना-प्रवाह को मोड़ा है। इसी प्रकार जब हम 'इतिहास के प्रभाव' की बात करते हैं तो हमारा आशय इतिहास-ग्रन्थों का प्रभाव न होकर परिस्थितियों

का प्राबल्य होता है । यह तो स्पष्ट ही शाब्दिक अपप्रयोग है, किन्तु संसार की घटनाओं के संक्रमण के लिए दूसरा कोई एक उत्तम शब्द न होने के कारण इसका व्यवहार करना ही पड़ता है ।

जिस दूसरे महत्त्वपूर्ण अर्थ में 'इतिहास' शब्द का व्यवहार होता है, वह है संसार की घटनाओं या उनके कुछ अंशों के प्रवाह का आलेखन । यह उचित और सर्वाधिक प्रचलित प्रयोग है ; इसी अर्थ में हम भारत, इंगलैंड आदि के, या विज्ञान, कला, साहित्य प्रभृति के, किंबहुना किसी भी ऐसी वस्तु के इतिहास की बात कहते हैं, जो काल-क्रम में विकसित हुई है और अपने पीछे विकास के चिह्न छोड़ती चली आई है । इस अर्थ में 'इतिहास' शब्द का व्यवहार उचित और अत्यधिक प्रचलित होने पर भी एक उलझन पैदा करता है और वह उलझन इस विवाद की तह में है कि इतिहास विज्ञान है या कला । यदि इतिहास विवरणों का आलेखन, वर्णन है तो वह साहित्यिक रचना की कृति है, और साहित्यिक रचना अवश्य एक कला है । किंतु, यदि साहित्यिक रचना की कला इतिहास के लिए व्यवहृत होती है तो इसके लिए उपयुक्त शब्द है इतिवृत्त—'हिस्टोरियोग्राफी' । यह शब्द व्यवहृत होता है तो विवाद समाप्त हो जाता है । इतिवृत्त कला है या विज्ञान ?—ऐसा प्रश्न उठता है तो उत्तर यही हो सकता है कि वह निस्संदिग्ध कला है ।

'इतिहास' (हिस्ट्री) शब्द का तीसरा अर्थ, लौकिक और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ, है 'गवेषणा', या 'गवेषणा से प्राप्त जानकारी', या 'गवेषणा की किसी प्रक्रिया से उपलब्ध ज्ञान' । इसका अंतर्निहित भाव है सत्य का अन्वेषण, अनुसंधान, अनवरत अनुसरण । इस अर्थ में इतिहास विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

अब क्रमतः अनेक प्रश्न उठते हैं । इतिहास यदि विज्ञान है तो किस प्रकार का विज्ञान है ? यह पहला प्रश्न है । उत्तर यह है कि इतिहास खगोल-विद्या के समान प्रत्यक्ष निरीक्षण पर अवलंबित विज्ञान नहीं है, न वह रसायन-शास्त्र की तरह प्रयोग का विज्ञान है । वह विवेचन का विज्ञान है और प्राकृतिक विज्ञानों में भूगर्भविद्या के समीपतम है । भूगर्भ-विद्या-विशारद आज जैसी पृथ्वी है, उसका निरीक्षण इसलिए करते हैं कि संभव हो तो पता लगाया जाय कि वह जैसी है वैसी कैसे हुई; इतिहासकार अतीत के विद्यमान अवशेषों का इस उद्देश्य से अध्ययन करता है कि वर्तमान का जो रूप है, उसकी व्याख्या की जा सके, उनमें छिपे कर्म के उत्स का, आध्यात्मिक और शाश्वत वास्तविकता का उद्घाटन हो सके।

दूसरा प्रश्न है, इतिहास किन वस्तुओं का अन्वेषण करता है ? संक्षिप्त उत्तर है कि वह अतीत के ऐसे सभी अवशेषों और आलेखनों का अन्वेषण करता है, जिनसे वर्त्तमान के समाधान और व्याख्या में सहायता मिल सके ।

तीसरा प्रश्न यह है कि इतिहास की विषय-वस्तु क्या है । वैज्ञानिक अर्थ में इतिहास की विषय-वस्तु कुछ नहीं है । यह अन्वेषण की एक प्रणाली मात्र है। विषय-वस्तु गृहीत करने के लिए यह किसी विशेषण के संबंध की अपेक्षा करता है । उदाहरणार्थ, राजनैतिक इतिहास में राज्य की अतीत घटनाओं का विवेचन रहता है; धार्मिक इतिहास में धर्म-संबंधी अतीत

घटनाओं का। इस अर्थ में मनुष्य जो भी कार्य करते हैं, दुःख भोगते हैं, निर्माण और ध्वंस करते हैं, वे सभी ऐतिहासिक अन्वेषण के अंतर्गत हैं।

चतुर्थ प्रश्न है, ऐतिहासिक अन्वेषण का लक्ष्य क्या है ? उत्तर संकेतित हो चुका है—वर्त्तमान का समाधान और व्याख्या। जिस सामग्री का भी विवेचन इतिहास में होता है, वह वर्त्तमान सामग्री ही होती है। जो नितांत गत और अतीत है, वह इतिहास के लिए विचारणीय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह भी है कि ऐतिहासिक अन्वेषण जिस युग में होता है उसके भाव और रुचि के अनुरूप ही यह हो सकता है : कोई इतिहासकार अपने को अपने वातावरण से अलग नहीं कर सकता। ऐसा करने का प्रयास उचित भी नहीं है। अपना तथा अपने वातावरण का ज्ञान प्राप्त करना ही तो उसका ध्येय होता है। जैसा कि क्रोचे ने कहा है, समस्त इतिहास समकालीन इतिहास होता है, और सभी सच्चे इतिहासकार, वे चाहें या न चाहें, दार्शनिक होते हैं।

अंतिम प्रश्न यह है कि विज्ञान के रूप में इतिहास की प्रक्रियाएँ क्या हैं। इसका प्रथम कार्य है प्रामाणिक तथ्यों का संकलन। किंतु चूँकि तथ्य असंख्य होते हैं और सभी का कुछ न कुछ महत्त्व होने पर भी उनमें से अधिकांश अत्यल्प महत्त्व के होते हैं, इसलिए उन्हें चुनने का कोई सिद्धांत आवश्यक है। इस सिद्धांत के संबंध में मतैक्य नहीं है। पुराने इतिहासकारों को वे तथ्य अधिक आकृष्ट करते थे, जो असाधारण, नाटकीय और उदात्त होते थे। आधुनिक वैज्ञानिक इतिहासकार अपरिसीम तथ्यों में से उन्हें ही चुनता है जो, उसकी दृष्टि में, वर्त्तमान मानव-समाज के विकास के समाधान और परिज्ञान के लिए सहायक सिद्ध हो सकते हैं। अवशेषों से तथ्य-संकलन कर सकने के लिए यह आवश्यक है कि इतिहासकार भाषा-विज्ञान, लिपि-विज्ञान आदि का प्रशिक्षण प्राप्त किये हो।

जब इतिहास के लिए तथ्यों का—कच्चे माल का—संकलन हो जाता है तो विवेचन की प्रक्रिया शुरू होती है। अब अतीत के अवशेषों के साक्ष्य की समीक्षा इसलिए आवश्यक होती है कि उनकी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता निर्धारित की जा सके।

इतिवृत्त के समन्वयात्मक निर्माण के पूर्व जो तीसरी और अंतिम प्रक्रिया है, वह है अवबोधन की, जो कठिनतम होती है। इसमें ऐसी वैज्ञानिक कल्पना की आवश्यकता पड़ती है, जो ऊँची-से-ऊँची उड़ान ले सके और फिर भी सत्य की सीमा में नियंत्रित रहे। भारतीय इतिहास के ही नहीं, यूरोपीय इतिहास के ही अनेक युगों के लिए (विशेषतः ईसाई धर्मावलम्बी यूरोप के प्रारंभिक मध्य-काल के लिए) लिखित तथा अन्य प्रकार के अवशेष इतने कम हैं, लेखकों का अंधविश्वास और कपोल-कल्पना ऐसी है, आधुनिक काल की तुलना में लोगों के विचार और जीवन की प्रणालियाँ इतनी भिन्न थीं कि सहानुभूतिशील कल्पना-शक्ति—बुद्धि और हृदय दोनों के गुण—अवबोधन के लिए आवश्यक है।

टिप्पणियाँ

सामान्यतः द्रष्टव्य

E. Fueter, Gesch. d. neuren Historiographie, म्यूनिख, १९११; E. Bernheim, Lebruch d. historischen Methode, लाइपजिग, १९०८; W. Dilthey, Einleit.

in d. Geisteswissenschaften, लाइपजिग, १८८३; W. Wundt, Logik, स्तुतगार्त १६०३–०४; H. Rickert, Grenzen d. naturwissenschaftlichen Begriffsbildung, त्यूबिगेन, १६०२; R. Eucken, Die Einheit d. Geisteslebens, लाइपजिग, १८८३; G. Simmel, Die Probleme d. Geschichtsphilosophie, लाइपजिग, १६०७; Schleiermacher, Entwurf Eines Systems der Sittenlehre, सं०, A. Schweizer, Gotha, १८३५; W. Windelband, Geschichte u. Naturwissenschaft, स्त्रासबर्ग, १८६४; E. Troeltsch, Die Absolutheit d. Christentums u. d. Religionsgeschichte त्यूबिगेन १६१२; H. Münsterberg, Philosophie der Werte, लाइपजिग, १६०८; Ernest Bernheim, Lehrbuch der historischen Methode und der Geschichtphilosophie (षष्ठ संस्करण, १६१४); C. V. Langlois Manuel de bibliographie historique (द्वितीय संस्करण, १६०१–१६१४); James T. Shotwell, Introduction to the History of History, १६२२; J. H. Robinson, The New History, १६१२; Harry E. Barnes, The New History and the Social Studies, १६२५; G. P. Gooch, History and Historians in the Nineteenth Century, १६१३; वही, Theory and History of Historiography, १६२१; R. Flint, History of the Philosophy of History, Historical Philosophy in France and French Belgium and Switzerland, १८६४; F. J. Teggart, The Theory of History, १६२५; A. J. Toynbee, A study of History, Abridgement of Vols. I–IV by D. C. Somervell, १६५४।

पत्र-पत्रिकाएँ:— The English Historical Review; The American Historical Review; La Revue historique; Jahresberichte der Geschichtswissenschaft.

अध्याय ३

साहित्यिक इतिहास की प्राचीन भारतीय परंपरा : संस्कृत में

प्राचीन भारतीयों द्वारा लिखित साहित्येतर इतिहास में कालानुक्रम का कोई अभाव नहीं है, भले ही वह आज अनेक कारणों से यत्र-तत्र अस्पष्ट तथा संदिग्ध प्रतीत होता हो। इस संबंध में पाश्चात्यों की आलोचना निराधार है। कालानुक्रम का वास्तविक अभाव तो साहित्यिक इतिहास में है। डब्लू० डी० ह्विटनी ने कहा है—

"All dates given in Indian literary history are pins set up to be bowled down again."[1]

वेद, रामायण, महाभारत, पुराण तथा भास, कालिदासादि के समय के संबंध में जो मतभेद और अनिश्चय है, वह सर्वविदित है। वितरनित्ज का निष्कर्ष है कि—

"It is much better to recognise clearly the fact that for the oldest period of Indian literary history, we can give no certain dates, and for the later periods only a few.... Even to-day the views of the most important investigators with regard to the age of the most important literary works, differ, not indeed by years and decades, but by whole centuries, if not even by one or two thousand years."[2]

वितरनित्ज तथा अन्य पाश्चात्य लेखकों की दृष्टि में इस अनिश्चय के कारणों में ये बातें उल्लेख्य हैं—जो अत्यंत प्राचीन साहित्य है, वह लेखक-विशेष की रचना के रूप में ज्ञात न होकर वंश, संप्रदाय अथवा किसी प्राचीन ऋषि के नाम से प्रसिद्ध है, बाद में, जब रचनाएँ लेखक-विशेष की पाई जाने लगती हैं, तब भी लेखक का वंश-नाम ही निर्दिष्ट रहता है; व्यक्ति-नाम के बदले वंश-नाम से यह कहना कठिन हो जाता है कि, उदाहरणार्थ, कालिदास महाकवि कालिदास हैं या अन्य कोई कालिदास; एक ही लेखक-नाम के विभिन्न रूप भी पाये जाते हैं; यदि किसी लेखक को अपनी कृति का व्यापक प्रचार और प्रामाण्य अभीष्ट है, तो वह अपना नाम न देकर किसी प्राचीन ऋषि का नाम अपनी कृति के साथ जोड़ देता है—एकाधिक परवर्ती उपनिषदें और पुराण इसके उदाहरण हैं; और कृति-स्वामित्व या 'स्वत्वाधिकार' के प्रति अतिशय उदासीनता तथा निर्लिप्तता।

प्राचीन भारतीय ग्रंथों तथा लेखकों के कालानुक्रम की अनिश्चयता कुछ अंशों में ही वास्तविक अनिश्चयता है, और जिस साहित्य का इतिहास अनेक-सहस्र-वर्ष-व्यापी है और

जिसकी रचना-भूमि पर अगणित बर्बर आक्रमण होते रहे, उसके कालानुक्रम की अनिश्चयता अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती ।

इससे अधिक कठोर सत्य तो यह है कि भारतीय साहित्येतिहास के तिथि-क्रम को उन पाश्चात्य विद्वानों ने जाने-अनजाने अनिश्चित तथा संदिग्ध बनाने में योग दिया, जिनके प्रति हम इसलिए सदा कृतज्ञ रहेंगे कि उन्होंने अपने से पहले के विदेशी शासकों की तरह यहाँ के साहित्यिक अवशेषों को नष्ट करने के बदले उनका अध्ययन, संरक्षण और मुद्रण किया—और अधिक-से-अधिक जो अनुचित किया, वह यह कि उनसे अपने देशों के संग्रहालय समृद्ध बनाये । जब विंतरनित्ज कहते हैं कि '....the safest dates of Indian history are those which we do not get from the Indians themselves',[३] और विश्वसनीय तिथियों के लिए हमें यूनानी और चीनी यात्रियों का भरोसा करना चाहिए, तो वे वस्तुतः उस कारण का उद्घाटन कर देते हैं, जिससे भारतीय साहित्येतिहास के कालानुक्रम की जटिलता जटिलतर हो गई है । साहित्येतर इतिहास के विषय में पूर्व के अध्याय-विशेष में परंपरा से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के महत्त्व का निर्देश किया गया है, जिसे पार्जिटर ने भी मुक्तकंठ से स्वीकार किया है । यूनानी स्रोतों के आधार पर 'सैंड्राकोटस' को, चंद्रगुप्त मौर्य को, सिकंदर का समकालीन मानकर साहित्येतर, तथा अनिवार्यतः साहित्यिक भी, भारतीय इतिहास को ३१५ ई०-पू० के पहले और बाद में बिठाने का जो प्रयास पाश्चात्य विद्वानों ने किया है, वह विलक्षणतापूर्ण होते हुए भी, पुनः-पुनः परीक्षणीय है, यह मेरा संदेह विश्वास में परिणत हो चला है, यद्यपि इसके लिए आधार ढूंढ़ना इतिहासज्ञों का काम है ।[४]

परंपरा की उपेक्षा पाश्चात्यों ने एक दूसरे प्रकार से भी की है । वे आज तक कालिदास का समय निश्चित नहीं कर पाये हैं, तो इसका कारण यह है कि वे उन्हें ५७ ई०-पू० के विक्रम का समकालीन मानने से इनकार करते रहे हैं, यद्यपि निश्चित परंपरा यही है । भाषा और शैली जैसे तथाकथित अंतस्साक्ष्यों और अनेक बहिस्साक्ष्यों के चक्कर में पड़कर कालिदास का समय यदि सदा के लिए असमाधेय-सा हो गया है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ! वेदों, रामायण, महाभारत, पुराणों तथा बाद के लेखकों और कृतियों के बारे में जो निस्संदिग्ध परंपरा-प्राप्त तिथि-क्रम मान्य होना चाहिए था, उसे एकबारगी अविश्वसनीय और निराधार घोषित कर पाश्चात्यों ने हमारे लिए जो समस्या उत्पन्न कर दी है उसका समाधान हमें नये सिरे से ढूंढ़ना है ।

तिथि-क्रम का यह अनिश्चय भी सामान्यतः छठीं शताब्दी के पहले के ही साहित्येतिहास में पाया जाता है । बाद के लेखक, जैसा स्वयं विंतरनित्ज ने ठीक ही कहा है,[५] बहुधा अपना और पिता तथा गुरु का नाम, अपने वंश तथा प्रतिपालक आदि का विवरण अपनी कृतियों में देते हैं । लेखक कभी-कभी रचना-काल का भी निर्देश करते हैं, यद्यपि साधारणतः वह प्रतिपालक नरेश के काल से ही निर्धारणीय होता है—यदि वही अज्ञात हो तो कठिनाई बनी रह जाती है, यद्यपि यह साहित्येतर इतिहास की अपूर्णता का परिणाम होता है ।

किंतु परंपरा की उपेक्षा से भी अधिक असेवा तो प्राचीन कवियों के विषय में प्रचलित किंवदंतियों की उपेक्षा के कारण हुई है । प्राचीन साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए

आधुनिक विद्वानों का एक वर्ग किंवदंतियों को कितना महत्त्व देता है, यह आगे यथास्थान निर्दिष्ट है। इन किंवदंतियों में कवि-विशेष के समय आदि की सूचना न भी मिले—बहुधा नहीं मिलती है—किंतु उसकी प्रतिभा, विशेषताओं और समसामयिक/प्राय अलोचकों के विचारों का विवरण रोचक रीति से सुरक्षित मिल जाता है। संस्कृत के प्राचीन विद्वानों और कवियों आदि के संबंध में असंख्य किंवदंतियाँ प्रचलित रही हैं, किंतु किसी ने उन्हें सावधानी से संगृहीत करने की आवश्यकता नहीं समझी है और अब हम उन्हें भूल चले हैं। यदि आज भी पुराने ढंग के संस्कृतज्ञों की सहायता से ऐसी किंवदंतियों का संकलन कराया जा सके, तो वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध होगा।

इन सभी के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के इतिहास की विपुल सामग्री प्राचीन सुभाषित-संग्रहों में वर्तमान है, जिनका मूल्य, इस दृष्टि से आँका ही नहीं गया है। ये संग्रह, आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा प्रयुक्त अर्थ में, 'कवि-वृत्त-संग्रह' ही हैं। जब प्राचीन परंपरा तथा गौण प्राचीन कवियों की कृतियों के नष्ट हो जाने की आशंका यहाँ के विद्वानों को हुई, तब उन्होंने सुभाषितों के ऐसे संग्रह तैयार किये, जिनमें मुख्यतः गौण कवियों की रचनाओं के दृष्टांत-स्वरूप छंद विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत सुरक्षित हो गये। यह दुर्भाग्य का विषय है कि ऐसे 'सरोजों' को, हिन्दी की तरह, इतिहास का रूप प्रदान करनेवाले आचार्य संस्कृत को नहीं मिले!

बारहवीं शताब्दी के पूर्व का कवीन्द्रवचनसमुच्चय,[७] जिसमें संकलित ५०० से अधिक छंदों के रचयिताओं में से कोई भी १००० ई० के बाद का नहीं है[८]; १३वीं शताब्दी के प्रारंभ में श्रीधरदास द्वारा संकलित सदुक्तिकर्णामृत[९], जिसमें ४८५ कवियों के विभिन्न-विषयक छंद हैं; इसी शताब्दी के मध्य के जल्हण की सुभाषितमुक्तावली[१०] अथवा सूक्तिमुक्तावली[१०]; १४वीं शताब्दी के मध्य की शार्ङ्गधरपद्धति[११]; १५वीं की सुभाषितावली, जिसमें ३५० से अधिक कवियों के ३००० से ऊपर छंद हैं—सुभाषित-ग्रंथों में, संस्कृत-साहित्येतिहास की दृष्टि से, विशेषतः महत्त्वपूर्ण हैं।

इन सुभाषित-ग्रंथों में जिन गौण कवियों के छंद संकलित हैं, उनका अपने समय में, और स्पष्ट ही बाद तक, सादर स्मरण किया जाता था, किंतु असाधारण वैशिष्ट्य और महत्त्व तथा मुद्रण के अभाव में इसकी संभावना नहीं थी कि वे बहुत बाद तक, कालिदासादि प्रमुख कवियों की तरह, अवशिष्ट रहते। अतः उनके कृतित्व की रक्षा स्फुट सुभाषितों के रूप में ही संभाव्य थी, और प्राचीन विद्वानों ने इस दिशा में श्लाघ्य प्रयास किये।

यहाँ ऐसे गौण कवियों की तालिका प्रस्तुत की जा रही है, जिनके छंद उपर्युक्त सदुक्तिकर्णामृत में संकलित हैं; तालिका में यह भी निर्दिष्ट है कि इनमें से किस कवि का समान छंद किस अन्य सुभाषित-संग्रह में भी संकलित है और यह भी कि आज अन्य स्रोतों से इनमें से किन गौण कवियों के समय, तथा जीवनी आदि संबंधी सूचनाएँ प्राप्य हैं:—

१। अचल—कवींद्रसमुच्चय (आगे क० से संकेतित); कोई सूचना नहीं (आगे न० से संकेतित)।

२। अचलदास—क०; न०।

३। अचलनृसिंह—क० (विना नामोल्लेख के); न०।

४। अचलसिंह—क०; न० ।
५। अज्झोक या अज्जोक—न० ।
६। अनङ्ग—न० ।
७। अनुरागदेव—न० ।
८। अपराजितरक्षित—क०; न० ।
९। अपिदेव—न० ।
१०। अभिनंद—क०; न० ।
११। अभिमन्यु—न० ।
१२। अमरसिंह—क०; न० ।
१३। अमरु या अमरुक—क०; प्रसिद्ध ।
१४। अमृतदत्त—सुभाषितावली (आगे सु० से संकेतित); न० ।
१५। अमोघ—न० ।
१६। अरविन्द—क०; न० ।
१७। अवन्तिवर्मा—सु०; कश्मीर-नरेश ८५५-८८४ ई० ।
१८। अंशुधर—न० ।
१९। आनन्दवर्धन—प्रसिद्ध ।
२०। आपदेव या अपिदेव—न० ।
२१। आर्याविलास—न० ।
२२। आवन्त्यकृष्ण—न० ।
२३। इन्द्रज्योति—न० ।
२४। इन्द्रदेव—न० ।
२५। इन्द्रशिव—न० ।
२६। ईश्वरभद्र—न० ।
२७। उत्पलराज—क०; ९३० ई० ।
२८। उदयादित्य—न० ।
२९। उद्भट—क०; न० ।
३०। उमापति या उमापतिधर—शार्ङ्गधरपद्धति (आगे शा० से संकेतित); गीतगोविन्द में उद्धृत; संभवतः श्रीधरदास के समसामयिक ।
३१। ऋक्षपालित—न० ।
३२। ओंकण्ठ—न० ।
३३। कक्कोल—न० ।
३४। कङ्कण—सु०; न० ।
३५। कपालेश्वर—न० ।
३६। कमलायुध—सु०; सूक्तिमुक्तावली (आगे सू० से संकेतित)
३७। कमलगुप्त—न० ।
३८। करञ्जधनञ्जय—न० ।
३९। करञ्जमहादेव—न० ।

४०। करञ्जयोगेश्वर—क०; न० ।
४१। कर्करज या कर्कराज—शा० ।
४२। कर्णाटदेव—न० ।
४३। कर्णोत्पल—शा०; न० ।
४४। कल्पदत्त—न० ।
४५। कविकुसुम—न० ।
४६। कविचक्रवर्त्ती—न० ।
४७। कविरत्न—शा०; सू०; सु०; न० ।
४८। कविराज—राजशेखर के पूर्वज ।
४९। कविराजसोम—न० ।
५०। कापालिक—न० ।
५१। कामदेव—न० ।
५२। कालिदास—क०; न० ।
५३। कालिदासनन्दी—न० ।
५४। कुञ्ज—न० ।
५५। कुञ्जराज—न० ।
५६। कुमारदास—क०; जानकीहरण के रचयिता ।
५७। कुलदेव—न० ।
५८। (श्री) कुलशेखर—सू०; न० ।
५९। कृष्ण—शा०; सु० ।
६०। कृष्णमिश्र—सु०; प्रबोधचन्द्रोदय के रचयिता ।
६१। केन्द्रनीलनारायण—न० ।
६२। केवट्टपीप—न० ।
६३। केशट या केशटाचार्य—न० ।
६४। केशर—न० ।
६५। केशरकोलीयनाथोक—न० ।
६६। केशव या केशवसेन या केशवसेनदेव—सेन-राज-वंश का ।
६७। कोक—न० ।
६८। कोङ्क—न० ।
६९। कोलाहल—न० ।
७०। क्षितीश—क०; न० ।
७१। क्षियंक—न० ।
७२। क्षेमेश्वर—सु०; न० ।
७३। गङ्गाधर—सु०; न० ।
७४। गणपति—सु० में पीटरसन ने (पृ०३३) लिखा है कि जल्हण की सू० में राजशेखर का एक श्लोक है जिसमें गणपति नामक एक कवि और उसकी कृति महामोह का उल्लेख है ।
७५। गणाध्यक्ष—न० ।

७६। गदाधर—न० ।

७७। गदाधरवैद्य या वैद्यगदाधर या वैद्य—इनके पुत्र वङ्गसेन ने ११वीं या १२वीं शताब्दी में चिकित्सासारसंग्रह लिखा ।

७८। गदाधरनाथ—न० ।

७९। गदाधरनारायण—न० ।

८०। गाङ्गोक—न० ।

८१। गुणाकरभद्र—न० ।

८२। गुरु—न० ।

८३। गोतिथीयदिवाकर—न० ।

८४। गोपीक या आचार्यगोपीक—न० ।

८५। गोपीचन्द्र—न० ।

८६। गोपोक—न० ।

८७। गोभट—सू०; न० ।

८८। गोवर्धन या आचार्य गोवर्धन—सू०; आर्यासप्तशती के रचयिता ।

८९। गोविन्द—न० ।

९०। गोविन्दस्वामी—सु०; शा०; न० ।

९१। गोशरण—न० ।

९२। गोसोक या गोशोक—न० ।

९३। ग्रहेश्वर—न० ।

९४। ग्लोब्द, संभवतः शुद्ध नाम उलोक या दुलोक—न० ।

९५। चक्रपाणि—न० ।

९६। चण्डमाधव—सु०; न० ।

९७। चण्डालचन्द्र—न० ।

९८। चन्द्रचन्द्र—न० ।

९९। चन्द्रज्योति—न० ।

१००। चन्द्रयोगी—न० ।

१०१। चन्द्रस्वामी—न० ।

१०२। चपलदेव—न० ।

१०३। चित्तप या छित्तप या क्षित्तप—दसवीं शताब्दी के भोज के समसामयिक ।

१०४। चूडामणि—संभवतः आनन्दराघव काव्य या नाटक, कमलिनीकलहंसनाटक और रुक्मिणीकल्याणनाटक के रचयिता ।

१०५। छित्तोक—न० ।

१०६। जनक—न० ।

१०७। जयदेव—प्रसिद्ध ।

१०८। जयनन्दी—न० ।

१०९। जयमाधव—सु०; न० ।

११०। जयवर्धन—सु०; काश्मीरवासी; समय के बारे में न०।

१११। जयङ्कर—न० ।

११२। जयादित्य—पीटरसन (सु०) के अनुसार वामन की काशिकावृत्ति के सह-लेखक।
११३। जयोक—न० ।
११४। जियोक, संभवतः ११३ ही —न० ।
११५। जलचंद्र—न० ।
११६। जह्नु—न० ।
११७। (आवन्तिक) जह्नु—न० ।
११८। जितारि—न० ।
११९। (वैद्य) जीवदास—न० ।
१२०। जीवबोध—न० ।
१२१। ज्ञानशिव—न० ।
१२२। ज्ञानाङ्कुर—न० ।
१२३। डिम्बोक या डिम्भोक या बिम्बोक—न० ।
१२४। तथागतदास—न० ।
१२५। तपस्वी—न० ।
१२६। तरणिक या तरलिक—न० ।
१२७। तरणिनन्दी—सु०; न० ।
१२८। तालहडीयरङ्क, शुद्ध रूप कदाचित् तालहडीयदङ्क या तालहडीयदङ्क ।
१२९। तिलचन्द्र—न० ।
१३०। तुङ्गोक—न० ।
१३१। तुतातित, ऑफ्रेक्ट (कैटेलगस कैटेलेगोरम) के अनुसार सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलस्वामी का नाम ।
१३२। तैलपाटीयगाङ्गोक—न० ।
१३३। त्रिपुरारि—न० ।
१३४। त्रिपुरारिपाल—न० ।
१३५। त्रिभुवनसरस्वती—न० ।
१३६। (वैद्य) त्रिविक्रम—न० ।
१३७। दक्ष—क०; शा०; न०।
१३८। दङ्क—न० ।
१३९। दण्डी—क०; सू०; काव्यादर्श के रचयिता ।
१४०। दत्त—न० ।
१४१। दनोक—न० ।
१४२। दशरथ—न० ।
१४३। दाक्षिणात्य—न० ।
१४४। दामोदर—क०; सु०; शा०; न० ।
१४५। (युवराज) दिवाकर—न० ।
१४६। दिवाकरदत्त—न० ।
१४७। दुर्गत—न० ।

१४८। दूनोक—१४१ संख्याक दनोक ।

१४९। देवबोध—सू०; शा०; ऑफ्रेख्त के अनुसार संभवतः ज्ञानदीपिका, महाभारततात्पर्य टीका और याज्ञवल्क्यस्मृति टीका के रचयिता ।

१५०। (आवन्तिक) द्रव्य—न० ।

१५१। द्वैपायन—न० ।

१५२। धज्जोक, शुद्ध रूप धञोक; न० ।

१५३। धनञ्जय—संभवतः ब्राह्मणसर्वस्व के रचयिता और लक्ष्मणसेन के प्रधान मंत्री हलायुध के पिता ।

१५४। धनपति—न० ।

१५५। धनपाल—न० ।

१५६। धरणीधर—क०; शा०; सू०; न० ।

१५७। धर्मकीर्त्ति—क०; सू०; छठीं या सातवीं शताब्दी के बौद्ध ।

१५८। धर्मपाल—न० ।

१५९। धर्मयोगेश्वर—संभवतः गौड देश के (वंगीय) कवि ।

१६०। धर्माशोक—सू०; न० ।

१६१। धर्माशोकदत्त, कदाचित् उपरिवत्—न० ।

१६२। धर्माकर—न० ।

१६३। धीतोक—न० ।

१६४। (भदन्त) धीरनाग—सु०; न० ।

१६५। धूर्जटि—न० ।

१६६। धूर्जटिराज, संभवतः उपरिवत्—न० ।

१६७। धोयीक—सू०; शा०; लक्ष्मणसेन के सभा-कवि; पवनदूत के रचयिता ।

१६८। नग्न—न० ।

१६९। नग्नाचार्य, संभवतः उपरिवत्;—न० ।

१७०। नटगाङ्गोक—न० ।

१७१। नरसिंह—न० ।

१७२। नवकर—न० ।

१७३। नाकोक—न० ।

१७४। नाचोक—न० ।

१७५। नान्यदेव—न० ।

१७६। नारायण, एकाधिक नारायण, संभवतः १७७ और १७८ एक ही ।

१७७। (काश्मीर नारायण)—न० ।

१७८। नारायणदास—न० ।

१७९। नारायणाब्धि, शुद्ध रूप नारायणलब्धि—न० ।

१८०। नाल—न० ।

१८१। नील—क०; न० ।

१८२। नीलपट्ट—न० ।

१८३। नीलाङ्क—न० ।

१८४। नीलाम्बर—न० ।

१८५। नीलोक—न० ।

१८६। नौलिक, संभवतः लौलिक—न० ।

१८७। पजोक—न० ।

१८८। पञ्चतन्त्रकृत्, विष्णुशर्मा—सु० ।

१८९। पञ्चमेश्वर, शुद्ध रूप परमेश्वर—न० ।

१९०। पञ्चाक्षर—न० ।

१९१। पण्डितशशी—न० ।

१९२। परमेश्वर—क०; न० ।

१९३। परशुराम, अनेक कवियों का नाम—न० ।

१९४(क)। परिमल—परमारराज मुंज (९७४-९९५ ई०) के पद्मगुप्तोपनामधारी सभा-कवि और नवसाहसाङ्कचरित के रचयिता ।

१९४(ख)। पशुपतिधर—दशकर्मपद्धति, श्राद्धपद्धनि आदि के रचयिता ।

१९५। पाणिनि—क०; सू०; वैयाकरण पाणिनि ही अथवा उनसे भिन्न, इसमें मतभेद ।

१९६। पादुक या पादूक—न० ।

१९७। पापाक—न० ।

१९८। पाम्पाक—न० ।

१९९। पायीक—न० ।

२००। पालित—न० ।

२०१। पिकनिकर—न० ।

२०३। पियाक—न० ।

२०४। पीताम्बर—न० ।

२०५। पुंसोक—न० ।

२०६। पुण्डरीक—न० ।

२०७। रत्नमालीय (पुण्ड्रोक) न० ।

२०८। पुरुषोत्तम—सु०; न० ।

२०९। पुरुषोत्तमदेव—क०; न० ।

२१०। पुरुसेन—न० ।

२११। पुरोक—न० ।

२१२। प्रजापति—न० ।

२१३। प्रद्युम्न—क०; शा०; पीटरसन (सु०) के अनुसार नवीं शताब्दी के बाद के नहीं ।

२१४। प्रभाकर—न० ।

२१५। प्रभाकरदत्त—न० ।

२१६। प्रभाकरमित्र—न० ।

२१७। प्रभाकरमित्र—न० ।

२१८। प्रवरसेन—पाँचवी शताब्दी के ।

२१९। प्रशस्त—सु०; न० ।

२२०। प्राज्ञभूतनाथ—न० ।
२२१। प्रियाक—न० ।
२२२। प्रियंवद—न० ।
२२३। बन्धसेन—न० ।
२२४। बलदेव—न० ।
२२५। बलभद्र—न० ।
२२६। बा०—क०; सू०; सु०; शा०; प्रसिद्ध ।
२२७। वाह्लीक—न० ।
२२८। बिन्दुशर्मा—न० ।
२२९। बिल्हण—सु०; सू०; शा०; ग्यारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध काश्मीरी कवि, विक्रमाङ्क-देवचरित के रचयिता ।
२३०। बीजक—न० ।
२३१। ब्रह्मनाग—न० ।
२३२। ब्रह्महरि—न० ।
२३३। भगवद्गोविन्द—न० ।
२३४। भगीरथ—क०; सू०; न० ।
२३५। भगीरथदत्त—न० ।
२३६। भङ्गुर—न० ।
२३७। भट्ट—सु०; सू०; न० ।
२३८। भट्टचूलितक—सु०; न० ।
२३९। भट्टनारायण—नवीं शताब्दी के; वेणीसंहार के रचयिता; प्रसिद्ध ।
२४०। भट्टवेताल या वेतालभट्ट—परंपरया विक्रम के नवरत्नों में से एक ।
२४१। भट्टशालीय पीताम्बर—न० ।
२४२। भट्टश्रीनिवास—न० ।
२४३। भर्तृमेण्ठ—शा०; सु०; संभवतः छठी शताब्दी के उत्तरार्ध के; काश्मीर-नरेश मातृगुप्त के समसामयिक ।
२४४। भर्तृहरि—सू०; सु०; संभवतः सातवीं शताब्दी के; शतकत्रय और वाक्यपदीय के रचयिता।
२४५। भर्वु—सु०; सू०; कदाचित् बाण के गुरु–'नमामि भर्वोश्चरणाम्बुजद्वयम् ।' (कादम्बरी)।
२४६। भवग्रामीणवायोक—न० ।
२४७। भवभीत—न० ।
२४८। भवभूति—क०; सु०; आठवीं शताब्दी के; प्रसिद्ध ।
२४९। भवानन्द—न० ।
२५०। भव्य—न० ।
२५१। भानु—न० ।
२५२। भामह—सातवीं शताब्दी के; काव्यालंकार के रचयिता ।
२५३। भारवि—छठीं शताब्दी के; किरातार्जुनीय के रचयिता; प्रसिद्ध ।
२५४ भावदेवी—क०; सू०; सु०; न० ।
२५५ भाष्यकार—सु०; शा०; न० ।

२५६। भास—सु; शा०; सू०; कालिदास के पूर्ववर्त्ती, स्वप्नवासवदत्ता आदि के रचयिता; यद्यपि समय तथा कृतियों के संबंध में बहुत मतभेद ।
२५७। भासोक—सु०; न० ।
२५८। भास्करदेव—न० ।
२५९। भिक्षु—शा०; न० ।
२६०। भूषण—न० ।
२६१। भृङ्गस्वामी—न० ।
२६२। भेरीभूमक—क०; न० ।
२६३। भोगकर्मा—सु० (सु० के भोगिवर्मा); न० ।
२६४। भोजदेव—शा०; ग्यारहवीं शताब्दी के ।
२६५। भ्रमरदेव—क०; सु०; न० ।
२६६। मकरन्द—सू०; न० ।
२६७। मङ्गल—शा०; न० ।
२६८। मङ्गलार्जुन—सू०; न० ।
२६९। मधु या धर्माधिकरणमधु—श्रीधरदास के समसामयिक, जैसा नाम से सूचित; न्यायाधीश; सू० श्रीधरदास के पिता बटुदास की प्रशंसा करते हैं ।
२७०। मधुकूट—क०; सु०; न० :
२७१। मधुकण्ठ—न० ।
२७२। मधुरशील—क०; सू०; न० ।
२७३। मनोक—क०; शा०; सु०; न० ।
२७४। मनोविनोद—क०; न० ।
२७५। मन्मोक—न० ।
२७६। मयूर—सू०; सातवीं शताब्दी के; सूर्यशतक के रचयिता ।
२७७। मलयज—न० ।
२७८। मलयराज—न० ।
२७९। महादेव—न० ।
२८०। महानिधि—न० ।
२८१। महानिधिकुमार—न० ।
२८२। महाकवि—क०; न० ।
२८३। महामनुष्य—सु०; सू०; न० ।
२८४। महाव्रत—क०; न० ।
२८५। महाशक्ति—न० ।
२८६। महिम्न—न० ।
२८७। महीधर—न० ।
२८८। महोदधि—क०; न० ।
२८९। माघ—६५०-७०० ई० के बीच के; शिशुपालवध के रचयिता; प्रसिद्ध ।
२९०। मातङ्गराज—न० ।
२९१। माधव—सु०; सू०; माधवनामधारी अनेक कवि; न० ।

२९२। मान्दोक—न० ।
२९३। मार्जार—क०; न० ।
२९४। मालोक—न० ।
२९५। (श्री) मित्र—न० ।
२९६। मुञ्ज—क०; शा०; सु०; सू०; दसवीं शताब्दी के अंत के; धारा-नरेश भोज के पूर्वाधिकारी ।
२९७। मुद्राङ्क—न० ।
२९८। मुरारि—क०; सू०; नवीं शताब्दी के आरंभ के; बालवाल्मीकि उपनामधारी; अनर्घराघव के रचयिता ।
२९९। मुष्टिक—न० ।
३००। मृगराज—क०; न० ।
३०१। मेधारुद्र—कालिदास का ही अन्य नाम माना जाता है, पर संदिग्ध ।
३०२। यज्ञघोष—न० ।
३०३। यशोधर्मा—सु०; आठवीं शताब्दी के; रामाभ्युदय नाटक के रचयिता ।
३०४। युवतीसम्भोगकार—न० ।
३०५। युवराज—सू०; युवराज प्रह्लादन और ये एक ही माने गये हैं; गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज में प्रकाशित पार्थपराक्रम व्यायोग के रचयिता ।
३०६। युवराजदिवाकर—न० ।
३०७। युवसेन—शा०; सू०; न० ।
३०८। योगेश्वर—भवानंद और वसुकल्प के द्वारा प्रशंसित; न० ।
३०९। योगोक—न० ।
३१०। रघुनन्दन—न० ।
३११। रजकसरस्वती—कवयित्री, न० ।
३१२। रत्नाकर—शा०; सु०; राजानकरत्नाकरवागीश्वर काश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा (८५५–८८४ ई०) के समकालीन, हरविजयकाव्य तथा वक्रोक्तिपञ्चाशिका के रचयिता ।
३१३। रथाङ्ग—क०; न० ।
३१४। रन्तिदेव—काव्यशास्त्र और कोष के रचयिता के रूप में इनके उल्लेख मिलते हैं; न० ।
३१५। रविगुप्त—सु०; सू०; चन्द्रप्रभाविजय काव्य के रचयिता; वात्स्यायन कामसूत्र की जयमङ्गला टीका में इनका तथा इनके काव्य का उल्लेख ।
३१६। रविनाग—न० ।
३१७। राक्षस—शा०; न० ।
३१८। राजकुब्जदेव—दे० कुब्जराज ।
३१९। राजशेखर—समय प्रायः ८८०-९२० ई०; काव्यमीमांसा, कर्पूरमञ्जरी आदि के रचयिता; प्रसिद्ध ।
३२०। राजोक—क०; शा०; न० ।
३२१। राम—न० ।
३२२। रामदास—शा०; न० ।

३२३। रुद्रट या रुद्र—शृङ्गारतिलक के रचयिता; पीटरसन के अनुसार काव्यालंकार के रचयिता; कृतियों के संबंध में विद्वानों में मतभेद ।
३२४। रुद्रनन्दी—न० ।
३२५। रूपदेव—न० ।
३२६। लक्ष्मणसेन—शा०; सेनवंश के बंगनरेश; श्रीधरदास के प्रतिपालक; प्रसिद्ध ।
३२७। लक्ष्मीधर—कदाचित् शार्ङ्गधर के भाई ।
३२८। (वाणीकुटिल) लक्ष्मीधर—न० ।
३२९। लङ्कदत्त—न० ।
३३०। लडहचन्द्र—न० ।
३३१। लड्डूक—सु०; शा०; न० ।
३३२। ललितोक—क०; न० ।
३३३। लोपामुद्राकवि—न० ।
३३४। लोष्टसर्वज्ञ—न० ।
३३५। लोलिक—न० ।
३३६। वङ्गाल—न० ।
३३७। वटेश्वर—न० ।
३३८। वनमाली—न० ।
३३९। वररुचि—सु०; शा०; सू०; पीटरसन के अनुसार वार्त्तिककार, किंतु मतभेद ।
३४०। वराह—ऑफ्रेख्त के अनुसार वराहमिहिर ।
३४१। वराहमिहिर—क०; छठी शताब्दी ।
३४२। वर्द्धमान—सू०; न० ।
३४३। वल्लन या वल्लण—न० ।
३४४। वल्लभ—सु०; सू; शा०; उत्प्रेक्षावल्लभ या भट्टवल्लभ से भिन्न; न० ।
३४५। वल्लाल सेन—शा०; लक्ष्मणसेन के पिता, दानसागर और अद्भुतसागर के रचयिता ।
३४६। वसन्तदेव—न० ।
३४७। वसुकल्प—क०; न० ।
३४८। वसुकल्पदत्त—न० ।
३४९। वसुन्धर—शा०; सू०; न० ।
३५०। वसुभाग—न० ।
३५१। वसुरथ—न० ।
३५२। वसुसेन—न० ।
३५३। वाक्कूट—क०; सू०; न० ।
३५४। वाक्कोक—न० ।
३५५। वाक्पति—क०; सु०; शा०; संभवतः वाक्पतिराज ।
३५६। वाक्पतिराज—क०; ७वीं-८वीं शताब्दी के, गौडवहु के रचयिता हर्षदेव के पुत्र, यशोवर्मा के समकालीन ।
३५७। वागुर—क०; न० ।
३५८। वाग्वीण—न० ।

३५९। वाचस्पति—क०; न० ।

३६०। वाच्छोक या वाछोक या वाञ्छोक;—न० ।

३६१। वाञ्छाक—उपरिवत्; न० ।

३६२। वातोक—क०; न० ।

३६३। वापीक—न० ।

३६४। वामदेव—न० ।

३६५। वामन—सू०; काश्मीरनरेश जयापीड (७७९-८१३ ई०) के मंत्रियों में से एक, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के रचयिता के रूप में प्रमाणित करने का भी प्रयत्न किया गया है।

३६६। वार्तिककार—पीटरसन के अनुसार वररुचि, आफ्रेक्त के मत में कुमारिलभट्ट।

३६७। वासुदेव—न० ।

३६८। वासुदेव सेन—न० ।

३६९। वासुदेव ज्योति—न० ।

३७०। वाहूट—न० ।

३७१। विकटनितम्बा—क०; राजशेखर द्वारा उल्लेख ।

३७२। विक्रमादित्य—कुछ विद्वानों के अनुसार छठीं शताब्दी के ।

३७३। विज्ञातात्मा—सु०; शा०; न० ।

३७४। वित्तपाल—सु०; न० ।

३७५। वित्तोक—क०; न० ।

३७६। विद्या, विद्याका, विज्जा या विज्जाका—क०; शा०; सु०; न० ।

३७७। विद्यापति—सु०; शा०; कर्ण नामक राजा के समकालीन ।

३७८। विधूक—न० ।

३७९। विनयदेव—क०; न० ।

३८०। विभाकर या विभाकर शर्मा—सु०; सू०; न० ।

३८१। विभोक—शा०; न० ।

३८२। विरिञ्चि—न० ।

३८३। विशाखदत्त—सु०; सू०; मुद्राराक्षस के रचयिता, प्रसिद्ध ।

३८४। विश्वेश्वर—न० ।

३८५। विष्णुहरि—न० ।

३८६। वीर—न० ।

३८७। वीरदत्त—न० ।

३८८। वीरभद्र—न० ।

३८९। वीरसरस्वती—न० ।

३९०। वीर्यमित्र—क०; सु०; सू०; न० ।

३९१। वेताल—वेतालभट्ट से भिन्न, वंगीय कवि; क्योंकि श्रीधरदास के पिता वटुदास की स्तुति करते हैं ।

३९२। वेतोक—न० ।

३९३। वेशोक—न० ।

३९४। वैद्यधन्य—क०; न० ।

३९५। वैनतेय—न० ।

३९६। व्याडि—आफ्रेख्त चार व्याडियों का उल्लेख करते हैं; न० ।

३९७। (कविराज) व्यास—श्रीधरदास के पिता वटुदास की स्तुति करते हैं, अतः सेनवंश के समय के कवि ।

३९८। (श्री) व्यासपाद—सू०; न० ।

३९९। शकटीयशबर—न० ।

४००। शङ्कर—न० ।

४०१। शङ्करदेव—न० ।

४०२। शङ्करधर—न० ।

४०३। शङ्कार्णव—न० ।

४०४। शघोक—न० ।

४०५। शतानद—क०; सु०; सू०; शा०; न० ।

४०६। शब्दार्णव—क०; कदाचित् पूरा नाम शब्दार्णव वाचस्पति ।

४०७। शरण, शरणदेव या चिरन्तनशरण—जयदेव समकालीन के रूप में उल्लेख करते हैं।

४०८। शर्व—न० ।

४०९। शाक्यरक्षित—न० ।

४१०। शाटोक—न० ।

४११। शाडिल्य—सु०; शा०; न० ।

४१२। शान्त्याकर—न० ।

४१३। शालवाहन—कुछ विद्वानों के अनुसार शकाब्द-संस्थापक ; न० ।

४१४। शालिकनाथ—न० ।

४१५। शालूक—न० ।

४१६। शिल्हण—सु०; शा०; काश्मीरनिवासी; शान्तिशतक के रचयिता ।

४१७। शिवस्वामी—क०; काश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के समकालीन ।

४१८। शिशोक—न० ।

४१९। शीलाभट्टारिका—सु०; सू०; शा०; संभवत ११वीं शताब्दी के भोज की समसामयिक ।

४२०। शुक्षोक—संभवतः शुङ्गोक; न० ।

४२१। शुङ्गोक—न० ।

४२२। शुभाङ्क—न० ।

४२३। शूद्रक—सु०; मृच्छकटिक के रचयिता प्रसिद्ध, कुछ विद्वान् इनके अस्तित्व में संदेह करते हैं और मानते हैं कि मृच्छकटिक भास के चारुदत्त का रूपांतर मात्र है और शूद्रक का नाम कल्पित है ।

४२४। शूल—न० ।

४२५। शूलपालि—न० ।

४२६। शृंगार—क०; न० ।

४२७। शैलसर्वज्ञ—न० ।

४२८। शोभांक—न० ।

४२९। श्यामज—सू०; सु०; क्षेमेन्द्र के द्वारा उल्लिखित ।

४३०। श्रीकण्ठ—क०; शा०; न० ।

४३१। श्रीधर—न० ।

४३२। श्रीधरनन्दी—क०; न० ।

४३३। श्रीपति—न० ।

४३४। संकेत—न० ।

४३५। संग्रामचन्द्र—न० ।

४३६। संग्रामदत्त—न० ।

४३७। संघमित्र—न० ।

४३८। संघश्री—क०; न० ।

४३९। संघश्रीमित्र—न० ।

४४०। सत्यबोध—न० ।

४४१। समन्तभद्र—न० ।

४४२। सरसीरुह—न० ।

४४३। सरस्वती—कवयित्री; न० ।

४४४। सरोरुह—न० ।

४४५। तीरभुक्तीय (सर्वेश्वर)—स्पष्टतः तिरहुतनिवासी; न० ।

४४६। साकोक—न० ।

४४७। सागर—न० ।

४४८। सागरधर—न० ।

४४९। साजोक—न० ।

४५०। साञ्चाधर या सञ्चाधर—संभवतः वंग-कवि; क्योंकि वटुदास की स्तुति करते हैं ।

४५१। साञ्जाननन्दी या साञ्भाननन्दी—न० ।

४५२। साम्पीक—न० ।

४५३। साहसांक—न० ।

४५४। सिद्धोक—न० ।

४५५। सिन्दूय—न० ।

४५६। सिल्हण—दे० शिल्हण ।

४५७। सुधाकर—न० ।

४५८। सुबन्धु—कीथ (संस्कृत सा० का० इ०) सातवीं शताब्दी का मानते हैं; वासवदत्ता के रचयिता; प्रसिद्ध ।

४५९। सुभट—दूताङ्गदछायानाटक के रचयिता; न० ।

४६०। सुरभि—क०; न० ।

४६१। सुरमूल—काश्मीरक; न० ।

४६२। सुवर्ण—न० ।

४६३। सुवर्णरेख—क०; न० ।

४६४। सुविमोक—न० ।

४६५। सुव्रत—न० ।

४६६। सुव्रतदत्त—न० ।

४६७। सूरि—न० ।

४६८। सूर्यधर—न० ।

४६९। सेन्तुत—न० ।

४७०। सेन्दुक या सेन्दूक—न० ।

४७१। सोढगोविन्द—न० ।

४७२। सोल्लोक—क०; सेल्हूक, सेल्होक, सोलूक, मोल्होक इन्हीं के भिन्न नाम-रूप प्रतीत होते हैं; न० ।

४७३। (श्री) हनुमत्—सू०; सु०; खण्डप्रशस्ति और हनुमन्नाटक के रचयिता; न० ।

४७४। हरि—न० ।

४७५। हरिश्चन्द्र—सदुक्तिकर्णामृत (५, २६, ५) के एक अज्ञात कवि के श्लोक में सुबन्धु और कालिदास के साथ उल्लेख ।

४७६। हरिदत्त—न० ।

४७७। हरिवंश—न० ।

४७८। श्रीहर्ष या कविपण्डित श्रीहर्ष—सू०; १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के; कन्नौज-नरेश जयचंद्र के समकालीन; नैषधीयचरित और खण्ड-नखण्डखाद्य के रचयिता ।

४७९। श्रीहर्षदेव—क०; सू०; सातवीं शताब्दी के; रत्नावली आदि के रचयिता और बाण, मयूर आदि के प्रतिपालक ।

४८०। हलायुध—सू०; लक्ष्मणसेन के महामात्य और फिर महाधर्माध्यक्ष; अनेक पुस्तकों के रचयिता, संप्रति केवल ब्राह्मणसर्वस्व प्राप्य ।

४८१। हृषीकेश—न० ।

४८२। हीरोक—न० ।

सदुक्तिकर्णामृत में जिन कवियों के छंद संगृहीत हैं, उनकी ऊपर प्रस्तुत तालिका[११] से संस्कृत के ज्ञात-गौण कवियों की संख्या का अनुमान-मात्र किया जा सकता है । अन्य समस्त सुलभ स्रोतों से ऐसे नाम संकलित किये जायँ, तो संख्या सहस्राधिक होगी और, यदि और कुछ नहीं, तो उनके एक और बहुधा एकाधिक छंद तो मिल ही जायेंगे । यह भी उल्लेखनीय है कि इनमें से अधिकांश का निश्चित समय ज्ञात न रहने पर भी उन्हें युग-विशेष में सहज ही रखा जा सकता है । तब संस्कृत साहित्य का वास्तविक इतिहास लिखा जा सकेगा, जिसमें समय-निर्धारण पर ही सारी शक्ति लगा देने के बदले प्रवृत्ति, शैली आदि की दृष्टि से अध्ययन की चेष्टा होगी ।

अब तक, निश्चय ही, संस्कृत साहित्य का परिपूर्ण इतिहास नहीं लिखा गया है; जो इतिहास-ग्रंथ हैं वे एकाङ्गी और आंशिक हैं । आफ्रेख्त, टामस, पीटरसन आदि ने गौण कवियों की तुलनात्मक तालिकाएँ तैयार की हैं, किन्तु उनका ध्यान भी समय-निर्धारण पर ही केंद्रित रहा है । इन कवियों का, युग-विशेष का प्रतिनिधित्व करनेवाले कवियों के रूप में, अध्ययन और मूल्यांकन नहीं किया गया है ।

संस्कृत के सुभाषित अपने आप में, आधुनिक अर्थ में साहित्येतिहास भले न हों, 'कवि-वृत्त-संग्रह' अवश्य हैं, यह जो हमारी स्थापना है, उसके अतिरिक्त इनमें और मौखिक परंपरा से प्राप्त असंख्य श्लोकों में, तथा अन्य प्रकार के प्राचीन ग्रंथों में भी, अनेकानेक कवियों के संबंध में बहुमूल्य विवरण विकीर्ण हैं। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं:—

(क) सूक्तिमुक्तावली में, राजशेखरविषयक उल्लेख:—

अकालजलदेन्दोः सा हृद्या वदनचन्द्रिका।
नित्यं कविचकोरैर्या पीयते न च हीयते॥
अकालजलदश्लोकैश्चित्रमात्मकृतैरिव।
जातः कादम्बरीरामो नाटके प्रवरः कविः॥
नदीनां मेकलसुता नृपाणां रणविग्रहः।
कवीनां च सुरानन्दश्चेदिमण्डलमण्डनम्॥
यायावरकुलश्रेणेर्हरियष्टेश्च मण्डनम्।
सुवर्णवर्णरुचिरस्तरलस्तरलो यथा॥

(ख) सुभाषितावली (१२६) में प्राचीन अनेक कवियों के अतिरिक्त विद्यापतिविषयक:—

वाल्मीकप्रभवेण रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजः
व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्रीविक्रमाङ्को नृपः।
भोजश्चित्तपविल्हणप्रभृतिभिः कर्णोपि विद्यापतेः
ख्यातिं यान्ति नरेश्वराः कविवरैः स्फारैर्न भेरीरवैः॥

(ग) शार्ङ्गधरपद्धति में कवयित्रियों के विषय में (धनदेव-रचित छंद में):—

शीलाविज्जामारुलामोरिकाद्याः काव्यं कर्तुं सन्ति विज्ञाः स्त्रियोपि।
विद्यां वेत्तुं वादिनो निर्विजेतुं विश्वं वक्तुं यः प्रवीणः स वन्द्यः॥

(घ) राजतरङ्गिणी में, शिवस्वामी, आनन्दवर्द्धन, रत्नाकर प्रभृति विषयक (५, ३४):—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

तथा वाक्पतिराज और भवभूतिविषयक (४,१४४):—

कविवाक्पतिराजश्री भवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥

किंबहुना, संस्कृत की तरह पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में भी इस प्रकार की साहित्येतिहास-संबंधी प्रभूत सामग्री तो है ही, साथ ही साथ एक प्रकार का साहित्येतिहास भी वर्त्तमान है।

टिप्पणियाँ

१। Sanskrit Grammar, Introduction, Leipzig, १८७९ (दूसरा संस्करण, १८८९)।

२। A History of Indian Literature, प्रथम भाग, Introduction, पृ० २५–२६ (कलकत्ता, १९२७)।

३। उपरिवत्, पृ० २७।

४। इस दिशा में डॉ० देवसहाय त्रिवेद ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है; दे० उनका 'भारतीय तिथि-क्रम', जिसके कुछ अंश 'साहित्य' में और कुछ 'दृष्टिकोण' में प्रकाशित हुए हैं।

५। उपरिवत्, पृ० ३०।
६। Bibliotheca Indica, कलकत्ता, १६१२, में F. W. Thomas द्वारा संपादित।
७। A History of Sanskrit Literature, A. B. Keith, Oxford, १६२८, पृ० २२२।
८। सं० रामावतार शर्मा, लाहौर, १६३३।
६। कीथ, पृ० २२२।
१०। सदुक्तिकर्णामृत, भूमिका, पृ० ३६।
११। स० P. Peterson, Bombay Sanskrit Series, 37, 1888.।
१२। सं० Peterson तथा Durgaprasada, Bombay Sanskrit Series, १८८६।
१३। आफ्रेख्त, टामस, पीटरसन ने जो तालिकाएँ प्रस्तुत की हैं, सामान्यतः उनकी और विशेषतः हरदत्त शर्मा की तालिका (सदुक्तिकर्णामृत की अँगरेजी भूमिका) के आधार पर।

अध्याय ४

साहित्यिक इतिहास की प्राचीन भारतीय परंपरा पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में

पालि भाषा में रचित दीपवंस, महावंस आदि पुस्तकों में भारत तथा लंका के राजनीतिक तथा धार्मिक इतिहास-संबंधी महत्त्वपूर्ण विवरण हैं और इन देशों के इतिहास के तिथि-क्रम के निर्धारण के लिए भी प्रचुर सामग्री है। रिज डेविड्स ने ठीक ही कहा है कि इन ग्रंथों में दिया गया तिथि-क्रम उनसे किसी दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं, जो सैकड़ों वर्षों बाद तक इंग्लैंड और फ्रांस में लिखी गई पुस्तकों में पाया जाता है।[1]

जहाँ तक साहित्यिक इतिहास के विवरण का प्रश्न है पालि-ग्रंथों में यह प्रचुर परिमाण में विकीर्ण है। उदाहरणार्थ, चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के धम्मकित्ति महासामी के सद्धर्म-संग्रह के नवम अध्याय में एकाधिक पूर्ववर्त्ती लेखकों और उनकी कृतियों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार पालि के दीपवंस, महावंस आदि अन्य दशाधिक वंश-ग्रंथों में बौद्ध साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण आचार्यों के नाम और उनकी कृतियों के विवरण प्राप्त होते हैं।

प्राकृत के सुभाषित संग्रहों में भी प्राकृत के अगणित गौण और विस्मृतप्राय कवियों की रचनाओं के उदाहरण प्राप्य हैं। हाल[2] की सत्तसई के एक टीकाकार ने, सत्तसई में जिन कवियों के उदाहरण संगृहीत हैं, उनकी संख्या ११२ बताई है और दूसरे, भुवनपाल, ने ३८४।

हाल के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से भी प्राकृत के ऐसे अनेक कवियों के नाम प्राप्त होते हैं, जिनकी कोई रचना आज प्राप्य नहीं हैं। राजशेखर के सट्टक कर्पूरमञ्जरी में हरिउड्ढ (हरि-वृद्ध), णन्दिउड्ढ (नन्दिवृद्ध) तथा पोट्टिस का उल्लेख विदूषक के द्वारा इस प्रकार हुआ है:—

'ता उज्जुअं जेव किं ण भणीअदि अम्हाणं चेडिआ हरिउड्ढणन्दिउड्ढपोट्टिसहालप्पहुदीणं पि पुरदो सुकईत्ति।'[3]

जयवल्लभ का जअवल्लहं अथवा वज्जालग्ग भी ऐसा ही प्राकृत संग्रह है। इसमें प्रायः ७०० प्राकृत छंद संगृहीत हैं। इनमें से अनेक हाल के संग्रह में भी हैं।

इसी प्रकार अपभ्रंश में भी साहित्यिक इतिहास की, या उसके लिए उपयोगी, प्रचुर सामग्री सुलभ है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

धवल कवि ने अपने महाकाव्य हरिवंश पुराण[4] के आरंभ में अनेकानेक प्राग्भावी कवियों तथा उनकी कृतियों का उल्लेख किया है:—

कवि चक्कवइ पुव्वि गुणवंतउ धीरसेणु हुंतउ णयवंतउ ।
पुणु सम्मत्तहं धम्म सुरंगउ जेण पमाण गंथु किउ चंगउ ।
देवणंदि बहुगुण जसभूसिउ जें वायरणु जिणिदं पयासिउ ।
वज्जसूउ सुपसिद्धउ मुणिवरु जें णयमाणुगंथु किउ सुंदरु ।
मुणि महेसणु सुलोयणु जेणवि पउमचरिउ मुणि रविसेणेण वि ।
जिणसेणे हरिवंसु पवित्तुवि जडिल मुणीण वरंगचरित्तु वि ।
दिणयरसेणें चरिउ अणंगहु पउमसेण आयरियइ पसंगहु ।
अंधसेणु जें अमियाराहणु विरइय दोस विवज्जिय सोहणु ।
जिण चंदप्पह चरिउ मनोहरु पावरहिउ धणमत्तु ससुंदरु ।
अण्गमि किय इंमांइ तुह पुत्तइ विण्हसेण रिसहेण चरित्तइं ।
सीहणंदि गुरवें अणुपेहा णरदेवेवेणवकांतु सुणेहा ।
दिद्धसेणु जें गेए आगउ भविय विणोउ पयासिउ चंगउ ।
रामणंदि जें विविह पहाणा जिणसासणि बहु रइय कहाणा ।
असगु महाकइ जेंसुमणोहरु वीर जिणिंदु चरिउ किउ सुंदरु ।
कित्तिय कहमि सुकइ गुण आयर गेय कव्व जहि विरइय सुंदरु ।
सणकुमारु जें विरयउ मणहरु कय गोविंद पवरु सेयंवरु ।
तह वक्खइ जिणरक्खिय सावउ जें जय धवलु भुवणि विक्खाइउ ।
सालिहद्दु कि कइ जीय उदेंदउ लोयइ चहुमुहुँ दोणु पसिद्धउ ।

नयनंदी के सकलविधिनिधान[१] नामक खंड-काव्य में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के अनेक प्राचीन और समसामयिक कवियों की नामावली प्राप्य है:—

मणु जण्ण वक्कु वम्मीउ वासु वररुइ वामणु कवि कालियासु ।
कोऊहलु वाणु मऊरु सूरु जिणसेण जिणागम कमल सूरु ।
वारायणवरणाउ विवियदड्ढु सिरि हरिसु राय सेहरु गुणदड्ढु ।
जसइंधु जए जयराम णामु जय देउ जणमणाणंद कामु ।
पालित्तउ पाणिणि पवरसेणु पायंजलि पिंगलु वीरसेणु ।
सिरि सिंहणंदि गुणसिंह भद्दु गुणभद्दु गुणिल्लु समंतभद्दु ।
अकलंकु विसम वाईय विहंडि कामद्दु रुद्दु गोविंद दंडि ।
भम्मुइ भारहि भरहुवि महंतु चउमुह सयंभु कइ पुप्फयंतु ।
सिरि चदु पहाचंदु वि विवुह गुण गण णंदि मणोहरु ।
कइ सिरि कुमारु सरसइ कुमरु कित्ति विलासिणि सेहरु ।

देवसेनगणि ने भी अपने खंड-काव्य सुलोचना चरिउ[१] में प्रसिद्ध पूर्ववर्त्ती कवियों का उल्लेख किया है:—

जहिं वम्मिय वास सिरि हरिसहिं ।
कालयास पमहइ कय हरिसहिं ।
बाण मयूर हलिय गोविंदहिं ।

चउमुंह अवर सयंभु कयंदहिं ।
पुप्फयंत भूवाल पहाणहिं ।
अवरेहि मि वहु सत्थ वियाणहिं ।
विरइयाइं कव्वइं णिसुणेप्पिणु ।
अम्हारिसह न रंजइ बुह यणु ।
हउ तहावि धिट्ठ पयासमि ।
सत्थ रहिउ अप्पउ आयासमि ।

बहुधा अपेक्षाकृत बाद के कवि पहले के कवियों की बहुत बड़ी नामावली प्रस्तुत करने की स्थिति में पाये जाते हैं । उदाहरणार्थ, अपभ्रंश के उत्तरकाल के कवि धनपाल के बाहुबलि-चरित[9] खंड-काव्य की यह सूची है, जिसमें "कवि ने अपने से पूर्वकाल के अनेक दर्शन, व्याकरणादि के विद्वानों का और कवियों का उल्लेख किया है । विद्वानों और कवियों के नामोल्लेख के साथ-साथ उनमें से अनेक के ग्रंथों का भी संकेत किया है":—

वाएसरि कीला सरय वास, हुअ आसि महाकइ भुणि पयास ।
सुअ पवणु, ड्डाविय कुमयरेणु कइ चक्कवट्टि सिरि धीरसेणु ।
महिमंडलि वण्णिउं विवुह विंदि, वायरण कारि सिरि देवणंदि ।
जइणेंद णामु जउ यण दुलक्खु, किउ जेण पसिद्धु सवाय लक्खु ।
सम्मत्तारु बुसु राय भव्वु, दंसण पमाणु वरु रयउ कव्वु ।
सिरि वज्ज सूरि गणि गुण णिहाणु, विरइउ मह छद्दसण पमाणु ।
महसेण महामइ विउ समहिउ, घण णाय सुलोयण चरिउ कहिउ ।
रविसेणे पउम चरित्तु वुत्तु, जिणसेणे हरिवंसु वि पवित्तु ।
मुणि जडिलि जडत्तणि वारणत्थु, णवरंग चरिउ खंडणु पयत्थु ।
दिणयरसेणें कंदप्प चरिउ, वित्थरिउ महिहिं णवरसहं भरिउ ।
जिण पास चरिउ अइसय वसेण, विरइउ मुणि पुंगव पउमसेण ।
अमियाराहण विरइय विचित्त, गणि अंवरसेण भवदोस चत्त ।
चंदप्पह चरिउ मणोहि रामु, मुणि विल्हुसेण किउ धम्म धामु ।
धणयत्त चरिउ चउवग्गसारु, अवरेहिं विहिउ णाणा पयारु ।
मुणि सीहणंदि सद्दत्थ वासु, अणुपेहा कय संकप्प णासु ।
णव यारणेहु णरदेववुत्तु, कइ असग विहिउ वीरहो चरित्तु ।
सिरि सिद्धि सेण पवयण विणोउ, जिणसेणें विरइउ आरिसेउ ।
गोविंदु कइंदे सणकुमारु, कह रयण समुद्दहो लद्धयारु ।
जय धवल सिद्ध गुण मुणिउंमेउ, सुय सालिहत्थु कइ जीवदेउ ।
वर पउम चरिउ किउ सुकइ सेढि, इय अवर जाय धरवलय पीढें ।
चउमुहुँ दोणु सयंभु कइ, पुप्फयंतु पुणु वीरु भणु ।
तेणाण दुमणि उज्जोय कर, हउ दीवो वमु हीणु गुणु ॥

कथा-विशेष के स्रोतों के अध्ययन की नवीन परिपाटी प्राचीन काल में किस प्रकार पूर्वाशित हुई है, इसका अपभ्रंश साहित्य में बहुत ही अच्छा उदाहरण मिलता है । देवसेन

गणि ने जिस सुलोचना चरिउ खंड-काव्य की रचना की है[८] उसकी कथा "जैन कवियों का प्रिय विषय रही है। आचार्य जिणसेन ने अपने हरिवंश पुराण में महासेन की सुलोचना-कथा की प्रशंसा की है। कुवलयमाला के कर्त्ता उद्योतन सूरि ने भी सुलोचना-कथा का निर्देश किया है। पुष्पदंत ने अपने महापुराण की २८वीं संधि में इसी कथा का विस्तार से सुंदर वर्णन किया है। धवल कवि ने अपने हरिवंश पुराण में रविषेण के पद्मचरित्र के साथ महासेन की सुलोचना-कथा का उल्लेख किया है। कवि ने अपने इस काव्य में कुंदकुंद के सुलोचना-चरित्र का उल्लेख किया है और कहा है कि कुंदकुंद के गाथाबद्ध सुलोचना-चरित्र का मैंने पद्धडिया आदि छंदों में अनुवाद किया है। न महासेन की सुलोचना-कथा और न कुंदकुंद का सुलोचना-चरित आजकल उपलब्ध है।"[९]

टिप्पणियाँ

१। T.W. Rhys Davids, Buddhist India, पृ० २७८।

२। हाल का समय वेबर के अनुसार, ईसा की तीसरी शताब्दी के पहले नहीं और सातवीं के बाद भी नहीं है, यद्यपि मैकडॉनेल के अनुसार १०० ई० है। यदि हाल आंध्र वंश के १७वें राजा, हाल-सातवाहन हों, तो उनका समय ६८ ई० होगा। याकोबी कवि हाल और प्रतिष्ठान-नरेश सातवाहन को एक मानता है, जो ४६७ ई० में वर्त्तमान था। कीथ इनका समय २००-४५० ई० के बीच मानता है।

३। प्रथम अंक।

४। अप्रकाशित; दे० इलाहाबाद युनिवर्सिटी स्टडीज, भा० १, १९२५; कैटलॉग ऑव संस्कृत एंड प्राकृत मैनस्क्रिप्ट्स इन द सी० पी० एंड बरार, नागपुर, १९२६; हस्तलिखित प्रति श्री दिगंबर जैन मंदिर बड़ा तेरह पंथियों का, जयपुर, में, जिसके आधार पर हरिवंश कोछड़ ने अपभ्रंश साहित्य में इसका सविस्तर विवरण दिया है, पृ० १०३।

५। अप्रकाशित; हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र-भंडार, जयपुर, में; कोछड़ ने विवरण दिया है, पृ० १७५।

६। अप्रकाशित; हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र-भंडार में, कोछड़ ने विवरण दिया है, पृ० २१६।

७। अप्रकाशित; हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र-भंडार में, कोछड़ ने विवरण दिया है, पृ० २३४।

८। अपभ्रंश साहित्य, पृपृ० २१६-१७।

९। अपभ्रंश साहित्य, पृ० २१७।

अध्याय ५

पाश्चात्य साहित्यिक इतिहास-दर्शन : प्राचीन और आधुनिक

साहित्यिक इतिहास क्या है ? इतिहास नामों की तालिका-मात्र नहीं है। वह केवल घटनाओं और तिथियों की भी सूची नहीं है। और, साहित्यिक इतिहास भी लेखकों की ऐसी तिथिमूलक तालिका नहीं है, जिसमें उनकी कृतियों का विवरण और सारांश-मात्र हो। साहित्यिक इतिहासकार के लिए यह तो आवश्यक है ही कि उसे प्राग्भावी साहित्य का पाठ सुलभ हो, क्योंकि साहित्यिक इतिहास तब तक लिखा ही नहीं जा सकता जब तक समृद्ध पुस्तकालय और सुव्यस्थित सूचीपत्र न हों; किंतु यदि साहित्यिक इतिहासकार चाहता है कि स्वयं उसकी कृति तिथिमूलक सूचीपत्र से कुछ अधिक और भिन्न हो, तो उसे कार्य-कारण-संबंध और सातत्य का ज्ञान, सांस्कृतिक परिवेश का कुछ बोध और उस व्यवस्था में यत्किंचित् प्रवेश होना ही चाहिए, जिसमें अंशीभूत कलाएँ अंगीभूत सभ्यता से संबद्ध रहती हैं। उसके साधन में स्थिति-स्थापकता आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय कारणत्व के बने-बनाये सिद्धान्तों का परिणाम केवल यही होता है कि समस्त सुलभ सामग्री कार्य-कारण की पहले से ही बनी धारणाओं के अनुरूप तोड़ी-मरोड़ी जाय। किंतु, दूसरी ओर साहित्यिक इतिहासकार के साधन इतने लचीले भी नहीं होने चाहिए कि प्रत्येक नवीन तथ्य के लिए एक सर्वथा भिन्न प्रकार का कारण प्रस्तुत हो जाय—एक लेखक की रचनाओं का समाधान तो उसे प्रभावित करनेवाली परंपरा से हो, दूसरे का उसकी व्यक्तिगत कुंठा से, तीसरे का उसके रचना-प्रदेश से और चौथे का युग-प्रवृत्ति से। जो इतिहासकार प्राप्य सामग्री को नवीन अवबोध और प्रकाश के साथ उपस्थित करना चाहते हैं, उनमें अनेकानेक परस्पर-भिन्न तत्त्वों के, अवधान और विवेक के साथ, उपयोग की क्षमता होनी चाहिए : विकास की अपनी परंपराओं और नियमों के साथ कलाएँ होती हैं; सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्व होते हैं; काल और स्थान से संबद्ध आकस्मिकताएँ रहती हैं; और ऐसी क्रियाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ होती हैं, जो सामान्यतः संस्कृति-मात्र और विशेषतः किसी लेखक की किसी रचना के निर्माण को निर्धारित करती हैं।

साहित्यिक इतिहासकार के पास पर्याप्त रूप से समृद्ध आन्वीक्षिकी रहनी चाहिए। तभी वह इन विभिन्न कारणभूत तत्त्वों का, विचारणीय प्रत्येक प्रवृत्ति और लेखक के प्रसंग में, उपयोग कर सकता है, और कभी एक प्रकार के कारण और कभी दूसरे पर बल दे सकता है, पर यह भूले बिना कि सरलतम सांस्कृतिक तथ्यों में भी कारणत्व की जटिलता वर्त्तमान रहती है। यदि साहित्यिक इतिहासकार कल्पना के उस जीवन की आढ्यता और विविधता के प्रति अन्याय करने से बचना चाहता है, जिससे साहित्य का उद्भव होता है, तो उदाहरण के लिए

निर्देश किया जा सकता है, उसे प्रेम और ज्ञान, श्रेण्य और रूमानी आदि परस्पर व्यावर्तक विभावन-युग्मों के बीच कठोर विरोध मान कर साहित्यिक प्रवृत्तियों को, इन युग्मों के बीच सरल परिवृत्ति के रूप में, निरूपित करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए ।

साहित्य का इतिहास, अधिक व्यंजक रूप होगा साहित्यिक इतिहास, जरूरी है कि साहित्यिक भी हो और इतिहास भी । किंतु क्या यह संभव है ? क्या ऐसा होता है ? कुछेक ही आधुनिक विद्वानों ने इन समस्याओं पर विशद रूप से विचार किया है ।[१]

होता तो यही है कि साहित्य का इतिहास सामाजिक इतिहास, अथवा साहित्य में व्यक्त तथा उदाहृत विचारों का इतिहास, अथवा काल-क्रम से उल्लिखित विशिष्ट कृतियों के संबंध में भावनाओं तथा निर्णयों का इतिहास-मात्र होता है । पश्चिम के उन्नीसवीं शताब्दी के और हिंदी के वर्त्तमान साहित्यिक इतिहास-शास्त्र को सरसरी निगाह से देखने पर भी इस कथन का पूर्ण समर्थन हो जाता है । पश्चिम के विभिन्न साहित्यों के इतिहासों तथा हिंदी-साहित्य के इतिहास का विवेचन करते हुए हमने इस पर पूरा प्रकाश डाला है ।

इसके विपरीत विद्वानों का एक वर्ग है जो मानता है कि साहित्य प्रथमतः और प्रधानतः एक कला है, किंतु उनकी कठिनाई यह है कि वे इतिहास नहीं लिख पाते ! वे अलग-अलग लेखकों पर परस्पर असंबद्ध निबंध प्रस्तुत करते हैं, और उनकी चेष्टा होती है कि विवेचित लेखकों को प्रभावित करनेवाले स्रोतों से निबंधों को शृंखलित कर दें, किंतु यह स्पष्ट है कि उनमें वास्तविक ऐतिहासिक विकास के विभावन का अभाव रहता है । अँगरेजी के इधर के साहित्यिक इतिहासकारों में अतिशय महत्त्व के अधिकारी, ओलिवर एल्टन, ने स्पष्ट ही कहा है कि उनकी कृति 'वस्तुतः एक समीक्षा है, एक प्रत्यक्ष आलोचना,' न कि एक इतिहास ।[२] जार्ज सेंट्सबेरी ने भी यद्यपि कहने को लिखा है इतिहास[३] ही, तथापि वह उस अर्थ में 'परिशंसा'[४] ही है, जिस अर्थ में वाल्टर पेटर ने उसका उद्भावन और प्रयोग किया है । जिन कुछेक विद्वानों नें सिद्धांत रूप में स्पष्टतः यह प्रतिज्ञा की भी है कि वे साहित्य को एक कला मान कर उसका इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं, वे भी व्यवहार में उन्हीं सरणियों में से किसी एक पर चले हैं, जिन पर सामान्यतः साहित्यिक इतिहासकार चलते आये थे । उदाहरणार्थ, एडमंड गॉस[५] कहते तो हैं कि वे 'अँगरेजी साहित्य की गति' निरूपित करेंगे और 'अँगरेजी साहित्य के विकास की भावना' प्रदर्शित करने की चेष्टा करेंगे, किंतु व्यवहारतः उनकी पुस्तकों में विभिन्न लेखकों और तिथिक्रमानुसार निर्दिष्ट इनकी कुछ कृतियों पर व्यक्त विचार ही मिलते हैं[६]। गॉस ने बाद में स्वीकार भी किया था कि वे सेंट बूव से बहुत ही प्रभावित हुए थे, जो जीवनीमूलक शब्दांकन में परम निपुण थे ।[७] अस्तु, तात्पर्य यह है कि अधिकतर साहित्य के इतिहास या तो सभ्यता के इतिहास हैं या आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह ।

कला के रूप में साहित्य के विकास के निर्धारण का, बड़े पैमाने पर, नहीं के बराबर प्रयास हुआ है, तो इसके अनेक समझ में आ सकनेवाले कारण हैं । एक तो यह है कि कलात्मक कृतियों का प्रारंभिक विश्लेषण क्रमिक तथा सुशृंखल रूप से नहीं हुआ है । साहित्य-शास्त्र ने अभी ऐसी पद्धतियों का आविष्कार नहीं किया है, जिनके सहारे हम किसी कला-कृति को संकेतों की प्रणाली के रूप में वर्णित कर सकें । हम या तो परंपरागत

साहित्यशास्त्रीय निकष से ही संतुष्ट हो जाते हैं, जो बाहरी और ऊपरी कौशल पर ही अधिक ध्यान देने के कारण सर्वथा अपर्याप्त है, या पाठक पर कला-कृति-विशेष के प्रभावों के वर्णन के लिए हम ऐसी भाषा का इस रूप में व्यवहार करते हैं, जो कृति से अंतस्संबद्ध होने में असमर्थ है ।

दूसरा कारण यह पूर्वाग्रह है कि साहित्यिक इतिहास संभव ही नहीं है, यदि किसी अवांतर मानवीय क्रिया के माध्यम से हेतुकी व्याख्या न की जाय । तीसरी कठिनाई है साहित्य-कला के विकास के संपूर्ण आधान को लेकर । पश्चिम में, जहाँ इतिहासशास्त्र का स्वतंत्र विकास हुआ है, चित्र-कला या संगीत-कला के आभ्यंतर इतिहास की संभावना में शायद ही किसी को संदेह हो । उदाहरण के लिए, यदि हम किसी चित्र-दीर्घा में जायँ तो हमें चित्र काल-क्रमानुसार या वादों की दृष्टि से टँगे हुए मिलते हैं और यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्र-कला का एक ऐसा इतिहास है जो चित्रकारों के इतिहास या पृथक्-पृथक् चित्रों के परिशंसन या मूल्यांकन से सर्वथा भिन्न है । यह स्थिति, अवश्य पश्चिम में ही, संगीत-कला की भी है । जब संगीत-लेख कालक्रमानुसार प्रस्तुत किये जाते हैं, तब संगीत का ऐसा इतिहास स्पष्ट हो जाता है, जिसका कोई संबंध न तो संगीतकारों की जीवनियों से रहा है, न उन सामाजिक परिस्थितियों से, जिनमें संगीत-कृतियाँ तैयार हुईं, न अलग-अलग कृतियों के परिशंसन से । चित्र-कला, मूर्त्ति-कला और संगीत-कला के ऐसे इतिहास बहुत दिनों पहले से ही पश्चिम में लिखे जाते रहे हैं और पश्चिमी विद्वानों के द्वारा भारतीय चित्र और मूर्त्ति-कला के भी ऐसे कुछ इतिहास लिखे गये हैं, और कुछ उनके दिखाये रास्ते पर चलनेवाले बाद के भारतीय विद्वानों के द्वारा भी ।

साहित्यिक इतिहास की समस्या है कि साहित्य का एक कला के रूप में ऐसा इतिहास लिखा जाय, जो यथासंभव सामाजिक इतिहास, लेखकों की जीवनियों, या अलग-अलग कृतियों के परिशंसन से अलग हो । इस सीमित अर्थ में साहित्यिक इतिहासकार की अपनी कठिनाइयाँ हैं । एक चित्र-कृति की तुलना में, जिसे एक नजर में देखा जा सकता है, साहित्य की कोई कला-कृति कालानुक्रम द्वारा ही प्राप्य है । फलतः उसे अखंड इकाई के रूप में ग्रहण करना कठिन हो जाता है, हालाँकि संगीत-कृति के साम्य के आधार पर यह भी मानना पड़ेगा कि कालानुक्रम में ही अवधारणीय होने पर भी एक परिरूप (पैटर्न) संभव तो है ही ।

खास तरह की कठिनाइयाँ और भी हैं । चूँकि साहित्य का माध्यम, भाषा, दैनंदिन भाव-प्रेषण का भी माध्यम है, और विशेषरूप से विभिन्न शास्त्रों और विज्ञानों का भी, इसलिए उसमें सामान्य कथनों से होते हुए अतिशय संघटित कला-कृति तक क्रमिक रूप से परिणति होती है । परिणामतः एक साहित्यिक कृति के कलात्मक संस्थान को अलग करना अपेक्षया कठिनतर कार्य है । किंतु यहाँ भी उत्तर यह हो सकता है कि किसी चिकित्सा-शास्त्र-विषयक पुस्तक में भी तो चित्र रहता है और प्रयाण-गीत जैसी चीज भी तो होती है, जिनसे प्रमाणित होता है कि अन्य कलाओं के भी सीमा-रेखीय पक्ष होते हैं और कि शब्दाश्रित कृति में कला और अकला का भेद करने की कठिनता केवल परिमाणतः ही अधिक है ।

और कुछ ऐसे विचारक भी हैं, जो मानते ही नहीं कि साहित्य का भी कोई इतिहास होता है या हो सकता है । शोपेनहार का कहना था कि कला सदैव अपने लक्ष्य तक पहुँची है,

इसकी कभी उन्नति नहीं होती, यह पीछे नहीं छोड़ी जा सकती और न इसकी पुनरावृत्ति ही संभव है । डब्लू० पी० कर के मतानुसार साहित्यिक इतिहास की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि इसके विषय सदैव विद्यमान हैं, 'सार्वकालिक' हैं, जिसके कारण उनका कोई इतिहास हो ही नहीं सकता ।[५] टी० एस० एलियट तो कला-कृति की 'अतीतता' ही अस्वीकृत कर देते हैं । उनका कहना है कि "होमर से लेकर समस्त यूरोपीय साहित्य का यौगपदिक अस्तित्व है और वह एक यौगपदिक क्रम का निर्माण करता है ।"[६] इस दृष्टिकोण के विद्वानों के मत का निष्कर्ष है कि साहित्यिक इतिहास सही अर्थ में इतिहास है ही नहीं, क्योंकि यह वर्त्तमान का, सार्वभौम का, शाश्वत का ज्ञान है । यह ठीक है भी कि राजनीतिक इतिहास और कला के इतिहास में थोड़ा वास्तविक अंतर है । जो ऐतिहासिक है और अतीत है तथा जो ऐतिहासिक होने के बावजूद किसी-न-किसी तरह वर्त्तमान है, उनमें भेद तो है ही ।

वस्तु-स्थिति यह है कि कोई भी कला-कृति इतिहास के अनुक्रम में अपरिवर्त्तित नहीं रहती । यह ठीक है कि उसके रचन का बहुलांश विभिन्न युगों में अक्षुण्ण रह जाता है, किंतु यह रचन गत्यात्मक होता है, पाठकों, आलोचकों और अन्य कलाकारों की प्रज्ञा से पारित होता हुआ, इतिहास की प्रक्रिया के बीच, परिवर्त्तित होता रहता है । व्याख्या, आलोचना और परिशंसन की प्रक्रिया कभी पूर्णतः रुद्ध नहीं हुई है और भविष्य में भी अनंत काल तक चलती रहेगी—तब तक तो अवश्य ही जब तक सांस्कृतिक परंपरा का ही पूर्णतः अवरोध नहीं हो जाता । हम मानते हैं कि साहित्यिक इतिहासकार के कर्त्तव्यों में से एक यह है कि वह इस प्रक्रिया का वर्णन प्रस्तुत करे । एक ही लेखक की कृति होने अथवा एक ही प्रकार, या समान शैलीगत कोटि, या एक ही भाषागत परंपरा के होने के कारण बड़े या छोटे वर्गों में, और अन्ततः सार्वभौम साहित्य की योजना के अभ्यंतर, व्यूहित कला-कृतियों के परिणमन का निर्धारण करना साहित्यिक इतिहासकार का दूसरा कर्त्तव्य है ।

किंतु कला-कृतियों की किसी श्रेणी के विकास का अध्ययन परम दुष्कर कार्य है । ऊपर से देखने पर, अर्थ-विशेष में, प्रत्येक कला-कृति प्रतिवेशी कला-कृति से असंबद्ध रचन है । यह कहा जा सकता है कि एक से दूसरे में परिणमन होता ही नहीं । तभी तो यहाँ तक कहा गया है कि साहित्य का इतिहास नहीं होता, केवल साहित्य के रचयिताओं का होता है ।[७] लेकिन तब तो, इसी तर्क के अनुसार, हम भाषा का इतिहास नहीं लिख सकते, क्योंकि मनुष्य शब्द बोलते भर हैं, और दर्शन का इतिहास इसलिए नहीं लिख सकते, क्योंकि मनुष्य सोचते भर हैं । इस प्रकार की ऐकांतिक व्यक्तिवादिता का परिणाम यह होगा कि प्रत्येक कला-कृति को सर्वथा निरपेक्ष मानना पड़ेगा, जिसका व्यावहारिक अर्थ इसके सिवा क्या हो सकता है कि प्रत्येक कला-कृति असंवेद्य और अनवबोध्य हो जाएगी । अतः हमें साहित्य की कृतियों को ऐसी संपूर्ण प्रणाली के रूप में विभावित करना होगा, जो नवीन कृतियों के संचयन के कारण अपने संबंधों को निरंतर परिवर्त्तित करती रहती है, और परिवर्त्तमान संपूर्णता के रूप में विकसित होती चलती है ।

किंतु एक वास्तविक ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया स्थापित करने के लिए यह तथ्य ही पर्याप्त नहीं कि एक दशाब्दी या शताब्दी पहले की तुलना में काल-विशेष की साहित्यिक

परिस्थिति परिवर्तित हो गई है । ऐसा इसलिए क्योंकि परिवर्त्तन की विभावना किसी भी प्राकृतिक गोचरवस्तु की श्रेणी पर लागू है । इसका अर्थ-मात्र निरंतर नवीन किंतु निरर्थक एवं अनधिगम्य पुनर्व्यूहन भी हो सकता है । एफ्० जी० टेगार्ट ने अपनी पुस्तक 'इतिहास का सिद्धांत'[१०] में परिवर्त्तन के अध्ययन का समर्थन किया है. किंतु उसका अर्थ होगा कि ऐति-हासिक और प्राकृतिक प्रक्रियाओं के सारे अंतर विस्मृत कर दिये जायँ, और इतिहासकार को प्राकृतिक विज्ञान का अधमर्ण मान लिया जाय । अगर ये परिवर्त्तन पूर्णतः नियत रूप में घटित होते, तब हम पदार्थशास्त्री के समान नियम की विभावना कर पाते, किंतु स्पेंग्लर और टॉयनबी जैसे महामतिमान् इतिहासकारों की चमत्कारक्षम उद्भावनाओं के बावजूद सत्य यह है कि किसी ऐतिहासिक प्रक्रिया में एवंविध अग्रनिरूप्य परिवर्त्तन आज तक आविष्कृत हुए नहीं हैं ।

परिणमन का अर्थ परिवर्त्तन या नियत तथा अग्रनिरूप्य परिवर्त्तन से भी कुछ भिन्न और कुछ अधिक होता है । जैविकी में विकास की एक दूसरे से सर्वथा भिन्न विभावनाएँ हैं : पहली है वह प्रक्रिया, जो अंडे के चिड़िए के रूप में वर्धन के द्वारा उदाहृत होती है, और दूसरी है वह विकास, जिसका दृष्टांत है मछली के मस्तिष्क का मनुष्य के मस्तिष्क के रूप में बदलना ।

यहाँ दूसरे दृष्टांत में, यह स्पष्ट ही है कि वस्तुतः मस्तिष्क की किसी श्रेणी का कभी परणमन नहीं होता, बल्कि 'मस्तिष्क' इस विभावनिक प्रणिधान का ही होना है, जिसकी परि-भाषा उसके व्यापार की दृष्टि से की जा सकती है ।

प्रश्न यह है कि क्या इन दोनों में से किसी अर्थ में साहित्यिक विकास की बात कही जा सकती है । फर्डिनेंड ब्रुनेतिएर[११] और जान ऐडिङ्टन सिमंड्स[१२] के मतानुसार दोनों अर्थों में साहित्यिक विकास की बात कही जा सकती है । दोनों की मान्यता थी कि प्रकृति में पाई जानेवाली प्राणि-जातियों के साम्य पर साहित्यिक रूपों की भी बात की जा सकती है । ब्रुनेतिएर का कहना था कि साहित्य के रूप जब एक बार परिपूर्णता की एक विशेष सीमा तक पहुँच जाते हैं, तो वे सूखने और कुम्हलाने लगते हैं और अंत में लुप्त हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त साहित्यिक रूप उच्चतर तथा और अधिक पृथग्भूत रूपों में उसी प्रकार परि-वर्तित हो जाते हैं जिस प्रकार डार्विनीय विकास के विभावन में प्राणि-जातियाँ । पहले अर्थ में 'विकास' शब्द का व्यवहार एक कौतूहलवर्धक रूपक से अधिक कुछ नहीं है । ब्रुनेतिएर के अनुसार, उसके सिद्धांत का दृष्टांत फ्रांसीसी त्रासदी (ट्रेजेडी) में मिलता है—वह जनमी, बढ़ी, बिगड़ी और मर गई । लेकिन फांसीसी त्रासदी के जनमने-मरने की कल्पना का आधार वस्तुतः इतना भर है कि फ्रांसीसी भाषा में योदेले (Jodelle) के पूर्व त्रासदियाँ नहीं पाई जातीं और वाल्तेयर के बाद, ब्रुनेतिएर के आदर्श के अनुरूप, वे लिखी न गईं । किंतु इसकी तो संभावना है ही कि भविष्य में फ्रांसीसी भाषा में कोई महान् त्रासदी लिखी जा सकती है । ब्रुनेतिएर के अनुसार, रेसीन (Racine) की त्रासदी, फेद्रे, उस फ्रांसीसी त्रासदी के ह्रास की पहली कड़ी है, जो वार्धक्य को प्राप्त हो चुकी थी; किंतु आज के युग में तो, पुनर्जागरण-युग की उन पंडिताऊ त्रासदियों की तुलना में, ये नई और ताजा ही मालूम पड़ती हैं, जिन्हें ब्रुनेतिएर ने फ्रांसीसी त्रासदी के 'यौवन' का प्रतिनिधि माना है । और यह उद्भावना कि साहित्यिक रूप दूसरे साहित्यिक रूपों में बदल जाते हैं और भी अयौक्तिक है । उदाहरण के लिए, ब्रुनेतिएर का यह कहना कि श्रेण्य युगों की धार्मिक वक्तृता का ही रूमानी गीति-काव्य

में विपर्यास हो गया, वास्तविक परिवृत्ति का प्रमाण नहीं है; हम ज्यादा-से-ज्यादा यही कह सकते हैं कि वे ही या समान मनोराग पहले वक्तृता और फिर गीति-कविता में अभिव्यक्त हुए थे, या कि दोनों के द्वारा एक ही या समान सामाजिक उद्देश्य की पूर्त्ति हुई।

इस प्रकार साहित्य के परिणमन और जन्म से मृत्यु तक की विकासमूलक प्रक्रिया के जैविक साम्य को, जिसे स्पेंग्लर और टाय्नबी ने इधर पुनरुज्जीवित किया है, अस्वीकार्य मानते हुए भी, ऐसा दीख पड़ता है कि दूसरे अर्थ में 'विकास' ऐतिहासिक विकास के यथार्थ विभावन के निकट है। वह मानता है कि परिवर्त्तनों की श्रेणी मात्र का नहीं, अपितु इस श्रेणी के किसी लक्ष्य का निरूपण आवश्यक है। श्रेणी के विभिन्न अंश लक्ष्य की उपलब्धि के लिए आवश्यक साधन होते हैं। किसी निश्चित लक्ष्य (उदाहरणार्थ, मनुष्य का मस्तिष्क) के प्रति विकास का विभावन परिवर्त्तनों के श्रेणी-विशेष को आरंभ और अंत से युक्त एक यथार्थ सातत्य में परिणत कर देता है। फिर भी यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जैविक विकास के दूसरे अर्थ और वास्तविक अर्थ में 'ऐतिहासिक विकास' के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर है। जैविक से पृथक् ऐतिहासिक विकास को समझने के लिए हमें, जैसे भी हो, इस बात में सफलता प्राप्त करनी होगी कि ऐतिहासिक घटना की विशिष्टता सुरक्षित रहे और साथ ही ऐतिहासिक प्रक्रिया क्रमिक किंतु असंबद्ध घटनाओं का संग्रह-मात्र न बन जाय।

इसका समाधान इस बात में है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया को किसी मूल्य या आदर्श (norm) से संबद्ध किया जाय। केवल तभी घटनाओं की ऊपर से निरर्थक लगनेवाली श्रेणी अपने तत्त्वभूत उपकरणों में विभक्त हो सकती है। ऐसी स्थिति में ही हम एक ऐसे ऐतिहासिक विकास की बात कर सकते हैं, जो घटना-विशेष की वैयक्तिकता को अक्षुण्ण रहने दे। एक विशिष्ट यथार्थता को सामान्य मूल्य से संबद्ध कर, हम विशिष्ट को सामान्य विभावन के दृष्टांत के स्तर पर उतार नहीं लाते, बल्कि विशिष्ट को महत्त्व प्रदान करते हैं। इतिहास केवल सामान्य मूल्यों का विशेषीकरण नहीं करता, इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह असंबद्ध, निरर्थक विपर्यस्तता है—इसके विपरीत ऐतिहासिक प्रक्रिया मूल्य के निरंतर नये रूपों को उत्पन्न करती है, जो पहले ज्ञात और अग्रनिरूप्य नहीं थे। इस प्रकार मूल्यों के शिक्य के साथ विशिष्ट कृति की जो सापेक्षता है, वह इसके आवश्यक अंतस्संबंध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परिणमनों की श्रेणी का निर्माण मूल्यों या रूपों की योजना के प्रसंग में निर्मित करना आवश्यक है, किंतु ये मूल्य स्वयं इस प्रक्रिया के चिंतन से ही आविर्भूत होते हैं। यहाँ स्वीकार करना पड़ेगा कि एक तर्क-वृत्त बन गया है: ऐतिहासिक प्रक्रिया का निर्णय मूल्यों से करना पड़ेगा, जब कि मूल्यों का शिक्य ही इतिहास से प्राप्त होता है! किंतु इससे बचना संभव नहीं है, अन्यथा हमें या तो परिवर्त्तन की निरर्थक विपर्यस्तता के भाव से संतोष कर लेना पड़ेगा, या फिर साहित्येतर प्रतिमानों को व्यवहृत करना पड़ेगा—ऐसे प्रतिमानों का, जो साहित्य की प्रक्रिया के बाहर के हैं।

साहित्यिक विकास की समस्या का यह विवेचन अनिवार्यतः प्रणिधानात्मक हो गया है। हमारा प्रयास यह सिद्ध करना रहा है कि साहित्य का विकास जैविक से भिन्न है, और कि किसी एक शाश्वत आदर्श की ओर समान रूप से अग्रसर होने के भाव से इसका कोई संबंध नहीं है। इतिहास मूल्यों की परिवर्त्तमान योजनाओं के प्रसंग में ही लिखा जा सकता है,

और इन योजनाओं को स्वयं इतिहास से प्राप्त किया जा सकता है। हम इसके उदाहरण के रूप में उन समस्याओं में से कुछेक को ले सकते हैं, जो साहित्यिक इतिहास की समस्याएँ हैं।

कला-कृतियों के अतिशय स्पष्ट संबंध—उनके स्रोत और प्रभाव — बहुधा निरूपित होते हैं और ये ही परंपरागत वैदुष्य के आधार बने रहे हैं। इस प्रकार के साहित्यिक इतिहास के लेखन में विभिन्न कृतियों के रचयिताओं के बीच साहित्यिक संबंध स्थापित करना आवश्यक होता है, उससे चाहे सीमित अर्थ में साहित्यिक इतिहास लिखा जा सके या नहीं। रेमांड हैवेन्ज की एक पुस्तक है Milton's Influence On English Poetry।[13] इसमें उसने मिल्टन के प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिए विशद प्रमाण एकत्र किये हैं। उसने न केवल मिल्टन के उन विचारों का ही निर्देश किया है जो अट्ठारहवीं शताब्दी के अँगरेजी के कवियों में पाये जाते हैं, बल्कि इस युग की कृतियों के सावधान अध्ययन के बाद समानताओं का भी विश्लेषण किया है। इसके बाद से समानताओं के अन्वेषण की प्रणाली विद्वानों के बीच खूब ही प्रचलित हुई, यद्यपि इधर उसका व्यापक विरोध हुआ है। इस प्रणाली में तब तो खतरे बहुत ही बढ़ जाते हैं, जब अनुभव-रहित अध्येता इसका उपयोग करने लगते हैं। पहली बात है कि समानताएँ सचमुच समानताएँ हों, निरी अस्पष्ट सदृशताएँ न हों, जिन्हें गुणित करके प्रमाण-सिद्ध कर दिया गया हो। शून्य की संख्या कुछ भी हो, वह शून्य ही रहेगा। दूसरी बात यह है कि समानताएँ पृथक् रूप से समानताएँ हों, अर्थात् इसका प्रायः निश्चय हो जाना चाहिए कि उनका समाधान यह नहीं है कि उनका स्रोत एक ही है, किंतु इसके लिए यह आवश्यक है कि शोधक का साहित्यिक ज्ञान बहुत व्यापक हो; फिर यह भी देखना आवश्यक है कि समानताओं में अपना जटिल संस्थान है या कि दो-एक शब्दों या कथानक-रूढ़ियों का सादृश्य-मात्र है। समानताओं के अध्ययन-विषयक कार्य बहुसंख्यक हैं और साधारणतः सर्वथा अनुपादेय हैं। यह देखकर तो बहुत आश्चर्य होता है कि ऐसे विद्वान् भी इस प्रकार का प्रयास करते हैं, जिनसे यह आशा की जा सकती है कि वे युग-विशेष की सामान्य विशेषताएँ—प्रचलित उक्तियाँ, रूढ़ उपमाएँ, समान वर्ण्य-वस्तु के कारण उत्पन्न समानताएँ—आसानी से पहचान लेंगे।

इस प्रणाली में दोष जो हों, यह संगत प्रणाली जरूर है और इसे पूर्णतः अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। स्रोतों के सावधान अध्ययन से साहित्यिक संबंधों की स्थापना संभव होती है।[14] इन संबंधों में उद्धरण या चोरी और मात्र प्रतिध्वनियाँ बहुत ही कम महत्त्व की होती हैं—ये अधिक-से-अधिक संबंध के तथ्य की स्थापना भर करती हैं, किंतु साहित्यिक संबंधों की समस्याएँ स्पष्टतः अपेक्षया बहुत जटिल होती हैं और उनके समाधान के लिए ऐसे आलोचनात्मक विश्लेषण की आवश्यकता होती है, जिसके लिए समानताओं का अन्वेषण एक गौण साधन-मात्र है। इस प्रकार के अधिकांश अध्ययनों में इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता। साहित्य की दो या उससे अधिक कृतियों के संबंधों का लाभदायक विवेचन तभी संभव है, जब हम साहित्यिक विकास की योजना के भीतर उन्हें उचित प्रसंग में देखें। कला-कृतियों के संबंधों की अतीव कठिन समस्या यह है कि दो पूर्णताओं का अध्ययन आवश्यक होता है, जिन्हें प्रारंभिक अध्ययन के लिए ही खंड-खंड कर देखा जा सकता है, बाद में नहीं।[15]

जब तुलना सचमुच ही दो पूर्णताओं पर केंद्रित रहती है, तो हम साहित्यिक इतिहास की एक तात्त्विक समस्या के संबंध में किसी निष्कर्ष पर पहुँच पाते हैं—वह समस्या है मौलिकता की।

मौलिकता के विषय में साधारणतः हमारी सांप्रतिक धारणा यह है कि वह परंपरा के विरुद्ध विद्रोह है, या फिर हम उसे वहाँ ढूंढ़ते हैं जहाँ वह होती नहीं, उदाहरणार्थ कला-कृति के उपकरण मात्र में या उसके ढाँचे में। साहित्यिक सृजन के संबंध में पहले के युगों में ज्यादा समझदारी पाई जाती है—मात्र मौलिक कथा-वस्तु या वर्ण्य-विषय का कलात्मक महत्त्व बहुत कम होता है, यह पहले के विद्वानों की सहज मान्यता थी। जिस अर्थ में पोप ने होरेस के या डॉ० जॉनसन ने ज्यूवेनाल के व्यंग्य का अनुकरण किया था, या संस्कृत के प्रायः सभी महाकाव्य कथा-वस्तु की दृष्टि से महाभारत पर आश्रित हैं, या कालिदास[१६] और तुलसीदास प्रारंभ में ही पूर्ववर्त्ती कवियों का आभार स्वीकार करते हैं, उस अर्थ में अनुकरण, प्रभाव या आभार का महत्त्व प्राचीन विद्वान् मानते थे। इस प्रकार के अनेक अध्ययनों में हम साहित्यिक प्रक्रिया-विषयक गलत धारणाओं को देखते हैं। उदाहरण के लिए एलिजाबेथ-युग के सानेटों पर सर सिडनी ली के जो अध्ययन[१७] हैं उनमें उन्होंने उनकी परंपरानुसारिता तो ठीक ही प्रमाणित की है, किंतु इससे उनकी कृत्रिमता और निकृष्टता नहीं सिद्ध होती, जैसा वे सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार रीति-काल के कवियों ने, रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, भले ही "संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के इतिहास की एक संक्षिप्त उद्धरणी"[१८] प्रस्तुत कर दी हो, किंतु इससे रीति-कालीन कवियों के कवित्व का अपकर्ष नहीं प्रमाणित होता, जैसा हम मान बैठे हैं। परंपरा-विशेष की सीमाओं में सृजन करना और उसकी शिल्प-विधि को अपनाना मनोरागों की शक्तिमत्ता तथा कलात्मक मूल्य के विरुद्ध नहीं पड़ते। इस प्रकार के अध्ययन में वास्तविक विवेचनात्मक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं, जब हम तौलने और तुलना करने की स्थिति में पहुँचते हैं और हमें यह दिखाना पड़ता है कि एक कलाकार दूसरे की उपलब्धि का किस तरह उपयोग करता है। परंपरा-विशेष में प्रत्येक कृति का सही-सही स्थान निर्धारण साहित्यिक इतिहास का प्रथम कर्त्तव्य है।

दो या उनसे अधिक कला-कृतियों के संबंधों में अध्ययन से गुजरने पर हमारे सामने साहित्यिक इतिहास के विकास की अनेक दूसरी समस्याएँ आती हैं। कला-कृतियों की सर्व-प्रथम और सुस्पष्ट श्रेणी तो वे कृतियाँ हैं, जो किसी एक लेखक की हैं। इस श्रेणी के क्षेत्र में मूल्यों की योजना, एक लक्ष्य को स्थापित करना बहुत अधिक कठिन नहीं होता: हम किसी लेखक की किसी एक कृति को उसकी प्रौढ़तम कृति के रूप में निर्धारित कर ले सकते हैं, और तब इसी प्रकार-विशेष की आसन्नता के दृष्टिकोण से अन्य सभी कृतियों का विश्लेषण कर सकते हैं। ऐसे अनेक प्रयत्न किये गये तो हैं, यद्यपि इनमें वास्तविक समस्या के प्रति स्पष्ट जागरूकता का अभाव ही दिखाई पड़ता है, और बहुधा इनमें लेखक के व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध समस्याओं से उलझे रह जाने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है।

विकासात्मक श्रेणी का एक दूसरा प्रकार भी निर्मित हो सकता है। कला-कृतियों के गुण-विशेष को पृथक् करके और किसी आदर्श (वह अस्थायी ही क्यों न हो) की ओर उसकी उन्मुखता को प्रदर्शित कर ऐसा प्रयास किया जा सकता है। यह एक ही लेखक की विभिन्न कृतियों को विषय बना कर किया जा सकता है, जैसे क्लेमेन[१९] ने शेक्सपियर के काव्य-चित्रों के संबंध में किया है, या यह एक युग या किसी देश के समस्त साहित्य को लेकर किया जा सकता है। अँगरेजी छंदःशास्त्र और गद्य-लय पर सेंट्सबेरी[२०] की जो पुस्तकें हैं, उनमें इसी

प्रकार तत्त्व-विशेष को पृथक् कर उसका इतिहास प्रलिखित किया गया है—यह दूसरी बात है कि ये बृहत् पुस्तकें छंद और लय के संबंध में लेखक के अस्पष्ट और लुप्तप्रयोग-विभावन पर अवलंबित हैं और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समुचित इतिहास तब तक नहीं लिखा जा सकता जब तक प्रकरण की पर्याप्त योजना विद्यमान न हो। अगर आज कोई हिंदी की काव्य-भाषा का इतिहास लिखना चाहे, तो उसे इसी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि इस विषय पर छोटे-मोटे निबंधों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, और कोई हिंदी काव्य-चित्र का इतिहास लिखने बैठे, तब तो उसे शायद पूर्व-निर्दिष्ट थोड़ा भी विवरण नहीं मिलेगा। वस्तुतः पाश्चात्य भाषाओं में भी इन पर विशेष कार्य नहीं हुआ है।

इसी प्रकार के अंतर्गत वर्ण्य-वस्तु तथा कथानक-रूढ़ियों के अध्ययनों को भी वर्गीकृत करना उचित समझा जा सकता है, किंतु वस्तुतः ये भिन्न समस्याएँ हैं। किसी कथा के विभिन्न रूप उस तरह अनिवार्यतः संबद्ध या अविच्छिन्न नहीं होते, जिस तरह छंद या काव्य-भाषा। उदाहरण के लिए, हिंदी-साहित्य में पद्मावती की कथा के समस्त रूपों का प्रलेखन भारतीय इतिहास की दृष्टि से एक उपादेय समस्या हो सकती है, और प्रसंगतः साहित्यिक रुचि के इतिहास—काव्य-रूप में परिवर्त्तन के इतिहास—को भी उदाहृत कर सकती है। किंतु इसकी अपनी कोई योजना या संगति नहीं हो सकती। यह एक कोई समस्या उपस्थित नहीं करती—विवेचनात्मक समस्या तो अवश्य नहीं।[१] वस्तु-विवरण[२] न्यूनतम साहित्यिक इतिहास होता है।

साहित्यिक स्वरूपों और प्रकारों का इतिहास एक दूसरी ही कोटि की समस्याएँ उपस्थित करता है। किंतु ये समस्याएँ असमाधेय नहीं हैं। यद्यपि क्रोचे ने इस संपूर्ण विभावन को ही निरर्थक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, तथापि इस सिद्धांत के आधार प्रस्तुत करनेवाल अनेक अध्ययन सुलभ हैं, जो स्वयं ही उस सैद्धांतिक अंतर्दृष्टि को संकेतित करते हैं, जो विशद इतिहास के प्रलेखन के लिए आवश्यक है। स्वरूप की समस्या इतिहास मात्र की समस्या है: प्रकरण (यहाँ स्वरूप) की योजना के उद्घाटन के लिए इतिहास का अध्ययन आवश्यक है; किंतु हम इतिहास का अध्ययन कर ही नहीं सकते, यदि हमारे मन में पृथक्करण की कोई योजना वर्त्तमान नहीं है। फिर भी यह तर्क-वृत्त, व्यवहार में, दुस्तर नहीं है। उदाहरण के लिए, अनुष्टुप् या दोहा-चौपाई में वर्गीकरण की स्पष्ट बाह्य योजना (चरणों की संख्या तथा निश्चित अंत्यानुप्रास) प्रारंभ-स्थल को सुलभ कर देती है; जहाँ तक महाकाव्य-जैसे उदाहरण का प्रश्न है, एक सामान्य भाषामूलक आधार के अतिरिक्त इस स्वरूप के इतिहास को एक साथ बाँध रखनेवाला शायद दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। भारवि का किरातार्जुनीय और माघ का शिशुपालवध एक दूसरे से अप्रभावित महाकाव्य हो सकते हैं, किंतु उनका सामान्य वंशागम रामायण-महाभारत-रघुवंशादि में देखा जा सकता है और बीच की जोड़नेवाली कड़ियों का, ऊपर से भिन्न लगनेवाली परंपराओं और युगों के बीच के सातत्य का निर्देश हो सकता है। अतः साहित्यिक इतिहास के लिए स्वरूपों का इतिहास अतिशय संभावनापूर्ण क्षेत्र सिद्ध हो सकता है।

इस आकृतिमूलक पद्धति का प्रयोग लोक-वार्त्ता के अध्ययन के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता है, जिसमें कलात्मक साहित्य की अपेक्षा स्वरूप बहुधा अधिक स्पष्टता से प्रत्यभिज्ञेय होते हैं। यह पद्धति इस क्षेत्र में उतनी महत्त्वपूर्ण तो अवश्य ही होगी, जितनी कथानक-रूढ़ियों

या कथा-वस्तु के बहिर्गमन के अध्ययन की प्रचलित पद्धति है। जहाँ तक इस पद्धति से लोक-वार्त्ता के अध्ययन का प्रश्न है, रूसी विद्वानों ने अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया है।[२३]

आधुनिकतम कलात्मक साहित्य में भी स्वरूप का विभावन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस क्षेत्र में जो प्रारंभिक कार्य हुए हैं, उनका एक बहुत बड़ा दोष है जैविक समानांतरता पर अत्यधिक निर्भर होना, उदाहरणार्थ ब्रुनतियेर[२४] या सिमांड्स[२५] के स्वरूपविषयक इतिहास। इधर अधिक सतर्कता के साथ लिखे गये अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं, किंतु इनमें खतरा इस बात का रहता है कि ये प्रकार-विशेष के वर्णन होकर, या पृथक् विवेचनों से असंबद्ध श्रेणी होकर रह जाते हैं—नाटकों या उपन्यासों के तथाकथित अनेक इतिहासों में यह बात देखी जा सकती है। हाँ, कुछ पुस्तकें अवश्य ऐसी हैं, जो प्रकार-विशेष के परिणमन की समस्या पर ही केंद्रित रही हैं। ग्रेग की पुस्तक, पैस्टोरल पोएट्री एंड पैस्टोरल ड्रामा,[२६] स्वरूप-विषयक इतिहास की प्रारंभिक पुस्तकों में उल्लेख्य है, और लेविस की ऐलेगरी आव लव[२७] परिणमन की योजना के स्पष्ट विभावन का उत्कृष्ट उदाहरण है। जर्मन भाषा में कार्ल वाइटर का जर्मन ओड का इतिहास[२८] और गुंथर मुलर का जर्मन गीत का इतिहास[२९], ये दो पुस्तकें अत्युत्तम हैं। इन दोनों जर्मन विद्वानों ने उन समस्याओं पर सूक्ष्मता-पूर्वक विचार किया है, जिन्हें उन्होंने अपने सामने रखा है। वाइटर ने उस तर्क-वृत्त को ठीक-ठीक समझा है, जो ऐसे विवेचन में अनिवार्यतः उपस्थित हो जाता है, पर उसने उससे बचने की चेष्टा नहीं की है: उसने समझा है कि इतिहासकार के लिए यह बोध होना आवश्यक है कि स्वरूप-विशेष का आवश्यक तत्त्व क्या है, और तब उसे उस स्वरूप के स्रोत तक जाना पड़ता है, जिससे उसकी परिकल्पना की युक्तियुक्तता की परख हो सके। इतिहास के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह इस अर्थ में किसी निश्चित लक्ष्य तक पहुँच जाय कि स्वरूप-विशेष का आगे नैरंतर्य रहेगा ही नहीं, अथवा पृथक्करण होगा ही नहीं। सम्यक् इतिहास-निर्माण के लिए किसी सामयिक लक्ष्य अथवा प्रकार को ध्यान में रखना ही आवश्यक है।

युग-विशेष या प्रवृत्ति-विशेष के इतिहास के सामने भी ऐसी ही समस्याएँ उपस्थित होती हैं। इस संबंध में दो अतिवादी दृष्टिकोण हैं, जिनसे सहमत होना कठिन है। एक तो तत्त्ववादी दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार युग ऐसी इकाई है जिसकी प्रकृति का उद्भावन करना आवश्यक है; और दूसरा है सर्वथा भिन्न नामवादी दृष्टिकोण, जो मानता है कि कोई भी विचारणीय काल-खंड, विवरण देने के निमित्त, शाब्दिक व्यपदेश मात्र है। नामवादी दृष्टिकोण मान लेता है कि युग ऐसी वस्तु पर स्वेच्छाकृत बाह्यारोपण है, जो वस्तुतः अविच्छिन्न, दिशा-रहित विपर्यस्तता है। इसका अर्थ है कि हमारे सामने एक तरफ तो निश्चित घटनाओं की असंबद्ध शृंखला रहती है और दूसरी तरफ विशुद्ध रूप से अंतर्निष्ठ व्यपदेश रहते हैं। यह मान लेने पर इसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता कि हम किसी अंतःखण्ड का, अपनी नानाविध बहुरूपता में तत्त्वतः समान वास्तविकता के माध्यम से, किस सीमा पर परीक्षण करते हैं। ऐसी दशा में इसका कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता कि युगों की जो योजना हम स्वीकृत करते हैं, वह कितनी स्वेच्छाकृत तथा कृत्रिम है। तब तो हम पत्रा के अनुसार निर्धारित शताब्दियों, दशाब्दियों या वर्षों का इतिहास, काल-विवरणात्मक प्रणाली से, लिखने लगेंगे। इसका उदाहरण आर्थर साइमन्ज का ग्रंथ, द रोमांटिक मूवमेंट इन इंग्लिश पोएट्री,[३०] है, जिसमें गृहीत आदर्श के अनुसार,

सन् १८०० ई० के पहले जन्म लेनेवाले और सन् १८०० ई० के बाद मृत, लेखकों का ही विवेचन किया गया है। ऐसी स्थिति में युग-मात्र सुविधाजनक शब्द है, वह किसी पुस्तक के उप-विभाजन या विषय के चुनाव के लिए ही जरूरी है। यह दृष्टिकोण, बहुधा अनजाने ही सही, वैसी पुस्तकों में अंतर्निहित रहता है, जो शताब्दियों की तिथि-रेखाओं का चेष्टापूर्वक ध्यान रखती हैं, या जो विषय-विशेष पर तिथि की निश्चित सीमाएँ आरोपित करती हैं (उदाहरण के लिए १८५०-१९०० आदि), जिनकी यौक्तिकता इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है कि किसी-न-किसी प्रकार की सीमाओं की व्यावहारिक आवश्यकता तो होती ही है। पत्रा-तिथि के प्रति ऐसी निष्ठा आकर-सूची-निर्माण में निस्संदेह आवश्यक और उपादेय है। किंतु एतादृश युग-विभाजन का वास्तविक साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है।

प्रारंभ में, सामान्यतः, साहित्यिक इतिहास राजनीतिक परिवर्त्तनों के अनुसार ही विभिन्न युगों में विभक्त होते थे। इस प्रकार साहित्य को राजनीतिक या सामाजिक क्रांतियों से पूर्णतः निर्धारित मान लिया जाता था, और युग-विभाजन की समस्या राजनीतिक या सामाजिक इतिहासकारों के लिए छोड़ दी जाती थी। और, उनके द्वारा निर्दिष्ट काल-सीमाएँ आँख मूँद कर मान ली जाती थीं। यदि हम अँगरेजी साहित्य के पुराने इतिहासों को देखें, तो हम पायेंगे कि वे या तो संख्यात्मक खंडों में, या एक सरल राजनीतिक आधार पर—यानी अँगरेज राजाओं के राजत्व-काल के अनुसार—लिखे गये हैं। किंतु जरा ऐसे अँगरेजी साहित्य के इतिहास की कल्पना कीजिए, जो पूर्ववर्त्ती राजाओं की मृत्यु-तिथियों के अनुसार विभिन्न युगों में विभाजित हो। फिर कुछ पहले के अँगरेजी साहित्य में भी, उदाहरण के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ के साहित्य में, जहाँ जार्ज तृतीय, जार्ज चतुर्थ और विलियम चतुर्थ के राजत्व-कालों के अनुसार विभाजन अनावश्यक समझा जाता है, वहीं एलिजाबेथ, जेम्स प्रथम तथा चार्ल्स प्रथम के राजत्व-कालों में कृत्रिम भेद मानने की परंपरा आज भी एक हद तक बनी हुई है।

इसके विपरीत यदि हम अपेक्षाकृत इधर के अँगरेजी साहित्य के इतिहासों पर विचार करें तो पायेंगे कि पत्रानुसारी शताब्दियों या राजाओं के राजत्व-कालों पर निर्भर पुराने विभाजन लुप्तप्राय हैं, और उनका स्थान ले लिया है युगों की श्रेणियों ने, जिनके नाम मानव-मस्तिष्क के परस्पर नितांत भिन्न क्रिया-कलापों से गृहीत हैं। इन साहित्यिक इतिहासों में अब भी 'एलिजाबेथन', 'विक्टोरियन' आदि ऐसे युग-नाम व्यवहृत होते हैं, जो विभिन्न राजत्व-कालों के पुराने परिचायक संकेत हैं, किंतु अब बौद्धिक इतिहास की योजना के अंतर्गत उन्होंने नवीन अर्थ ग्रहण कर लिये हैं। अब इन नामों का व्यवहार बहुत कुछ इसलिए किया जाता है कि एलिजाबेथ और विक्टोरिया अपने युगों को प्रतीकित करती मानी जाती हैं। संप्रति तिथि-क्रमानुसारी युग-सीमाएँ, जो सिंहासनारोहण और मृत्यु की तिथियों से निर्धारित होती हैं, साहित्यिक इतिहासकार के द्वारा पूर्णतः ध्यान में नहीं रखी जातीं। उदाहरण के लिए, एलिजाबेथ-युग में वे लेखक भी सम्मिलित कर लिये जाते हैं, जिनका रचना-काल एलिजाबेथ की मृत्यु के चालीस-पचास साल बाद तक है; इसके विपरीत ऑस्कर वाइल्ड यद्यपि कालक्रमानुसार विक्टोरिया-युग का लेखक था, फिर भी शायद ही कोई साहित्यिक इतिहासकार उसे 'विक्टोरियन' लेखक कहता है। इस प्रकार इन नामों ने बौद्धिक और साहित्यिक इतिहासों के प्रसंग में एक ऐसा निश्चित अर्थ ग्रहण कर लिया है, जो उनके राजनीतिक स्रोत से भिन्न है।

इसका अर्थ यह नहीं कि अँगरेजी के साहित्यिक इतिहासों के व्यवहृत सांप्रतिक युग-नाम संतोषजनक हैं। 'रिफार्मेशन' जैसे नाम धार्मिक इतिहास से, 'ह्यूमैनिज्म' दार्शनिक इतिहास से, 'रिनासाँ' कला के इतिहास से, 'कामनवेल्थ' तथा 'रिस्टोरेशन' निश्चित राजनीतिक घटनाओं से लिये गये हैं। तिथि-क्रम का आभास देनेवाला पद 'एट्टींथ सेंचुरी' साहित्यिक संज्ञाओं, 'आगस्टन' तथा 'निओ-क्लासिक', के संकेत से युक्त हो चुका है। 'प्रि-रोमांटिसिज्म' और 'रोमांटिसिज्म' प्रधानतः साहित्यिक पद हैं, और 'एडवर्डियन', 'जार्जियन', आदि, राजाओं के राजत्व-काल से लिये गये हैं। अन्य देशों के साहित्यिक इतिहासों के युग-नामों की भी यही स्थिति है। उदाहरणार्थ, अमरीकी साहित्यिक इतिहास में 'कोलोनियल पीरियड' तो राजनीतिक नाम है, जब कि 'रोमांटिसिज्म' या 'यथार्थवाद' साहित्यिक पद हैं।

ऐसे युग-नामों के पक्ष में कहा जा सकता है ये इतिहास की ही अपनी अस्तव्यस्तता के परिणाम हैं, हमें स्वयं लेखकों के विचारों और विभावनों, कार्यों और नामकरणों पर तो ध्यान देना ही पड़ेगा और उनके अपने विभाजनों को मान्यता प्रदान करनी ही होगी। सचेष्ट रूप से विहित कार्यों और वर्गों और स्वकृत व्याख्याओं का साहित्यिक इतिहास में बहुत महत्त्व है अवश्य, किंतु उन्हें हम युग-विशेष के अध्ययन के लिए उपादेय उपकरण के रूप में ही ले सकते हैं। उनसे साहित्यिक इतिहासकार को सुझाव और संकेत तो मिल सकते हैं, किंतु वे उसके लिए प्रणालियाँ और वर्गीकरण निर्धारित नहीं कर सकते—कुछ इसलिए नहीं कि साहित्यिक इतिहासकार की दृष्टि अपेक्षया अधिक गहराई तक जाने की क्षमता अवश्यमेव रखती है, बल्कि इस कारण कि वह अतीत को वर्त्तमान के प्रकाश में देख सकती है।

फिर यह भी कहना कठिन है कि विभिन्न स्रोतों से प्राप्त युग-नाम तत्तत् युगों में प्रतिष्ठित हो ही चुके रहते हैं; छायावादियों ने प्रारंभ में अपने को छायावादी नहीं कहा था, गोकि बाद में प्रतिकूल आलोचना में प्रयुक्त इस नाम को उन्होंने स्वीकार कर लिया था; एजरा पाउंड आदि कुछ कवियों ने 'इमैजिज्म' और 'वोर्टिज्म' के स्वयं-प्रदत्त नाम के साथ-साथ शैली-विशेष की कविता लिखी थी; किंतु न तो वीर-गाथा-काल के कवि इस नाम से परिचित थे, न रीतिकाल के ही, हालाँकि खोज-ढूँढ़ कर रीति शब्द के इस प्रसंग के अनुकूल उल्लेख का निर्देश भी किया गया है। इसी प्रकार इंग्लैंड के रोमांटिक कवियों ने अपने को शायद ही कभी रोमांटिक कवि कहा हो। अँगरेजी साहित्य के इतिहासों में जिसे साधारणतः रोमांटिक आंदोलन कहा जाता है, उससे कालरिज और वर्डस्वर्थ को १८४९ के लगभग संबद्ध किया गया, और वे शेली, कीट्स और बायरन के साथ वर्गीकृत हुए। साधारण रूप से काफी बाद तक यह वर्गीकरण बहुत प्रचलित नहीं हुआ था; उदाहरण के लिए, १८८२ में प्रकाशित 'लिट्रेरी हिस्ट्री आव इंग्लैंड बिट्वीन द एंड आव द एट्टींथ एंड बेगिनिंग आव द नाइनटींथ सेंचुरी' नामक अपनी पुस्तक में मिसेज ओलिफैंट ने इस नाम का प्रयोग नहीं किया है और वे 'लेक पोएट्स', 'काकनी स्कूल' और बायरन को तो सर्वथा पृथक् वर्ग में, 'सैटेनिक' बायरन का नाम देकर, रखती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्यिक इतिहास के ग्रंथों में साधारणतः प्रचलित युग-नामों में विशेष युक्तियुक्तता नहीं है। वास्तव में वे राजनीतिक और साहित्यिक और, यदि अँगरेजी आदि साहित्यों के इतिहासों को ले लिया जाय, तो कलात्मक नामों की खिचड़ी ही हैं।

यदि मानव-संस्कृति—राजनीति, दर्शन, कलाएँ, आदि—के इतिहास को उपवर्गों में विभक्त करनेवाली कोई युग-श्रेणी सुलभ हो भी, तो साहित्यिक इतिहास के लिए कोई ऐसी योजना अग्राह्य होगी, जो नाना उद्देश्योंवाली विविध सामग्रियों पर अवलंबित हो। साहित्य किसी दशा में मनुष्य-जाति के राजनीतिक, सामाजिक या बौद्धिक परिणमन का भी निश्चेष्ट प्रतिबिम्ब या अनुकरण नहीं माना जा सकता। फलतः साहित्यिक युग तो साहित्यिक प्रतिमान के आधार पर ही स्थापित हो सकता है।

यदि साहित्यिक इतिहासकार के निष्कर्ष राजनीतिक, सामाजिक, कला - तथा शास्त्र-विषयक निष्कर्षों से मेल खाते हों, तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किंतु साहित्यिक इतिहासकार का प्रारंभ-स्थल तो साहित्य का साहित्य के रूप में परिणमन ही हो सकता है। अतः युग सार्वभौम परिणमन का उप-खंड मात्र है। उसका इतिहास मूल्यों की परिवर्त्तनीय योजना के प्रसंग में ही लिखा जा सकता है, और यह भी सत्य है कि मूल्यों की ऐसी योजना को इतिहास से ही पाया जा सकता है। इस प्रकार युग एक काल-खंड है, जिसमें साहित्यिक स्वरूपों, प्रतिमानों और रूढ़ियों के ऐसे पद्धति-विशेष का प्राधान्य हो, जिसके आविर्भाव, विस्तार, वैविध्य, समन्वय और तिरोभाव निर्धारित किये जा सकें।

इसका अवश्य यह अर्थ नहीं है कि स्वरूपों की इस पद्धति को स्वीकार करने के लिए साहित्यिक इतिहासकार बाध्य है। इसे इतिहास से ही प्राप्त करना आवश्यक है: इसे वास्तव रूप में वहीं आविष्कृत करना वांछनीय है। उदाहरणार्थ, रोमांटिसिज्म कोई ऐसी केंद्रित विशेषता नहीं है, जो संक्रामक रोग की तरह फैलती हो, न वह शाब्दिक नाम मात्र है। वह एक ऐतिहासिक कोटि है, विचारों की एक संपूर्ण प्रणाली, जिसके सहारे ऐतिहासिक प्रक्रिया की व्याख्या की जा सकती है। किंतु विचारों की यह योजना मिली है ऐतिहासिक प्रक्रिया में ही। 'युग' शब्द का यह विभावन प्रचलित धारणा से भिन्न है, जो उसे ऐतिहासिक प्रसंग से पृथक्करणीय एक मनोवैज्ञानिक प्रकार में विस्तीर्ण कर देती है। प्रचलित ऐतिहासिक व्यपदेशों का, मनोवैज्ञानिक या कलात्मक प्रकारों के लिए, व्यवहार न हो, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, किंतु यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि साहित्य का ऐसा प्रकार-विज्ञान सीमित अर्थ में साहित्यिक इतिहास के लिए विशेष उपयोगी नहीं है।

अतः युग प्रकार या वर्ग नहीं है, बल्कि ऐसे स्वरूपों की एक विशेष प्रणाली से परिभाषित काल-खंड है, जो ऐतिहासिक प्रक्रिया में कीलित होते हैं और उससे अलग नहीं किये जा सकते। छायावाद या 'रोमांटिसिज्म'[३१] को परिभाषित करने के जो अनेक विफल प्रयत्न हुए हैं उनसे प्रमाणित होता है कि युग ऐसा विभावन नहीं है, जिसकी तुलना तर्क-शास्त्र के किसी 'वर्ग' से की जा सके। ऐसा होता तो प्रत्येक अलग-अलग कृति इसके अंतर्गत परिगणनीय हो जाती। किंतु यह तो स्पष्ट ही असंभव है। कोई खास कला-कृति वर्ग-विशेष में एक दृष्टांत नहीं है, बल्कि ऐसा अंश है, जो अन्य समस्त कृतियों के साथ, युग-विशेष का विभावन पूरा करती है। छायावाद या 'रोमांटिसिज्म' में अनेकरूपता दिखलाना या उनकी बहुविध परिभाषाएँ प्रस्तुत करना, इनकी जटिलता द्योतित करने के कारण जितने भी महत्त्वपूर्ण माने जायँ, सैद्धांतिक दृष्टि से भ्रांतिपूर्ण प्रतीत होते हैं। यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि कोई युग आदर्श प्रकार, अथवा अमूर्त्त संस्थान, अथवा वर्ग-विभावन की श्रेणी नहीं है,

बल्कि एक ऐसा काल-खंड है, जिसमें स्वरूपों की एक पूरी पद्धति की प्रधानता रहती है, जिस कोई भी कला-कृति उसकी संपूर्णता में प्राप्त नहीं कर सकती । युग-विशेष के इतिहास में स्वरूपों की एक पद्धति के, दूसरी पद्धति में, परिवर्त्तनों का प्रलेखन ही वांछनीय है । इस रूप में जहाँ युग-विशेष एक ऐसा काल-खंड है, जिसे किसी-न-किसी प्रकार की अन्विति प्रदान की जाती है, वहीं यह भी स्पष्ट है कि यह अन्विति सापेक्ष ही हो सकती है । इसका आशय केवल इतना ही है कि युग-विशेष में स्वरूपों की एक खास योजना अधिक-से-अधिक पूर्णता के साथ उपलब्ध हुई है । यदि किसी युग की अन्विति स्वयं पूर्ण होती, तो विभिन्न युग एक दूसरे से सटे पत्थर के टुकड़ों की तरह होते और उनमें सातत्य या परिणमन का सर्वथा अभाव रहता । फलतः एक प्राग्भावी स्वरूप-योजना का अस्तित्व और एक परवर्त्ती योजना की पूर्वाशा अनिवार्य है, क्योंकि कोई युग ऐतिहासिक तभी हो सकता है जब प्रत्येक घटना समस्त पूर्ववर्त्ती अतीत की परिणति मानी जाय और उसके प्रभाव समस्त भविष्य में प्रलेखित हो सकें ।

किसी युग के इतिहास-लेखन की समस्या सबसे पहले वर्णन की समस्या है : एक रूढ़ि के ह्रास और दूसरी नई रूढ़ि के आविर्भाव को समझना आवश्यक होता है । काल-विशेष में ही क्यों किसी रूढ़ि में परिवर्त्तन हुआ है, यह एक ऐसी ऐतिहासिक समस्या है जो सामान्य रूप से असमाधेय है । एक प्रस्तावित समाधान यह है कि साहित्यिक परिणमन के अंतर्गत क्लांति की ऐसी स्थिति आ जाती है कि एक नवीन रूढ़ि का आविर्भाव आवश्यक हो जाता है । रूसी स्वरूपवादियों ने इस प्रक्रिया को 'स्वचालन'[१४] की प्रक्रिया कहा है, अर्थात् काव्य-शिल्प के कौशल, जो अपने समय में प्रभावपूर्ण रहते हैं, आगे चलकर इतने साधारण और पिष्ट-पेषित हो जाते हैं कि नवीन पाठकों पर उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, और वे नये कुछ के लिए अधीर हो उठते हैं जो, ऐसा कहा जा सकता है, पहले जैसा था उसके विपरीत हो । परिणमन की योजना दोला-परिवर्त्तन है, विद्रोहों की ऐसी श्रेणी है जो भाषा, वस्तु और अन्य कौशलों की नई स्थितियों की ओर सदैव अग्रसर होती रहती है । किंतु इस सिद्धांत से यह स्पष्ट नहीं होता कि परिणमन दिशा-विशेष में ही क्यों हुआ : प्रक्रिया की सम्पूर्ण जटिलता की व्याख्या के लिए मात्र दोला-योजनाएँ अपर्याप्त हैं ।

दिशा-परिवर्त्तन का एक दूसरा समाधान है, जो सारा भार बाह्य हस्तक्षेप और सामाजिक वस्तु-स्थिति के दबाव पर डालता है । इसके अनुसार साहित्यिक रूढ़ि का प्रत्येक परिवर्त्तन किसी नये सामाजिक वर्ग या ऐसे जन-समूह के उद्भव के कारण होता है जो अपनी कला का स्वयंमेव सृजन करते हैं : यह सत्य है भी कि जहाँ वर्ग के विभेद और संबंध बहुत स्पष्ट होते हैं, वहाँ सामाजिक और साहित्यिक परिवर्त्तन के बीच बहुधा घनिष्ठ अंतस्संबंध स्थापित किया जा सकता है ।

इसके अतिरिक्त एक और समाधान है जो नई पीढ़ी के उद्भव पर आश्रित है । कोर्नो[१५] के इस सिद्धांत के अनेक अनुयायी पाये जाते हैं । कुछ जर्मन विद्वानों ने इसे विशेष रूप से पल्लवित किया है ।[१६] किंतु इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि पीढ़ी को जैवी इकाई मानने से समस्या का समाधान नहीं होता । हम एक शताब्दी में तीन पीढ़ियों की कल्पना करें, उदाहरणार्थ : १८००-१८३३, १८३४-१८६६ और १८००-१९००, तो यह भी सत्य है कि १८०१-१८३४, १८३५-१८७०, १८७१-१९०१ की श्रेणी भी उद्भावित की जा सकती है ।

जैवी दृष्टिकोण से विचार करने पर ये दोनों ही श्रेणियाँ पूर्णतः समान हैं; और १८०० के लगभग उत्पन्न एक जन-समूह ने साहित्यिक परिवर्त्तन को उतना प्रभावित किया है, जितना १८१५ के लगभग उत्पन्न समूह नहीं कर सका है, यह तथ्य विशुद्ध जैवी कारणों से भिन्न कारणों पर आश्रित है । यह सत्य है कि साहित्यिक इतिहास के समय-विशेष में प्रायः समान वय के युवकों का समूह साहित्यिक परिवर्त्तन लाने में समर्थ हो जाया करता है, उदाहरण के लिए अँगरेजी में रोमांटिसिज्म या हिंदी में छायावाद । किंतु, दूसरी ओर, यह भी सत्य है कि अधिक वय के लेखकों की प्रौढ़ कृतियों ने साहित्यिक परिवर्त्तनों को अत्यधिक प्रभावित किया है । कहने का तात्पर्य यह कि पीढ़ियों या सामाजिक वर्गों के परिवर्त्तन मात्र से साहित्यिक परिवर्त्तन का समाधान नहीं हो सकता । यह भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न रूपोंवाली एक जटिल प्रक्रिया है । यह अंशतः आंतरिक प्रक्रिया है, जो क्लांति से और परिवर्त्तन की कामना से उद्भूत होती है, किंतु यह अंशतः बाह्य भी है, जो सामाजिक, बौद्धिक और अन्य सांस्कृतिक परिवर्त्तनों पर निर्भर रहती है ।

अँगरेजी के आधुनिक साहित्यिक इतिहास में व्यवहृत होनेवाले युग-नामों को लेकर बहुत वाद-विवाद होता रहा है । रिनासाँ, क्लासिसिज्म, रोमांटिसिज्म, सिंबालिज्म और, इधर, बैरोक की अनेकानेक परिभाषाएँ हुई हैं और उनका खंडन-मंडन भी हुआ है । किंतु मतैक्य तब तक असंभव है जब तक उन सैद्धांतिक प्रश्नों का समाधान नहीं होता जिनका उल्लेख किया जा चुका है, और जब तक इस क्षेत्र में काम करनेवाले विद्वान् तर्कशास्त्रीय परिभाषाओं के लिए आग्रह करते रहेंगे, या युग-नामों और प्रकार-नामों का अंतर विस्मृत करते रहेंगे, या नामों के आकृतिमूलक इतिहास के साथ शैली के वास्तविक परिवर्त्तनों को उलझाते रहेंगे । इसीलिए लवज्वाय और अन्य विद्वानों ने 'रोमांटिसिज्म' जैसे नामों का परित्याग ही उचित बताया है । किंतु जहाँ यह ठीक है कि मात्र युग-नामों से बहुत अधिक की आशा नहीं की जा सकती, वहीं युग का विभावन ऐतिहासिक ज्ञान के प्रमुख साधनों में से एक है और उसके बिना काम चल नहीं सकता । और जब युग पर विचार होगा, तो साहित्यिक इतिहास के तरह-तरह के प्रश्न उठेंगे ही : उदाहरण के लिए, युग-नाम का इतिहास, विचार-धारा, वास्तविक शैलीगत परिवर्त्तन, मनुष्य के विभिन्न क्रिया-कलाप के साथ युग का संबंध और अन्य देशों के समान युगों के साथ संबंध । अगर हम छायावाद को लें तो 'निराला' या पंत की नवीन विचार-धारा को ध्यान में रखते हुए उनकी तथा अन्य छायावादियों की काव्यात्मक उपलब्धि पर विचार करना आवश्यक होगा । फिर यह एक ऐसी नई शैली है, जिसके पूर्वाभास को प्राचीन साहित्य में निर्दिष्ट किया जा सकता है । फिर बँगला आदि की समान प्रवृत्तियों के साथ तथा चित्र-कला प्रभृति की समानांतर विशेषताओं के साथ उसकी तुलना की जा सकती है । सारांश यह कि प्रत्येक समय और स्थान में समस्याएँ भिन्न होंगी और सामान्य नियमों की उद्भावना असंभव प्रतीत होती है ।

साहित्यिक इतिहास में कभी-कभी समवेत रूप से एक राष्ट्रीय साहित्य की समस्या पर भी विचार किया गया है । किंतु कला के रूप में राष्ट्रीय साहित्य का प्रलेखन कठिन इसलिए है कि मूलतः असाहित्यिक प्रकरणों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है और राष्ट्रीय आदर्शों और विशेषताओं का विवेचन करना पड़ता है, जिनका साहित्य-कला से बहुत कम ही संबंध है ।

यदि समवेत रूप से आधुनिक भारतीय साहित्य का इतिहास लिखा जाय, तो कठिनाई इसलिए बढ़ जायगी, क्योंकि वह संस्कृत की प्राचीनतर और सबलतर परंपरा पर अवलंबित है। फिर भी साहित्य-कला के राष्ट्रीय विकास की समस्या ऐसी है, जिसकी उपेक्षा इतिहासकार कर नहीं सकता, यद्यपि अब तक इस क्षेत्र में व्यवस्थित रूप से कार्य हुआ नहीं है।

साहित्य के समूहों का इतिहास तो और भी कठिन कार्य है। इस तरह के प्रयासों में जान मैकल का 'स्लोवानिक लिट्रेचर्स' और समस्त मध्ययुगीन रोमांस साहित्यों का इतिहास लिखने का लिओनार्ड ओल्स्की का प्रयत्न उल्लेख्य है, किन्तु उन्हें बहुत सफल नहीं कहा जा सकता।[३५]

विश्व-साहित्य के जो भी इतिहास लिखे गये हैं, वे सब-के-सब योरोपीय साहित्य की उस मुख्य परंपरा के प्रलेखन के यत्न हैं, जो ग्रीस और रोम से समान रूप से निःसृत होने के कारण एक हैं। ऐसे इतिहासों में आदर्शविषयक सामान्यताओं या ऊपरी विवरणों से अधिक कुछ नहीं है। स्क्लेगेल बंधुओं की पुस्तकें[३६] अवश्य अपवाद हैं, किन्तु उनसे भी आज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती।[३७]

साहित्यिक इतिहास के भावी रूप में प्राचीनतर पद्धतियों के द्वारा आविष्कृत योजनाओं के रिक्त अंशों की पूर्ति मात्र नहीं होगी। यह आवश्यक है कि साहित्यिक इतिहास के एक नये आदर्श की उद्भावना हो और ऐसी नई पद्धतियाँ विकसित की जायें, जिनसे इस आदर्श की प्राप्ति हो सके। कला के रूप में साहित्य के इतिहास के नवीन आदर्श की जो रूप-रेखा ऊपर उपस्थित की गई है, वह एकांगी प्रतीत हो सकती है, किंतु हमने अन्य पद्धतियों को सर्वथा व्यर्थ नहीं माना है। इधर साहित्यिक इतिहास में स्फीति की जो प्रवृत्ति देखी जा रही है, उसका निवारण एकाग्रता से ही संभव है। साहित्य का कोई इतिहास-लेखक चाहे तो एकाधिक पद्धतियों का मिश्रण कर सकता है, किन्तु पद्धतियों के परस्पर-संबंध की योजना की स्पष्ट चेतना से दिमागी उलझनों से बचा जा सकता है।

टिप्पणियाँ

१. उदाहरणार्थ, René Wellek, Rise of English Literary History, Chapel Hill,
२. १९४१, तथा Austin Warren & René wellek, Theory of Literature, लंदन, १९५४, जिन पर यह अध्याय मुख्यतः अवलंबित है। Oliver Elton : Survey of English Literature, १७८०—१८३०, छह भाग, लंदन, १९१२, भाग १, पृ० VII।

३. George Saintsbury : History of Criticism and Literary Taste in Europe, तीन भाग।

४. सेंट्सबेरी पर ओलिवर एल्टन का भाषण, Proceedings of the British Academy, XIX, 1933; तथा Dorothy Richardson : "Saintsbury and Art for Art's Sake" Publications of the Modern Language Association of America, LIX (1944), पृ० २४३-६०।

५. Edmund Gosse, A Short History of Modern English Literature, लंदन, १८९७, भूमिका।

६. Evan Charteris, The Life and Letters of Sir Edmund Gosse, लंदन, १९१३, Edmund Gosse का F. C. Roe के नाम, मार्च १६, १९२४ को लिखा पत्र। पृ० ४७७ पर उद्धृत।

७. डब्लू० पी० कर, Essays, लंदन, १९२२, प्र० भा०, पृ० १००।

८. टी० एस० एलियट, 'Tradition and Individual Talent', The Sacred Wood, लंदन, १९२०, पृ० ४२।

९. आर० एस० क्रेन, 'History versus Criticism in the University Study of Literature', The English Journal, College Edition, XXIV (१९३५), पृपृ० ६४५-६७।

१०. F. J. Teggart, Theory of History, New Haven, १९२५।

११. Ferdinand Brunetiére, L'Evolution des genres dans l'histoire de la littérature, Paris, १९२०।

१२. John Addington Symonds, 'On the Application of Evolutionary Principles to Art and Literature', Essays Speculative and Suggestive, लंदन, १८९०, प्र० भा०, पृपृ० ४२-४८।

१३. R. D. Havens, Milton's Influence on English Poetry, Cambridge, Massachusettes, १९२२।

१४.(क) R. N. E. Dodge, 'A Sermon on Source-hunting', Modern Philology, IX (1911-12) पृपृ० २११-२३।

(ख) Hardin Craig : 'Shakespeare and Wilson's Arte of Rhetrique : An Inquiry into the Criteria for Determining Sources,' Studies in Philology, XXVIII (१९३१), पृपृ० ८६-९८।

(ग) George C. Taylor: 'Montaigne-Shakespeare and the Deadly Parallel', Philological Quarterly, XXII (१९४३), पृपृ० ३३०-३७, इसमें लेखक ने इस प्रकार के अध्ययनों में व्यवहृत होनेवाले ७५ प्रमाण-रूपों की एक कौतूहलप्रद तालिका प्रस्तुत की है।

(घ) David Lee Clark, 'What was Shelley's Indebtedness to Keats ?' Publications of the Modern Language Association of America, LVI (१९४१), पृपृ० ४७९-९७; इसमें J. L. Lowes के द्वारा निर्दिष्ट समानताओं का खंडन युक्तियुक्त किया गया है।

(ङ) हिंदी में 'निराला' जी का, 'माधुरी' में प्रकाशित, संप्रति पुस्तिका के रूप में सुलभ, 'पंत और पल्लव' उदाहरणीय है।

१५.(क) H. O. White, Plagiarism and Imitation during the English Renaissance, Cambridge, Masachusettes, १९३५।

(ख) Elizabeth M. Mann, 'The Problem of Originality in English Literary Criticism, 1750-1850', Philological Quarterly, XVIII (१९३९) पृपृ० ९७-११८।

१६. 'अथवा कृतावाग्द्वारे वंशेस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ।।
—रघुवंश, प्र० स०, श्लोक ४।

१७. Sidney Lee, Elizabethan Sonnets, दो भाग, लंदन, १९०४ ।

१८. रामचन्द्र शुक्ल 'हिंदी-साहित्य का इतिहास, संवत् १९९७ का संस्करण, पृ० २८१ ।

१९. Wolfgang Clemen, Shakespeare Bilder, ihre Entwicklung and ihre Funktionen in dramatischen Werk, Bonn, १९३६ ।

२०.(क) George Saintsbury, A History of English Prosody, तीन भाग, १९०६-१० ।
(ख) A History of English Prose Rhythm, Edinburgh, १९१२ ।

२१. Benedetto Croce, 'Storia di temi e storia letteraria', Problemi di Estetica, Bari, १९१० पृ० ८०-८३ ।

२२. इसके लिए जर्मन-भाषा में पारिभाषिक शब्द है Stoffgeschichte ।

२३. देखिए क्रम-संख्या २१ में उल्लेख ।

२४. कदाचित् सबसे पहले Thomas Shaw ने Outlines of English Literature, लंदन, १८४९, में इस प्रकार का वर्गीकरण किया था ।

२३.(क) Andre Jolles, Einfache Formen, Halle, १९३० ।
(ख) A. N. Veselosvsky, Istoricheskaya Poetika, V. M. Zhirmunsky द्वारा संपादित, Leningrad, १९४० (१८७० तक के पुराने लेखों का संकलन) ।
(ग) J. Jarcho, 'Organiche Struktur des russischen Schnaderhüpfels (Castuska)', Germano—Slovica, III (1937), पृ० ३१–६४ (शैली और कथा-वस्तु के अंतस्संबंध को आँकड़ों की सहायता से विवृत करने का विशद प्रयत्न, जिसके लिए साक्ष्य लोक-साहित्य के स्वरूप-विशेष से एकत्र किया गया है ।

२४. Ferdinand Brunetière, L'Evolution des genres dans l'histoire de la littérature, Paris, १८९८ ।

२५. John Addington Symonds, 'On the Application of Evolutionary Principles to Art and Literature, Essays Speculative and Suggestive, लंदन, १८९०, प्र० भा०, पृ० ४२–८४ ।

२६. W. W. Greg, Pastoral Poetry and Pastoral Drama, लंदन, १९०६ ।

२७. C. S. Lewis, The Allegory of Love, Oxford, १९३६ ।

२८. Karl Viëtor, Geschichte der deutschen Ode, Munich, १९२३ ।

२९. Günther Müller, Geschichte des deutschen Liedes, Munich, १९२५ ;

३०. Arthur Symons, The Romantic Movement in English Poetry, लंदन, १९०९ ।

३१. उदाहरणार्थ, A. O. Lovejoy, On the Discrimination of Romanticisms, PMLA, XXXIX (१९२४), पृष्ठ २२९-५३ ।

३२. 'Automatization.'

३४.(क) Wilhelm Pinder, Das Problem der Generation; Berlin, १९२६।

(ख) Julius Petersen, 'Die Literarischen Generationen', Philosophie der Literaturwissen. schaft, Berlin, १९३० पृ० १३०-८७।

(ग) Eduard Wechssler, Die Generation als Jugendreihe und ihr Kampf um die Denkform, Leipzig, १९३०।

(घ) Detlev W. Schumann, 'The Problem of Cultural Age-Groups in German Thought : a Critical Review' PMLA, L, 1936, पृ० ११८०-१२०७, तथा The Problem of Age-Groups : A Statistical Approach',PMLA, LII, 1937, पृ० ५९६-६०८।

(ङ) H. Peyre, Les Générations littèraires, Paris, १९४८।

३५.(क) Jan Māchal, Slovanske Literatury, तीन भाग, Prague, १९२२-२९।

(ख) Leonardo Olschki, Die romanischen Literaturen des Mittelalters, Wildpark-Potsdam, १९२८।

३६.(क) August Wilhelm Schlegel, ü berdramatische Kunst and Literatur, तीन भाग, Heidelberg, १८०९-११।

(ख) Friedrich Schlegel, Geschichte der alten and neuen Litteratur, Vienna, १८१५।

३७. Ford Madox Ford, The March of Literature, लंदन, १९४७, इस दिशा में उल्लेख्य प्रयत्न है।

अध्याय ६

साहित्येतिहास और विधेयवाद

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में साहित्यिक अध्ययन की उस विधेयवादी प्रणाली[1] के विरुद्ध विद्रोह हुआ, जो उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बहुशः व्यवहृत होती थी। विधेयवादी प्रणाली में असंबद्ध तथ्य एकत्रित किये जाते हैं। उसमें अंतर्व्याप्ति मान्यता यह रहती है कि साहित्य की व्याख्या भौतिक विज्ञानों की प्रणालियों से, कार्य-कारण-मीमांसा के द्वारा, और बहिर्भूत निर्धारक शक्तियों को ध्यान में रखते हुए, होनी चाहिए।

विधेयवादी प्रणाली तायँ (Taine) की इस प्रसिद्ध घोषणा[2] में सूत्रबद्ध है—'race, milieu, moment' बीसवीं शताब्दी के आरंभ में यूरोपीय साहित्यालोचन की जो प्रवृत्ति थी, उसके विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक प्रतिक्रिया परंपरागत साहित्यिक अध्ययन के कतिपय स्फुट लक्षणों के विरुद्ध केन्द्रित है। पहला है, उथली प्रत्नान्वेषणवादिता[3] —लेखकों की जीवनियों और विवादों के सूक्ष्मतम विवरणों का 'शोध', तुलनात्मक स्थलों का अन्वेषण, और उद्गम-खनन। दूसरे शब्दों में, असंबद्ध तथ्य इस स्पष्ट विश्वास से एकत्रित किये जाते थे कि कभी-न-कभी ये ईंटें वैदुष्य के विशाल भवन के निर्माण में उपादेय सिद्ध होंगी। परंपरागत विद्वत्ता के इस लक्षण का सबसे अधिक उपहास किया गया है, किंतु अपने में यह हानिकारक नहीं है। सभी युगों में प्रत्नान्वेषी होते हैं, और उनकी सेवाएँ सावधानी से ली जायें तो काम की भी साबित होती हैं। फिर भी, यह स्मरण रखना आवश्यक है कि बहुधा इस तथ्यात्मकता[4] के साथ-साथ मिथ्या और विकृत ऐतिह्यता[5] लगी रहती है। ऐतिह्यता अतीत के अध्ययन के लिए किसी सिद्धांत या मानदंड की आवश्यकता नहीं मानती। इसमें यह धारणा भी रहती है कि वर्तमान युग शास्त्रीय प्रणालियों के द्वारा अध्ययन के योग्य नहीं है, या उसका अध्ययन संभव ही नहीं है। ऐसी निरपेक्ष 'ऐतिह्यता' साहित्य के विश्लेषण और आलोचना की सार्थकता को भी स्वीकार नहीं करती। इसका परिणाम होता है नंदतिक समस्याओं[6] का सामना होने पर निरस्त हो जाना, आत्यंतिक निष्ठा-राहित्य और फलतः मूल्यों की अराजकता।

इस ऐतिह्य-मूलक प्रत्नान्वेषिता का विकल्प था उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की नंदतिकता[7]। यह कला-कृति के वैयक्तिक अनुभव पर जोर देती है। इसकी परिणति चरम अंतर्निष्ठा में होती है। यह ज्ञान के वैसे सुव्यवस्थित संघटन को संभव नहीं बना सकती, जो साहित्यिक विद्वत्ता का लक्ष्य होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी की 'विज्ञानवादिता'[8] ने भौतिक विज्ञान की प्रणालियों को साहित्यिक अध्ययन के क्षेत्र में स्थानांतरित करने की बहुविध चेष्टाओं के द्वारा उपर्युक्त लक्ष्य का संधान

किया था । बौद्धिक दृष्टि से यही उन्नीसवीं शताब्दी की मनीषा का सर्वाधिक युक्तियुक्त और अभिजात आंदोलन था । किंतु, इसके भी जो अनेक उद्देश्य हैं वे विचारणीय हैं—पहला है वस्तुनिष्ठता, निर्वैयक्तिकता और निश्चयात्मकता-जैसे सामान्य वैज्ञानिक आदर्शों के अनुकरण का प्रयास । इसके साथ ही कार्य-कारण संबंध और उद्‌गम के अध्ययन के द्वारा भौतिक विज्ञान की प्रणालियों के अनुकरण की चेष्टा भी थी, जो किसी भी पारस्परिक संबंध के निर्देश को युक्तिसंगत ठहराती थी, बशर्ते कि वह तिथि-क्रम के आधार पर हो । अधिक संकीर्णता से व्यवहृत होने पर वैज्ञानिक कार्य-कारण-पद्धति आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण निर्धारित कर किसी साहित्यिक विशेषता की व्याख्या करती थी । कुछ विद्वानों ने साहित्यिक अध्ययन में विज्ञान की परिमाणमूलक प्रणालियों को भी समाविष्ट करने की चेष्टा की थी । वे आँकड़ों और तालिकाओं की सहायता से साहित्यिक अध्ययन को शास्त्रीय बनाना चाहते थे । विद्वानों का एक ऐसा भी दल था जिसने साहित्य के विकास के सूत्रों के निर्धारण के लिए, बड़े पैमाने पर, प्राणिशास्त्रीय सिद्धांतों का व्यवहार किया था।[९]

इस प्रकार साहित्य के अध्येता वैज्ञानिक या वैज्ञानिकम्मन्य बन गये थे । चूँकि उन्हें एक अनिर्धारणीय पदार्थ का अध्ययन करना था, इसलिए वे निकृष्ट और अयोग्य वैज्ञानिक सिद्ध हुए । वे अपने विषय और अपनी प्रणालियों के विषय में सशंक बने रहते थे ।

इस विधेयवाद के विरुद्ध यूरोप में बहुपथीन विद्रोह हुआ । इसका कुछ श्रेय परिवर्त्तित दार्शनिक वातावरण को भी है । बर्गसाँ ने फ्राँस में और इटली में क्रोचे ने, तथा अनेक दार्शनिकों ने जर्मनी में, और कुछ ने इंग्लैण्ड में भी, जब अनेकविध आदर्शवादी या कम-से-कम निर्भीक अनुमानात्मक प्रणालियों के पक्ष में, प्राचीन विधेयवादी दर्शनों का परित्याग कर दिया, तब पुरानी प्रकृतवादिता[१०] नगण्य हो गई । इसी तरह भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए : पदार्थ की प्रकृति के नियम, कार्य-कारण-पद्धति आदि के संबंध में पूर्वाग्रहों की पुरानी निश्चयात्मकता नष्ट हो चली । ललित कलाओं और साहित्य की कला में भी, वस्तुवाद और प्रकृतवाद के विरुद्ध, तथा प्रतीकवाद और अन्य आधुनिक वादों की दिशा में, प्रतिक्रिया हुई । इन प्रवृत्तियों के उत्कर्ष ने, धीरे-धीरे और परोक्ष रूप से ही सही, विद्वत्ता के स्वर और दृष्टिकोण को निस्संदेह ही प्रभावित किया ।

इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि दार्शनिकों के वर्ग ने ऐतिहासिक विज्ञानों की प्रणालियों का समर्थन प्रस्तुत किया और भौतिक विज्ञानों की प्रणालियों से उनकी तीक्ष्ण भिन्नता प्रतिपादित की। जर्मनी के एक दार्शनिक विलहेल्म डिल्फे[११] ने १८८३ में ही यह स्थापना की थी कि एक वैज्ञानिक एक घटना की व्याख्या उसकी कारणभूत पूर्व-घटनाओं के द्वारा करता है, जब कि इतिहासकार उसका अर्थ संकेतों या प्रतीकों के रूप में समझने की चेष्टा करता है । समझने की यह प्रक्रिया अनिवार्यतः वैयक्तिक और आत्मनिष्ठ भी होती है । प्रायः इसी समय, दर्शन के प्रसिद्ध इतिहासकार विलहेल्म विंदेलबबाँद ने इस मान्यता की तीव्र आलोचना की कि ऐतिहासिक विज्ञानों को भौतिक विज्ञानों की प्रणालियों का अनुकरण करना चाहिए[१२] । उसके अनुसार भौतिक वैज्ञानिक सामान्य नियमों की स्थापना करने का प्रयास करते हैं, जबकि इतिहासकार ऐसा तथ्य निर्दिष्ट करने की चेष्टा करते हैं, जो अद्वितीय होते हैं।

और जिनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। हेनरिख रिकर्त[१३] ने विंदेलबांद के मत को पल्लवित और कुछ परिवर्तित भी किया। उसने सामान्यकरण की पद्धतियों के बीच विभाजक रेखा खींचने से ज्यादा जोर प्रकृति के विज्ञानों और संस्कृति के विज्ञानों के बीच विभाजक रेखा खींचने पर दिया। उसका तर्क था कि नैतिक विज्ञानों का विषय मूर्त्त और वैयक्तिक है। किंतु व्यक्तियों का उद्घाटन और पहचान मूल्यों की ही किसी योजना के प्रसंग में संभव है। फ्रांसीसी दार्शनिक ए० डी० जेनोपोल ने प्रतिपादित किया[१४] कि भौतिक विज्ञानों के विषय हैं 'पुनरावृत्त होनेवाले तथ्य'[१५] जबकि इतिहास ध्यान देता है 'एक-दूसरे के बाद आनेवाले तथ्यों पर'[१६]। और, अंततः, इटली में, बेनोदेतो क्रोचे[१७] ने इतिहास की प्रणाली के लिए और भी अधिक व्यापक दावे किये। उसकी दृष्टि में समस्त इतिहास समसामयिक है, आत्मा का कार्य-व्यापार, और ज्ञेय है, क्योंकि वह मनुष्य के द्वारा निर्मित हुआ है, और इसी कारण वह प्रकृति के तथ्यों से अधिक निश्चयात्मकता के साथ परिज्ञात भी होता है।

ऐसे अनेक दूसरे सिद्धांत भी हैं जिनकी एक सामान्य विशेषता है : ये सभी भौतिक विज्ञानों की प्रणालियों की दासता से इतिहास और नैतिक विज्ञानों की स्वतंत्रता की घोषणा करते हैं। ये सभी प्रतिपादित करते हैं कि इन विज्ञानों की भी अपनी प्रणालियाँ हैं या अपनी प्रणालियाँ हो सकती हैं, और वे उतनी ही सुव्यवस्थित और सुनिर्धारित होंगी जितनी भौतिक विज्ञानों की। किंतु, इनका लक्ष्य भिन्न है, और प्रणालियाँ स्पष्टतः दूसरे ढंग की हैं; और, इसलिए कोई कारण नहीं कि ये भौतिक विज्ञानों की नकल करें या उनसे ईर्ष्या करें।

ये सभी सिद्धांत यह मानने से भी इनकार करते हैं कि इतिहास या साहित्य का अध्ययन मात्र एक कला है, अर्थात्, मुक्त सृजन का एक अबौद्धिक, असैद्धांतिक प्रयास। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक विद्वत्ता भौतिक विज्ञान नहीं है, वे संघटित ज्ञान की ऐसी पद्धतियाँ हैं, जिनकी अपनी प्रणालियाँ, अपने लक्ष्य होते हैं, और जो केवल सृजनात्मक क्रियाओं के पुंज या वैयक्तिक संवेदनाओं का लेखा नहीं हैं।

टिप्पणियाँ

१. Positivism
२. 'जाति, वातावरण, क्षण', इस फ्रांसीसी विद्वान् के अनुसार कला के सृजन में निर्णयात्मक तत्त्व हैं।
३. Antiquarianism.
४. 'Factualism',
५. Historicism',
६. Aesthetic problems,
७. Aestheticism.
८. Scientifism.
९. उदाहरण के लिए Ferdinand Brunctiere और John Addington Symonds ने साहित्यिक रूपों के विकास को प्राणिशास्त्रीय जाति-भेदों (biological species) के समानांतर सिद्ध करने की उद्भावना की थी।
१०. Naturalism.
११. Einleitung in die Geisteswissenschaften.

१२. Geschichte und Naturwissenschaft.
१३. Die Grenzen der Naturwissenschaftlichen Begriffsbildung.
१४. La Theori de l' histoire.
१५. Facts of Repetition.
१६. Facts of Succession.
१७. History: Its Theory and Practice. (मूल पुस्तक इतालियन में सन् १९१७ ई० में प्रकाशित हुई थी; अँगरेजी-अनुवाद १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ था।)

अध्याय ७

साहित्यिक इतिहास के युग

साहित्य के इतिहास में 'युग-विशेष' की परिकल्पना इस आधार पर ही संगत सिद्ध होती है कि उसमें साहित्यिक आदर्श की कोई परिपाटी सर्वातिशायी हो। इस परिभाषा से ऐसी धारणाओं का निराकरण होता है कि युग का केवल तत्त्वशास्त्रीय अस्तित्व होता है, या कि युग एक शाब्दिक बिल्ला-भर है। साहित्यिक प्रक्रिया दिशाहीन आवर्त्त में निरंतर भ्रमित होती रहती है—यह एक ऐसी मान्यता है जिसके फलस्वरूप हमें एक ओर तो असंबद्ध घटनाओं की अस्तव्यस्तता-भर हाथ लगती है, और दूसरी ओर हमें आरोपित बिल्लों से काम लेने के लिए विवश होना पड़ता है।

व्यवहार में साहित्य के प्रायः सभी इतिहास यह मानते हैं कि युग निर्धारित किये जा सकते हैं; किन्तु साधारणतः साहित्यिक इतिहास का युग-विभाजन मानवीय कार्य-व्यापार के दूसरे ही क्षेत्रों पर अवलंबित रहता है। उदाहरण के लिए, अँगरेजी-साहित्य का संप्रति प्रचलित विभाजन ऐसे युगों की खिचड़ी है, जो साहित्य से सर्वथा भिन्न क्षेत्रों से गृहीत हुए हैं। कुछ सुनिश्चित राजनीतिक घटनाओं का संकेत करते हैं (रेस्टोरेशन); कुछ शासकों के राजत्व-काल से संबद्ध हैं (एलिजाबेथन, विक्टोरियन); और कुछ कला के इतिहास से लिये गये हैं (गोथिक, बैरोक)। इस अव्यवस्था के लिए सामान्यतः सफाई यह दी जाती है कि युग-विशेष के लोग अपने समय के बारे में इन्हीं नामों का उपयोग करते थे, जो तर्क सर्वथा निराधार है। अँगरेजी साहित्य के इतिहासकारों ने अधिक व्यवस्थित प्रयत्न किया है, तो युग-श्रृंखला कला के इतिहास से ले ली है—गोथिक, रिनासाँ, बैरोक, रोकोको। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय चेतना के मनोवैज्ञानिक विकास के निर्धारण की भी चेष्टाएँ की गई हैं; उदाहरणार्थ L, Evolution psychologique de la lit. en Anglettre में कैजामियाँ[1] ने यह उद्भावना की है कि अँगरेजी-साहित्य विचार और भावना के ध्रुवांतों के बीच दोलित होती रहनेवाली परंपरा है।

ऐसे सिद्धांत साहित्य को किसी अन्य सांस्कृतिक क्षेत्र पर अवलंबित बना देते हैं, या राष्ट्रीय चेतना अथवा काल-प्रवृत्ति जैसी धारणाओं के विकास से संबद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। पहले वर्ग पर आर० वेलेक ने अपने एक निबंध Periods and Movements in Literary History[2], में सविस्तर प्रकाश डाला है; दूसरे का विशद विवेचन एम्० फोर्स्टर ने अपने एक लेख 'The Psychological Basis of Literary Periods'[3] में किया है; कैजामियाँ का उल्लेख तो हो ही चुका है। सामान्य रूप से इस समस्या का महत्त्वपूर्ण विश्लेषण आर० एम्० मेयर ने Prinzipien der wiss. Periodenbildung[4] और एच० साइजर्स ने Das Periodenprinzip in dér Literature[5] शीर्षक अपने निबन्धों में किया है।

अस्तु, प्रश्न यह है कि आदर्श युग-विभाजन का आधार और रूप क्या हो सकता है। यदि हम मानते हैं कि मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक या भाषावैज्ञानिक विकास से संपृक्त रहते हुए साहित्य का स्वतंत्र विकास होता है, और दूसरा पहले का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब नहीं है, तो हम अनिवार्यतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्यिक युग विशुद्ध साहित्यिक मानदंड के सहारे निर्धारित होने चाहिए। जब हम साहित्यिक युगों की ऐसी शृंखला निर्णीत कर लेते हैं तभी यह प्रश्न उठ सकता है कि ये युग दूसरे मानदंडों से निर्धारित युगों से किस हद तक मेल खाते हैं।

साहित्य के इतिहास का प्रत्येक युग स्पष्ट साहित्यिक आदर्शों की प्रधानता से अभिज्ञात होगा। साहित्यिक युग न्यायशास्त्रीय वर्ग के समान नहीं होता। कोई साहित्यिक कृति ऐसे किसी वर्ग का दृष्टान्त न होकर, वह अंश है, जो दूसरी कृतियों के साथ-साथ युग की धारणा का आधार बनती है। इस प्रकार युग-विशेष के इतिहास में साहित्यिक आदर्शों की एक प्रणाली के दूसरे में परिवर्त्तन-क्रम का रूपांकन ही प्रधान होगा।

किसी युग की अन्विति सापेक्ष तथ्य है। युग-विशेष में आदर्शों की एक खास प्रणाली अधिकतम पूर्णता प्राप्त कर लेती है। पूर्ववर्त्ती आदर्शों के अवशेष और आगामियों के पूर्वाभास अपरिहार्य होते हैं। आदर्शों की खास प्रणाली के अस्तित्व की निश्चित तिथि निर्धारित करने में जो स्पष्ट कठिनाइयाँ होती हैं, और अन्तर्धाराओं की जो अनिवार्यता रहती है, उन्हीं के परिणामस्वरूप युग की सीमाओं के संबंध में इतने मतभेद दीख पड़ते हैं। महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का आविर्भाव-काल भी पथ-चिह्न ही होता है, विभाजक रेखा नहीं। फिर भी साहित्य के इतिहास में, उसके सातत्य की असंदिग्ध वास्तविकता के कारण, आदर्शों की प्रणालियों के आविर्भाव, प्राधान्य और अन्ततः ह्रास के अंकन की महत्ता घटती नहीं।

टिप्पणियाँ

१। Louis Cazamian, L' Évolution psychologique de la litérature en Angleterre, Paris, १९२०।

२। René Wellek, "Periods and Movements in Literary History", English Institute Annual, 1940, New York, १९४१, पृपृ० ७३-९३।

३। (क) Max Foerster, "The Psychological Basis of Literary Periods," Studies for William A. Read, Louisiana, १९४०, पृपृ० २५४-६८।

(ख) Friedrich, "Der Epochebegrift im Lichte der französischen Préromantismeforschung," Neue Jahrbücher für wissenschaft und Jugendbildung, X (1934), पृपृ० १२४-४०।

४। Richard Moritz Meyer, "Prinzipien der wissenschaftlichen Periodenbildung," Euphorion VIII (1901), पृपृ० १-४२।

५। Herbert Cysarz, "Das Periodenprinzip in der Litteratur wissenschaft," Philosophie der Litteraturwissenschaft (सं० E. Ermatinger), Berlin, १९३०, पृपृ० ९२-१२९।

सामान्यतः द्रष्टव्य

१। (क) Louis Cazamian, "La Nótion de retours périodiques dans l'histoire litéraire," Essais en deux langues, Paris, १९३८, पृ० ३-१०।

(ख) उपरिवत्, "Les Périodes dans l'histoire de la littérature anglaise moderne" Essais en deux langues, Paris, १९३८, पृ० ११-१२।

२। "Le Second Congrés International d' históire littéraire, Amsterdam, 1935: Les Périodes dans l'histoire littéraire depuis la Renaissance." Bulletin of the International Committee of the Historical Sciences, IX (1937), पृ० २५५-३९८।

३। Benno von Wiese, "Zur Kritik des geisteswissenschaftlichen Periodenbegriffes," Deutsche Vierteliahrschrift für Literaturwissenschaft und Geistesgeschichte, XI (1933), पृ० १३०-४४।

अध्याय ८

पाश्चात्य साहित्यिक इतिहास : जर्मन

जर्मनी शास्त्र का ही नहीं, शास्त्रीयता का भी देश है—था। वहाँ शताब्दी के प्रारंभ में ही विचारों के इतिहास के दर्शन के विषय में विषम मत-भेद उत्पन्न हो गया था। जर्मनी को भाषा-विज्ञान की मातृ-भूमि कहा जाता है। यह देश उन्नीसवीं शताब्दी में भाषाशास्त्रीय साहित्यिक इतिहास का भी गढ़ था। किंतु बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रचलित पद्धतियों के विरुद्ध वहाँ तीव्र और सशक्त प्रतिक्रिया हुई जो, जैसा कि जर्मनी में बहुधा होता है, अतिवाद की सीमा तक पहुँच गई।

कवि स्टेफन जार्ज और उनके अनुयायियों के दल ने, परंपरागत वैदुष्य की उपेक्षा में सबसे आगे बढ़ कर, अतीत के कुछ गिने-चुने व्यक्तित्वों की वीर-पूजा को अपना लक्ष्य बनाया और श्रम-साध्य शोध की पूर्ण अवहेलना की। विद्वानों के इस वर्ग में फ्रेडरिक गुंडोल्फ[1] मुख्य है। उसने 'शेक्सपियर एंड द जर्मन स्पिरिट' नामक अपनी पुस्तक में जर्मन साहित्य पर शेक्सपियर के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए चमत्कारिता के साथ सिद्ध किया कि यह नाटक और आध्यात्मिक शक्तियों के तनाव का इतिहास है। गेटे आदि अन्य साहित्यिकों पर लिखी अपनी उत्तरवर्ती पुस्तकों में उसने आध्यात्मिक जीवनी की प्रणाली विकसित की और उसे तक्षणात्मक और स्थापत्यात्मक पद्धति का नाम दिया। इस पद्धति में मस्तिष्क और रचना की व्याख्या द्वन्द्वात्मक विरोधों की योजना में रख कर की गई है और इसका उद्देश्य है सजीव मनुष्य के बदले कल्पनात्मक और दन्तकथात्मक व्यक्तियों का निर्माण। गुंडोल्फ के अनुयायी अन्स्र्ट बर्ट्रम[2] ने तो नीत्शे पर लिखी अपनी पुस्तक के बारे में स्वयं कहा है कि उसमें दंतकथा प्रस्तुत करने का प्रयास है।

इस वर्ग के प्रतिकूल, वे जर्मन विद्वान् कहीं-कहीं कम अन्तर्निष्ठ और स्वेच्छालु हैं, जो प्राचीन साहित्यिक उपलब्धि के पुनर्निर्माण-कार्य में शैली की समस्या के प्रति ही अपनी अभिरुचि केन्द्रित रखते हैं। इस पद्धति में शैली का विशुद्ध वर्णनात्मक रूप में विभावन नहीं किया गया है, उसे विचार की अभिव्यंजना या निरंतर पुनरावृत्त होने वाले कलात्मक या विलक्षण ऐतिहासिक रूप की दृष्टि से ही गृहीत किया गया है। इन विद्वानों ने अंशतः क्रोचे से प्रभावित हो कर, एक ऐसी भाषाशास्त्रीय सरणि का विकास किया है, जिसे वे आदर्शवादात्मक[3] कहते हैं। इसमें भाषा-शास्त्रीय और साहित्यिक सृजन के सामंजस्य का निरूपण अभीष्ट रहता है। कार्ल वोस्लर[4] ने इस प्रकार के अध्ययन का उल्लेखनीय दृष्टान्त उपस्थित करते हुए संपूर्ण फ्रांसीसी सभ्यता की परिणति की, भाषाशास्त्रीय और कलात्मक अन्विति के रूप में, व्याख्या की है। इसी प्रकार लिओ स्पित्सर[5] ने अनेक फ्रांसीसी लेखकों की शैलियों का अध्ययन कर मनोवैज्ञानिक और रूपात्मक निर्णयों पर पहुँचने का प्रयास किया है। जर्मन साहित्य के अध्ये-

ताओं ने भी इसी तरह ऐतिहासिक और शैलीक रूपों को स्थूल रीति से परिभाषित करने की चेष्टा की है। हाइनरिख वुल्फलिन[६] ने कला के क्षेत्र में जिस शैलीक मानदंड को उद्भावित किया था, उसे सर्वप्रथम ओस्कार वाल्त्सेल[७] ने साहित्य के इतिहास पर घटित किया था। उसके, और अन्य विद्वानों के, विवेचनों के परिणामस्वरूप ही साहित्य के इतिहास में 'बरोक' शब्द व्यवहृत होने लगा, और कालान्तर में कला के इतिहास के अन्य विभिन्न युगों के नामों को भी साहित्यिक इतिहास में प्रयुक्त किया जाने लगा। फ्रित्स स्त्राइख[८] ने अपनी पुस्तक 'जर्मन क्लासिसिज्म एंड रोमांटिसिज्म' में इस प्रणाली का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। स्त्राइख के अनुसार 'रोमांटिसिज्म' में 'बरोक' कला की, और 'क्लासिसिज्म' में 'रिनासाँ' कला की विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। वुल्फिन ने कला के इतिहास में रुद्ध और मुक्त, इन दो रूपों की उद्भावना की है। स्त्राइख रुद्ध और मुक्त रूपों के विरोधों को साहित्यिक इतिहास में चरितार्थ सिद्ध करते हुए दिखाता है कि पूर्णतः शास्त्रीय रूप में तथा रूमानी कविता के मुक्त, अपूर्ण, खंडित और धूमिल रूप में भी ये ही विरोध हैं। स्त्राइख का विवेचन सूक्ष्म उक्तियों और मन्तव्यों से पूर्ण है, किंतु उसकी पद्धति सर्वथा निर्दोष नहीं है।

इसकी तुलना में विभिन्न रूपों के अनेक बहुशैलीक इतिहास अधिक स्थायी महत्त्व के हैं। कार्ल वाइतोर[९] का 'हिस्ट्री ऑव द जर्मन ओड', ग्वेंथर म्वेलर का 'हिस्ट्री ऑव जर्मन साँग'[१०] और हर्मन पाँग का 'पोएटिक इमेजरी[११],' या इस प्रकार के अन्य साहित्यिक शिल्प संबंधी अध्ययन, रूपों के शैलीक इतिहास के उल्लेखनीय दृष्टान्त हैं। जहाँ तक वाल्सर और स्त्राइख के शैली-विषयक विश्लेषण का प्रश्न है, वह सामान्य बौद्धिक इतिहास के क्षेत्र की वस्तु बन जाता है।

जर्मन चिन्तन के क्षेत्र में यह सामान्य बौद्धिक इतिहास अत्यन्त विविधतापूर्ण और उर्वर आन्दोलन सिद्ध हुआ है। यह अंशतः साहित्य में प्रतिबिंबित दर्शन का इतिहास मात्र है। इस दिशा में विलहेल्म डिल्दे[१२] ने पथ-प्रदर्शक का काम किया है। अन्स्र्ट केसिरर[१३], रुडोल्फ अंगर[१४] और वर्नर जेगर[१५] ने साहित्यिक विद्वत्ता के क्षेत्र में असाधारण महत्त्व के कार्य किये हैं। इनमें रुडोल्फ अंगर[१६] के प्रयासों के फलस्वरूप मृत्यु, प्रेम, नियति जैसी शाश्वत समस्याओं से संबद्ध मनोवृत्तियों के इतिहास के प्रति एक अपेक्षाकृत स्वल्प बुद्धिवादी दृष्टिकोण का विकास संभव हुआ। अंगर में सशक्त धार्मिक भावना है। इसका प्रभाव भी उसकी प्रणाली पर पड़ा है। उसने हर्डर, नोवालिस और क्लाइस्त जैसे लेखकों की मृत्यु-संबंधी मनोवृत्ति में परिवत्तन और सातत्य के सूत्रों का अन्वेषण कर इस पद्धति से एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी है। पाल क्लुकोन[१७] और वाल्टर रेह्म[१८] आदि अंगर के अनुयायियों ने मृत्यु और प्रेम की भावना के विभावन के अध्ययनों में इस प्रणाली को बड़े पैमाने पर प्रयुक्त और विकसित किया है। किंतु, इन विद्वानों ने साहित्य में प्रतिबिंबित संवेदना और भावना का इतिहास लिखा है, न कि स्वयं साहित्य का ही इतिहास।

जर्मनी के साहित्यिक इतिहासकार अधिकांशतः प्रवृत्ति का इतिहास (हिस्ट्री ऑव द स्पिरिट[१९]) निर्मित करने में प्रवृत्त रहे हैं। जैसा कि इस सिद्धांत के एक प्रवर्त्तक ने स्वयं कहा है—"वे बाह्य वस्तुओं के अंदर छिपी हुई संपूर्णता को ढूंढ़ते हैं और सभी तथ्यों की व्याख्या समय की प्रवृत्ति के आधार पर करते हैं।"[२०] इस प्रणाली के अनुसार सभी मानवीय व्यापारों में एक सार्वभौम समानता रहती है। व्यापकतर क्षेत्र में ओस्वाल्ड स्पेंग्लर का 'डिक्लाइन

'ऑव द वेस्ट' इस प्रणाली का सुप्रसिद्ध उदाहरण है । जर्मनी के साहित्यिक इतिहास में ए० एच० कॉर्फ[२१] का 'द स्पिरिट ऑव द एज ऑव गेटे' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है, क्योंकि उसमें ग्रंथ-सामग्री और साहित्यिक इतिहास के तथ्यों के आधार पर साहस के साथ उद्भावनाएँ की गई हैं । इस प्रणाली का दुरुपयोग भी किया जाता है और किया गया भी है। उदाहरण के लिए, पाल माइसनर[२२] के अंग्रेजी साहित्य के बरोक-विषयक ग्रंथ में क्रिया-प्रतिक्रिया और तनाव के सरल सिद्धांत का सर्वथा विवेक-रहित उपयोग किया गया है । उसमें यात्रा से लेकर धर्म तक, संस्मरण लिखने से लेकर संगीत तक, समस्त सामग्री को अस्वाभाविक रूप से सुविधा-जनक श्रेणियों में नियोजित कर दिया गया है । ये श्रेणियाँ विस्तार और संकोच, पिंड और ब्रह्मांड, पाप और पुण्य, विश्वास और तर्क की हैं; और माइसनर इस बात पर ध्यान नहीं देता कि किसी भी युग में इन विरोधों को ढूंढ़ निकाला जा सकता है, या इसके विपरीत, एक ही सामग्री को सर्वथा विभिन्न श्रेणियों में व्यवस्थित किया जा सकता है । इसी प्रकार की पुस्तकें हैं मैक्स वुत्सबाइन[२३] तथा जॉर्ज स्तेफांस्की[२४] की , जिनमें रोमांटिसिज्म की आत्मा पर विचार किया गया है । इन पुस्तकों में विद्वत्ता और अन्तर्दृष्टि का अभाव नहीं है, फिर भी ये बालू के घरौंदों से ज्यादा मजबूत नहीं हैं । ऐसी ही पुस्तकों में हर्बर्ट साइसार्त्स[२५] की कृतियाँ भी परिगणनीय हैं, जिनमें जर्मन साहित्य में अनुभव और विचार, जर्मन बरोक काव्य और शिलर पर विचार करते हुए पांडित्य का अनावश्यक प्रदर्शन किया गया है और सिद्धांतों के बाल की खाल निकाली गई है ।

इन आध्यात्मिक प्रातिभज्ञानवादियों के दूसरे छोर पर जर्मन विद्वानों का एक एसा दल भी है जिसने जर्मन साहित्य के इतिहास को, उसके प्राणिशास्त्रीय और ज़ातीय संबंधों की दृष्टि से, लिखने की चेष्टा की है । यदि जर्मन जाति के विषय में उनका विभाव सारतः आदर्शात्मक और, ततोधिक, रहस्यात्मक नहीं होता, तब तो हम उन्हें शताब्दी के पहले के विधेयवादियों और छद्म-विज्ञानवादियों की भी कोटि में रख सकते थे । इसी दल के एक विद्वान्, जोजेफ नैडलर,[२६] ने जर्मन साहित्य का एक नया इतिहास लिखा है। उसके कथनानुसार यह इतिहास 'नीचे से' ('फ्रॉम बिलो'), तथा जातियों, प्रदेशों और जनपदों के अनुसार, लिखा गया है, और इसमें जर्मनी के विभिन्न प्रदेशों की उपजातियों की प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त किया गया है। वस्तुतः नैडलर का मूलभूत सिद्धांत जर्मन इतिहास का एक विलक्षण दर्शन है । इस दर्शन का सार यह है कि जर्मनी का पश्चिमी भाग, जो जूलियस सीजर के समय से ही व्यवस्थित रहा है, जर्मन शास्त्रीयता में अन्तर्निहित प्राचीनता को पुनरायत्त करने का प्रयास करता रहा है । इसके विपरीत, जर्मनी का पूर्वीय भाग, जाति की दृष्टि से स्लाव प्रदेश है, जो अट्ठारहवीं शताब्दी के बाद ही सम्यक् रूप से जर्मन प्रदेश बना था । यही कारण है कि इस प्रदेश ने रोमांटिक युग के माध्यम से मध्ययुगीन जर्मनी की संस्कृति को पुनः प्राप्त करने के लिए उत्सुकता दिखाई है । नैडलर का कहना है कि सभी रोमांटिक साहित्यकार पूर्वीय जर्मनी के ही हैं, और यदि वे नहीं हैं, तो उन्हें सही मानी में रोमांटिक कहा ही नहीं जा सकता । नैडलर के सिद्धांत के दुर्भाग्य से, सत्य यह है कि अनेक रोमांटिक इस प्रदेश के नहीं हैं, और उसके इस कथन को नहीं माना जा सकता कि वे वास्तविक रोमांटिक नहीं हैं । किंतु नैडलर के कुछ गुणों को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा । पहले तो उसमें चरित्र-निरूपण की प्रभावोत्पादक क्षमता है, और दूसरे यह कि उसमें स्थानिकता की ऐसी चेतना है जो प्राचीन, और बहुधा स्थानिक, जर्मन साहित्य के अध्ययन के लिए आवश्यक सिद्ध होती है । इसके साथ यह भी उल्लेखनीय है कि बहुत कुछ उसके विभावनों के परिणामस्वरूप ही नात्सी साहित्यिक इतिहास का पथ प्रशस्त बन सका था ।

नात्सियों के द्वारा साहित्यिक इतिहास का जो पुनर्मूल्यांकन हुआ उसकी विशेषताओं का विस्तृत विवेचन अनावश्यक है। यहूदियों की उपेक्षा और अवमानना, अतीत में नात्सी सिद्धांतों के पूर्वाभास पर जोर देना, ग्येटे जैसे असुविधाजनक किंतु अनुपेक्षणीय व्यक्तित्वों को अपनी योजना में सन्निविष्ट करने के लिए द्रविड़-प्राणायाम करना, इत्यादि, नात्सी साहित्यिक इतिहास की ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे साधारणतः सभी परिचित ही हैं। साहित्यिक इतिहास के क्षेत्र में जर्मनी के वैदुष्य का धरातल १९३३ ई० के बाद तेजी से गिरता चला गया है। वहाँ के अधिकांश शास्त्रीय ग्रंथों में भी तथ्य-रहित प्रचार, जातीय रहस्यवाद और रूमानी आत्म-श्लाघा की खिचड़ी भर ही पाई जा सकती है।

और फिर भी, साहित्य के इतिहास-दर्शन के क्षेत्र में जर्मन विद्वानों की, संपूर्ण उपलब्धि पर विचार करने के बाद, यह स्वीकार करना पड़ता है कि जर्मनी में वादों और प्रणालियों की आश्चर्यजनक विविधता थी। हम उसकी तुलना उस प्रयोग-शाला से कर सकते हैं जिसमें निर्दिष्ट दार्शनिक समस्याओं के संबंध में सभी जागरूक थे और साहित्यिक वैदुष्य के बारे में विश्वास और स्वाभिमान से पूर्ण।

टिप्पणियाँ

१। Shakespeare und der deutsc he Geist, बर्लिन, १९११; Goethe, बर्लिन, १९१६; George, बर्लिन, १९२०; Heinrich von Kleist, बर्लिन, १९२२।

२। Nietzche, Versuch einer Mythologie, बर्लिन, १९२०।

३। 'Idealistic'।

४। Frankreichs Kultur im Spiegel seiner Sprachentwicklung, हाइडेलबर्ग, १९१३; Positivismus und Idealismus in der Sprachenwissenschaft, हाइडेलबर्ग, १९०४।

५। Stilstudien, मुंशेन, १९२८, (दो भाग); Romanische stil-und Literaturstudien, मारबुर्ग, १९३१ (दो भाग)।

६। Kunstgeschichtliche Grundbregriffe, मुंशेन, १९१५; Principles of Art History (एम्० डी० हार्िंगर द्वारा अनूदित), लंदन, १९३२।

७। Wechselseitige Erhellung der Künste, बर्लिन, १९१७; Gehalt and Gestalt im Kunstwerk des Dichters, बर्लिन, १९२३; Das Wortkunstwerk, लाइपजिग, १९२६।

८। Deutche Klassik und Romantik, oder Vollendung und Unendlichkeit, मुंशेन, १९२२।

९। Geschichte der deutschen Ode, मुंशेन, १९२३।

१०। Geschichte der deutschen Leides, मुंशेन, १९२५।

११। Das Bild in der Dichtung, मारबुर्ग १९२७-३४, (दो भाग)।

१२। Gessamelte Schriften, बर्लिन, १९२३-३६ (बारह भाग)।

१३। Idee and Gestalt, बर्लिन, १९२१; Freiheit und Form, बर्लिन, १९२२।

१४। Hamann und die deutsche Aufklarüng, Hall, १९११, (दो भाग)।

१५। Paideia : Die Formung des greichischen Menschen, बर्लिन, १९३४ (प्रथम

भाग), G. Highet द्वारा 'Paideia : The Ideals of Greek Culture' के नाम से अनूदित, न्यूयार्क, १९३९-४४, (तीन भाग)।

१६। Herder, Novalis, Kleist, फ्रैंकफर्त, १९२२; Literaturgeschichte als Problemgeschichte, बर्लिन, १९२४।

१७। Die Auffassung der Liebe in der Literatur des achtzehnten Jahrhunderts und in der Romantik, हाल, १९२२।

१८। Der Todsgedanke in der deutschen Dichtung, हाल, १९२८।

१९। 'Geistesgeschichte'।

२०। M. W. Eppelsheimer, 'Das Renaissanceproblem' – Deutsche Vierteljahrschrift für Geistesgeschichte und Litteraturwissenschaft, XI (१९३३), पृ० ४९७।

२१। Geist der Goethezeit, Versuch einar ideellen Entwicklung der Klassischromentischen Literaturgestichte, लाइपजिग, १९२३, १९३०, १९४० (तीनभाग)।

२२। Die Geisteswissenschaftlichen Grundlagen des englischen Literatur-barocks, बर्लिन, १९३४।

२३। Das wesen des Romantischen, कोथेन, १९२१।

२४। Das wesen der deutschen Romantik, स्तुतगार्त्त, १९२३।

२५। Erfahrung und Idee, वाइन, १९२१; Deutsche Barockdichtung, लाइपजिग, १९२४; Lilteraturgeschichte als Geisteswissenschaft, हाल, १९२६; Schiller, हाल, १९३४।

२६। Literaturgeschichte der deutschen Stämme und Landschaften, रेजेनस्बुर्ग, १९१२-२८ (चार भाग); नात्सीकृत संस्करण–Literaturgestichte des deutschen Volkes का प्रकाशन १९३८ में आरंभ हुआ था।

२७। H. G. Atkins, German Literature through Nazi Eyes, लंदन, १९४१।

अध्याय ६

पाश्चात्य साहित्यिक इतिहास : फ्रेंच

पश्चिम में उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्यिक वैदुष्य की प्रणालियों के जो विकल्प वर्त्तमान शताब्दी में उपस्थित किये गये, वे पूर्वागत विधेयवाद के विरुद्ध विद्रोह के आधार हैं। हमने आगे अँगरेजी और जर्मन-साहित्य के इतिहास दर्शन पर विचार करते हुए तत्तत् साहित्यों के इतिहासों एवं ऐतिहासिक विवेचनों में इस विद्रोह के आधार निर्दिष्ट किये हैं। जहाँ तक फ्रेंच साहित्य के इतिहास-दर्शन का प्रश्न है, वह उपर्युक्त साहित्यों के इतिहास-दर्शन की तुलना में अधिक नियंत्रित रहा है, और उन्नीसवीं शताब्दी के विधेयवाद के विरुद्ध होने वाले विद्रोह से भी वह प्रायः अछूता रहा है।

फ्रेंच साहित्य के इतिहासकारों की यह गतानुगतिकता आश्चर्यजनक तो है, किंतु इसके कारण आसानी से ढूंढ़ निकाले जा सकते हैं। फ्रांस कभी जर्मनी के संघटित साहित्यिक तथ्यवाद से आक्रांत नहीं हुआ। फ्रांस के साहित्यिक इतिहासकारों ने, अधिक-से-अधिक प्रकृतवादी दृष्टिकोण अपनाने पर भी, सदैव स्पृहणीय नंदतिक और आलोचनात्मक विवेक का परिचय दिया है। फर्दिनें ब्रुनेतिएर प्राणिशास्त्रीय विकासवाद से अत्यधिक प्रभावित था, किंतु वह श्रेण्यवादी बना रहा; इसी प्रकार गुस्ताव लासों ने वैज्ञानिक आदर्श के साथ राष्ट्रीय चेतना और उसकी आध्यात्मिक एषणा के विभावनों का समन्वयन किया।

फिर भी, प्रथम विश्व-युद्ध के तुरत बाद फ्रांस में भी तथ्यवाद की विजय होती-सी दीख पड़ती है। भारी-भरकम महानिबंध (the'se); फेरनाँद बालदेनस्पर्जेर के द्वारा अनुप्रेरित तुलनात्मक साहित्य के सुसंघटित संप्रदाय का व्यापक प्रभाव; फ्रेंच भाषा के श्रेण्य ग्रंथों के अतिशय विशद संस्करण प्रस्तुत करने वाले विद्वानों की सफलता;[1] डैनिएल मार्ने के सिद्धांत, जिसकी माँग थी कि गौणतम लेखकों का भी विशद साहित्यिक इतिहास लिखा जाय; ये सभी इस बात के लक्षण हैं कि फ्रांस ने उन्नीसवीं शताब्दी के विशुद्ध ऐतिहासिक वैदुष्य को आयत्त करने की चेष्टा की थी।

किंतु इसके साथ-ही-साथ फ्रांस में परिवर्त्तन के भी चिह्न लक्षित होते हैं और वह, जैसा सर्वत्र होता है, दो दिशाओं में प्रसरित होता है—नवीन संश्लेषण और नवीन विश्लेषण की ओर। फ्रांस के साहित्यिक इतिहासकार निर्भीक भाव से चित्रित बौद्धिक इतिहासों के क्षेत्र में विशेष रूप से सफल सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए, पाल हैजर्ड का Crise de la Conscience Europeenne उस परिवर्त्तन का कुशल प्रतिपादन है, जो सत्रहवीं शताब्दी के अंत में यूरोप में दिखाई पड़ा था। हैजर्ड ने अपने इस विस्तृत ग्रंथ में उस यूरोपीय चेतना के विभावन को अपनाया है जो प्राचीन विधेयवादी प्रणालियों को सर्वथा अग्राह्य था। एतिऐं

गाइलसों[1] जैसा कैथलिक-मतानुयायी लेखक भी साहित्य पर धार्मिकता के प्रभाव की मीमांसा करता हुआ, या ऐबे ब्रेमों अपने विशाल Literary History of the Religious Sentiment in France में प्रकृतवाद की उपेक्षा करते हैं ।

अपेक्षाकृत अधिक सीमित परिधि वाले लुई कजामियाँ ने तो साहित्यिक विवेचनों में अँगरेजी साहित्य के इतिहास के मनोवैज्ञानिक विकास की एक कल्पित योजना निर्मित करन का भी प्रयत्न किया है, जिसमें यह प्रमाणित किया गया है कि अँगरेजों की मानसिक चेतना भावना और बुद्धि के ध्रुवांतों के बीच क्रमशः तीव्रतर होता जानेवाला दोलन है। यह योजना अपने इस निर्दिष्ट व्यवहृत रूप में कहाँ तक सफल है, विवाद्य हो सकता है । साहित्यिक परिवर्त्तनों की जटिल वास्तविकता का इससे कहाँ तक समाधान होता है, यह अवश्य ही विचारणीय है । फिर भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह योजना साहित्य के लिए व्यवहृत इतिहास के प्रायः तात्त्विक दर्शन को प्रस्तुत कर देने का प्रयास था ।

साहित्य के इन इतिहासकारों के अतिरिक्त पाल वान टाइगेम[1] ने 'सामान्य साहित्य' का ऐसा विभावन भी उद्भावित किया है जो तुलनावादियों के द्वारा प्रयुक्त प्रभावों के पृथक्कृत और पृथक्कारी अध्ययन के नितांत प्रतिकूल है, और जो पाश्चात्य यूरोपीय साहित्यिक परम्परा की अन्विति मान लेता है । जहाँ तक इस विद्वान् के सिद्धांत के स्वतः व्यवहृत रूप का प्रश्न है, वह बहुत निराशाजनक और रूढ़ है, क्योंकि वह साहित्यिक प्रचलनों को समस्त यूरोपीय देशों में निरूपित मात्र कर संतोष कर लेता ह ।

फ्रेंच विद्वानों के अपेक्षाकृत अधिक विश्लेषणात्मक विवेचनों में भी दृष्टिकोण के आमूल परिवर्त्तन का अभाव ही है । 'Explication de txtes' की प्रणाली अत्यधिक भाषा-विज्ञानमूलक और निरुक्तशास्त्रीय है और इस कारण वह साहित्यिक अध्ययन की एक उपयोगी पद्धति भर ही मानी जा सकती है । फिर भी यह उल्लेखनीय है कि अधुनातन साहित्यिक विवेचनों में पाठ की ओर लौट चलने का जो स्पृहणीय आंदोलन शुरू हुआ था, उसका प्रारंभ इसी प्रणाली में पाया जाता है ।

टिप्पणियाँ

१। उदाहरणार्थ, Abel Le Franc का Rabelais; Pierre Villey का Montaigne के Essais का संस्करण; Daniel Mornet का Ronsseau के Nouvelle Heloise का संस्कारण ।

२। तीन भाग, पेरिस, १९३४।

३। Les id'ees et les lettres, पेरिस, १९३२ ।

४। L'Histoire du Sentiment religieux en France, पेरिस, १९२३-३३—फ्रेंच में ग्यारह भागों में, अँगरेजी में उल्लिखित आंशिक अनुवाद तीन भागों में, न्यूयार्क १९२८-३६ ।

५। L' Evolution Psychologique de la littérature en Angleterre, पेरिस १९२०; E. Legouis तथा L. Cazamian, Histoire de la littérature anglaise का उत्तरार्ध, पेरिस, १९२४; H. D. Irvine का दो भागों में अँगरेजी अनुवाद, लंदन, १९२६-७ ।

६। "La synthèse en histoire littéraire: Littérature comparée et littérature générale" शीर्षक निबंध Revue de synthèse historique, XXXI, १९२१, में; Le Préromantisme, पेरिस, १९२४-३०, (दो भाग) ।

अध्याय १०

पाश्चात्य साहित्यिक इतिहास : अँगरेजी

अँगरेजी साहित्य के एतिहासिक नियोजन का आरंभ अट्ठारहवीं शताब्दी में हुआ । यह देखना उपयोगी सिद्ध होगा कि इसके आविर्भाव के पूर्व क्या तैयारियाँ जरूरी थीं। सर्वप्रथम आकर साहित्य विषयक तथा जीवनीमूलक सामग्री देखने को मिलती है। सोलहवीं शताब्दी में ही जान लेलैंड और जान बेल ने उन समस्त अँगरेज लेखकों के नामों और कृतियों के शीर्षकों का संकलन किया जिनका पता वे लगा सके । सत्रहवीं शताब्दी में एक आलोचनात्मक परंपरा का उद्‌भव हुआ, जिससे लेखक अच्छे और कम अच्छे में भेद करने में समर्थ हुए । इसी शताब्दी में 'कवि-वृत्त' ('Lives of the Poets') लेखन की परंपरा का भी आरंभ हुआ, जिसका परिणमन, एक शताब्दी बाद, डा० जानसन के 'लाइव्ज आव द पोएट्स' में हुआ । इस काल में पुस्तकालयों का संघटन भी हुआ, जिसके फलस्वरूप प्राचीन ग्रंथ सुलभ हो सके । सन् १६०० के लगभग बोडलियन पुस्तकालय की स्थापना हुई और इसका प्रथम सूची-पत्र १६०५ में प्रकाशित हुआ । आक्सफोर्ड और कैंब्रिज के महाविद्यालयों के हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह सन् १६६७ में एडवर्ड बर्नार्ड के द्वारा सूचीबद्ध हुए । सर राबर्ट काटन का विशाल संग्रह (जो अब ब्रिटिश म्यूजियम का अंग है) सत्रहवीं शताब्दी में उनके तथा उनके वंशजों का व्यक्तिगत संग्रह बना रहा, किन्तु अट्ठारहवीं शताब्दी के आरंभ में वह राष्ट्र की संपत्ति बन गया । हार्लियन संग्रह (Harleian Collection) का सूची-पत्र ब्रिटिश म्यूजियम के संरक्षकों की आज्ञा से, सन् १७५६ में, प्रकाशित हुआ । इसके तीन-चार वर्षों बाद ही टामस वार्टन ने अँगरेजी काव्य के इतिहास लेखन की योजना बनाई, जिसका प्रथम भाग सन् १७७४ में प्रकाशित हुआ । इस कालावधि में आदि युगीन काव्य की प्रकृति तथा काव्य और सभ्यता के परस्पर संबंध के विषय में बहुसंख्य आलोचकों और दार्शनिकों के द्वारा सिद्धांत प्रवर्त्तित किये जा चुके थे। सत्रहवीं शताब्दी के अंत में, जार्ज हिक्स (George Hickes) के अनवरत परिश्रम के फलस्वरूप, पर्याप्त भाषा-तत्त्व संबंधी ज्ञान भी सुलभ हो चुका था ।

साहित्यिक इतिहास के पूर्वावश्यक तत्त्वों में प्रमुख हैं पुस्तकालय, सूची-पत्र, आकर-साहित्य-सूची, जीवनियाँ, कारणत्व और विकास का बोध, तथा भाषाशास्त्रीय ज्ञान । इनके अनिवार्यतः मंद विकास के कारण ही हम देखते हैं कि सर्वत्र, अन्य विषयों के इतिहास की तुलना में, साहित्य के इतिहास का प्रणयन बाद में शुरू हुआ ।

साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन की, इंग्लैंड में, दो ही प्राचीन परंपराएँ पाई जाती हैं। एक विशुद्ध रूप से प्रत्नतात्त्विक[1] है । इसी परंपरा के अंतर्गत डब्लू० डब्लू० ग्रेग और डोवर विलसन जैसे आधुनिकों के अध्ययन आते हैं, जिनका संबंध प्रधानतः शेक्सपियर के पाठ की

मीमांसा पर अवलंबित 'उच्चतर' आलोचना से है। प्रथम महायुद्ध क बाद यह नवीकृत प्राचीन परंपरा बहुत प्रभावशाली बन गई थी।

दूसरी परंपरा है व्यक्तिगत आलोचनात्मक निबंध की, जिसमें बहुधा रुचि-वैचित्र्य का दायित्वशून्य प्रदर्शन ही देखने को मिलता है। इंग्लैंड में, कम-से-कम शास्त्रीय विद्वत्ता के क्षेत्र में, सुनियोजित चिंतन और ज्ञान के विषय में एक ऐसा अविश्वास का भाव देखा जाता है जो, दूसरे देशों की तुलना में, उसकी एक विशेषता ही है। वहाँ के शास्त्रज्ञ सूक्ष्म और जटिल समस्याओं को भरसक टाल जाना पसंद करते हैं। काव्य के संबंध में बौद्धिक मीमांसन को वे एक प्रकार का असंभवप्राय कार्य मान लेते हैं। यह बात विशेषरूप से पुरानी पीढ़ी के विद्वानों के बारे में सच है। यही कारण है कि प्रणाली-विषयक (Methodology) तात्त्विक समस्याओं के संबंध में इंग्लैंड में अत्यल्प खंडन-मंडन हुआ है। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए यह एक उदाहरण पर्याप्त होगा—एच्० डब्लू० गैरड[२] ने निस्संकोच स्वीकार किया है कि 'कविता कुछ सूक्ष्म-सी चीज है या कुछ नहीं है।' इसी तरह उसका यह कथन उदाहरणीय है कि वही आलोचना उत्तम है जो 'तात्त्विक प्रश्नों को लेकर कम-से-कम सर-दर्द मोल लिए बिना' लिखी जाती है। जिन विद्वानों ने साहित्यिक कृतियों की सार्थकता पर गंभीर चिंतन किया भी है, वे या तो आर्थर क्विलर क्वूश[३] की तरह अस्पष्ट धार्मिक रहस्यवाद के, या फिर एफ० एल० ल्यूकस[४] की तरह नंदतिक प्रभाववाद के शिकार बन जाते हैं।

किंतु इनके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया भी हुई है, जो द्विधा-विभक्त हो गई है। इनमें पहली प्रणाली है आइ० ए० रिचर्ड्स की, जो उनकी पुस्तक Principles of Literary Criticism[५] में निरूपित और Practical Criticism[६] में सम्यक् रूप से व्यवहृत हुई है। रिचर्ड्स मूलतः मनोवैज्ञानिक और अर्थवैज्ञानिक हैं। वे कविता के उपचारात्मक प्रभावों और पाठकों की प्रतिक्रियाओं और उनके मनोवेगों के रूप-ग्रहण में अभिरुचि रखते हैं। उनके सिद्धांत के तात्पर्य पूर्णतः प्रकृतवादात्मक और विधेयवादात्मक हैं; कभी-कभी तो वे स्नायु-विज्ञान के प्रच्छन्न कांतार की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करा कर ही संतुष्ट हो जाते हैं। यह समझ पाना कठिन है कि पाठक के ज्ञान का यह कल्पित संतुलन साहित्य के अध्ययन के लिए किस प्रकार उपयोगी सिद्ध हो सकता है, क्योंकि स्वयं रिचर्ड्स को यह स्वीकार करना पड़ा है कि ऐसी मनोदशा एककालीन हो सकती है, या किसी के अंग-संचालन से, एक चमत्कारपूर्ण उक्ति, या एक गीत से भी, उत्पन्न हो सकती है। दिक्कत यह है कि ऐसा कोई भी सिद्धांत, जो सारा भार पाठक के अपने मन के प्रभावों पर छोड़ देता है, मूल्यों की अराजकता और वंध्य अविश्वास तक ही हमें पहुँचा सकता है। रिचर्ड्स ने स्वयं ही इस निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद कहा है कि 'अच्छी कविता को पसंद और बुरी को नापसंद करना उतना जरूरी नहीं है, जितना इसके लिए समर्थ हो सकना कि हम उसके द्वारा अपने मन को सुव्यवस्थित कर सकें।' इसका तात्पर्य तो यह होता है कि कोई कविता हमारी क्षणिक मानसिक आवश्यकताओं के अनुसार ही अच्छी है या बुरी। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि किसी कला-कृति के बाह्य संघटन पर ध्यान न देने से अनिवार्यतः अराजकता ही हाथ लगेगी। यह सौभाग्य की बात है कि अपनी व्यावहारिक आलोचना में रिचर्ड्स प्रायशः अपने सिद्धांत को भूल जाते हैं। जहाँ तक उनकी आलोचना के व्यावहारिक पक्ष का प्रश्न है, सच तो यह है कि उन्होंने कला-कृतियों की सम्पूर्ण अर्थ-विविधता को समझा है, और दूसरों को भी प्रेरित किया है कि वे अर्थ-विश्लेषण के उनके कौशल का प्रयोग नई दिशाओं में करें।

रिचर्ड्स के अनुयायियों में विलियन एम्पसन[7] सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। काव्य की भाषा और आशयों के सूक्ष्म और कभी-कभी अति-विचक्षण विश्लेषणों के प्रचलन का सूत्रपात इन्होंने ही अपनी पुस्तक Seven Types of Ambiguities में किया था। एफ० आर० लेविस[8] ने रिचर्ड्स की पद्धतियों का समझदारी के साथ व्यवहार किया है और उन्हें अँगरेजी काव्य के इतिहास के उस पुनर्मूल्यांकन के साथ समन्वित कर दिया है, जिसका आरंभ टी० एस० एलियट के निबंधों में हुआ था। लेविस ने रिचर्ड्स की काव्य की व्याख्या की पद्धतियाँ तो अपनाई हैं, किंतु उसके छद्म-वैज्ञानिक साधनों का सहारा नहीं लिया है। इसी तरह, लेविस ने आधुनिक सभ्यता के प्रति एलियट का आलोचनात्मक दृष्टिकोण तो अपना लिया है, किंतु वह उसके आँग्ल-कैथोलिकवाद का पिछलगुआ नहीं है। कला-कृति की अन्विति पर उसका जोर देना, परंपरा-संबंधी उसका विभावन, साहित्यिक इतिहास और आलोचना के कृत्रिम पार्थक्यकी उसकी पूर्ण अस्वीकृति—ये सभी विधेयवाद-विरोधी उस आन्दोलन के प्रमुख लक्षण हैं, जो पाश्चात्य साहित्यिक इतिहास-दर्शन की समकालीन विशेषता है। जाफ्रे टिलोट्सन[9] ने The Poetry of Pope[9] में, पोप की कविता के विषय में, रिचर्ड्स के द्वारा उद्भावित कविता की भाषा के सतर्क निरीक्षण की पद्धति कुशलतापूर्वक व्यवहृत की थी। बाद में अपने Essay in Criticism and Research[10] में उसने ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के अस्पष्ट सिद्धांत का भी समर्थन किया है और उसकी व्यावहारिक आलोचना असंबद्ध मंतव्यों के धरातल पर ही रह गई है।

इंग्लैंड में साहित्यिक अयध्यन की एक दूसरी धारा भी लक्षित होती है, जो नव-हेगेलीय-वाद के पुनरुज्जीवन और उसके द्वंद्वात्मक विकास के विभावन से संबद्ध है। सी० एस्० लेविस अपनी पुस्तक Allegory of Love[11] में शैली के इतिहास की विकासात्मक प्रणाली के साथ प्रेम और विवाह के संबंध में मनुष्य की मनोवृत्ति के इतिहास का निपुणतापूर्वक समन्वय कर दिखाते हैं। इसके साथ ही साथ लेविस ने साहित्य के जीवनी प्रधान और मनोवैज्ञानिक अनुबन्ध को आवश्यकता से अधिक महत्व देनेवाले सिद्धांत का भी योग्यता के साथ खंडन किया है। इधर लेविस ने साहित्य की अभिजात रूढ़ियों का समर्थन और आधुनिक साहित्य के प्रायः सभी प्राणवान् तत्त्वों का विरोध किया है।

डब्लू० पी० कर[12] ने अँगरेजी में सबसे पहले इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया था कि शैली का विकास एक निश्चित योजना के अनुसार होता है। मध्ययुगीन साहित्य की विशेषज्ञता उनके इस सिद्धांत की आधार-शिला है। इस सिलसिले में बहुत महत्त्वपूर्ण देन है—एफ० डब्लू० बेटसन की। एक ऐसे साहित्य के इतिहास के विषय में, जो मात्र सामाजिक परिवर्त्तन का दर्पण न हो, इन्होंने ही स्पष्ट जागरूकता दिखाई है। Cambridge Bibliography of English Literature में इन्होंने अन्य विद्वानों के लिए पथ-निर्देश किया है। The English Language and Poetry में बेटसन ने उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहासकारों की इसलिए आलोचना की है कि उन्होंने साहित्य को मात्र सामाजिक शक्तियों का उत्पादन मान बैठने की भूल की थी; किंतु उनकी यह भी शिकायत है कि आधुनिक विद्वानों में विवेक का एकांत अभाव है, और संतुलन का भाव तो रह ही नहीं गया है। किंतु अँगरेजी काव्य के आदर्श इतिहास के संबंध में स्वयं उनका यह मंतव्य कि वह भाषा-वैज्ञानिक परिवर्त्तन के घनिष्ठ संबंध के साथ ही लिखा जा सकता है, बहुत युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके मानी हैं कि साहित्यिक विकास के एकांगी आधार के रूप में किसी एक बाहरी शक्ति को स्वीकृत कर लिया जाय। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि बेटसन ने विधेयवादात्मक पूर्वाग्रहों को अमान्य सिद्ध किया है और वास्तविक साहित्यिक इतिहास की केंद्रगत समस्या निर्दिष्ट कर दी है।

साहित्यिक इतिहास से घनिष्ठ संबंध रखनेवाले विचारों के इतिहास में भी नये दृष्टि-कोण और प्रणालियाँ दीख पड़ने लगी हैं। बेसिल विली का Seventeenth Century Background[13] तो जैसे एलियट के सत्रहवीं शताब्दी की अन्वित चेतना और उसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उसके विघटन के सिद्धांत को उदाहृत करने के लिए ही लिखा गया है। विली की पुस्तक निस्संदिग्ध रूप से मानवीय इतिहास और काव्य के प्रकृतवाद-विरोधी विभावन को प्रस्तुत करती है। समग्ररूप से देखने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि आज भी इंग्लैंड में विधेयवाद का विरोध अव्यवस्थित और छिटफुट है, और जहाँ तक उसके दार्शनिक तात्पर्यों और आधारों का प्रश्न है, अस्पष्ट भी है। सिद्धांत पर यदि कोई चीज छा-सी गई है तो वह है स्नायविक मनोविज्ञान का एक धूमिल रुप। फिर भी यह सत्य है कि इंग्लैंड में भी पुरानी विद्वत्ता के विरुद्ध असंतोष की भावना प्रखर हो उठी है।

टिप्पणियाँ

१। Antiquarianism।

२। The Profession of Poetry, आक्सफोर्ड, १९२९, पृ० ४७; Poetry and the Criticism of Life, आक्सफोर्ड, १९३१, पृ० १५६-७।

३। The Poet as Citizen and other Papers कैंब्रिज, १९३४, पृ० १३४।

४। Life and Letters II, १९२९, में 'Criticism' शीर्षक निबंध; The Criticism of Poetry, लंदन, १९३३।

५। १९२४।

६। १९२९।

७। लंदन, १९३०; Some Versions of Pastoral भी द्रष्टव्य, लंदन, १९३५।

८। How to Teach Reading, लंदन, १९३२; New Bearings in English Poetry, लंदन, १९३२; Revaluation : Tradition and Development in English Poetry, लंदन, १९३६।

९। आक्सफोर्ड, १९३९।

१०। कैंब्रिज, १९४२।

११। आक्सफोर्ड, १९३६; C. S. Lewis तथा E. M. Tillyard, The Personal Heresy : A Controversy, आक्सफोर्ड, १९३४; Rehabilitations, लंदन, १९३९।

१२। Form and Style in Poetry; R. W. Chambers द्वारा संपादित; लंदन, १९३८।

१३। लंदन, १९३४; The Eighteenth Century Background, लंदन, १९४० भी द्रष्टव्य, यद्यपि अपेक्षया कम महत्त्वपूर्ण।

अध्याय ११

पाश्चात्य साहित्यिक इतिहास : रूसी

उन्नीसवीं शताब्दी में एकाधिक रूसी विद्वानों ने तुलनात्मक साहित्येतिहास के क्षेत्र म उल्लेखनीय कार्य किया। इनमें प्रमुख थे अलेग्जांडर वेसेलोव्स्की,[1] जिन्होंने स्लाव-प्रदेशीय लोककथा-साहित्य का आश्रयण कर साहित्यिक रूपों का प्रकृतवादी इतिहास लिखने का प्रयास किया था। इसके अतिरिक्त तदानींतन रूस में एक अध्यात्मवादी अथवा आदर्शवादी आलोचना-पद्धति भी प्रचलित हुई, जिसका निदर्शन निकोले बर्देयेव की दास्तोएवस्की-विषयक[2] पुस्तक में होता है। साहित्यानुशीलन की इस प्रकृतिवादी-जैवी, अथवा धार्मिक-आध्यात्मिक प्रणाली की प्रतिक्रिया में, १९१६ के आस-पास, रूस में एक ऐसे साहित्यिक आंदोलन का आरंभ हुआ जो 'रूपवाद' (Formalism) की संज्ञा से अभिहित किया गया था। यह आंदोलन रूस में प्रचलित उपदेश पर साहित्यालोचन का विरोधी था; कम-से-कम साम्यवादी दल द्वारा निर्धारित मार्क्सवादी ऐतिहासिक भौतिकवाद से पलायन तो था ही। रूपवादियों का संप्रदाय प्रायः १९३० में निषिद्ध घोषित कर दिया गया और अब इसके रूसी अनुयायी नहीं रह गये हैं।

रूपवाद रूसी भविष्यवाद से संबंध रखता था और जहाँ तक प्राविधिक पक्षों का प्रश्न है, नवीन आदर्शवादी भाषिकी (linguistics) से। कला-कृति-विशेष 'उसमें व्यवहृत उपायों की समग्रता है'—यही रूपवादी विभावन था: न केवल छंदःविधान, शैली, रचना, तथा वे सभी तत्त्व जो साधारणतः रूप कहे जाते हैं, अपितु वस्तु-चयन, चरित्र-चित्रण, परिवेश, कथानक, जिन्हें साधारणतः विषय कहते हैं, प्रभाव-विशेष की उपलब्धि के लिए कलात्मक साधन माने जाते हैं। इन उपायों की द्विविध विशेषता है—संघटनात्मक (organizing) और विरूप-णात्मक (deforming)। उदाहरणार्थ, यदि कोई भाषिक तत्त्व (ध्वनि, वाक्य-रचना, आदि) उसी प्रकार प्रयुक्त होता है, जिस प्रकार सामान्य भाषा में, तो वह ध्यान आकृष्ट करने में असमर्थ सिद्ध होगा; किंतु जब एक कवि उसे संघटन-विशेष में आबद्ध कर उसे विरूप करता है, तब वह ध्यान आकृष्ट करता है और इस प्रकार नंदतिक अवगमन का निश्चित आधार बन जाता है। रूपवादी कृति तथा उसकी निश्चित साहित्यिकता को साहित्यिक अध्य-यन का केंद्र बनाते हैं और उसके जीवनीमूलक एवं सामाजिक संबंधों को सर्वथा बाह्य मान कर छोड़ देते हैं। रूपवादियों ने ध्वनि-प्रतिरूपों (sound patterns), विभिन्न भाषाओं की छंद-पद्धतियों, रचना-सिद्धांतों, काव्य की वाक्-सरणियों (diction), आदि, के विश्लेषण के लिए विलक्षण पद्धतियों का प्रवर्त्तन किया है। इनके लिए उन्होंने उस नवीन प्रकार्य भाषिकी (func-tional linguistics) से निकट संबंध रखा, जिसने स्वनग्रामिकी (phonemics) को विकसित किया और जो अब अमरीका में प्रश्रय पा रही है। रोमन जैकोब्सन[3] ने मात्र श्रौत (acoustic) या संगी-तात्मक पद्धतियों को अस्वीकृत कर, तथा विभिन्न भाषाओं के अर्थ और उनकी ध्वनिशास्त्रीय प्रणाली के निकट संबंध में अध्ययन करते हुए, छांदिकी (metrics) को एक नया आधार दिया है।

विक्तर श्क्लोव्स्की[४] ने गल्प के प्रकारों तथा उनके प्राविधिक साधनों को साधारण समय-क्रम का विरूपण, कार्य के विलंबन के लिए बाधाओं का संकलन, आदि, वाक्यों की सहायता से विश्लिष्ट किया है । ओसिप ब्रिक[५] ने बड़ी विचक्षणता के साथ ध्वनि-प्रतिरूपों का अध्ययन किया है । उसके अनुसार ध्वनि-प्रतिरूप वाक्-सरणि और छंद से प्रभावित होते हैं और उन्हें प्रभावित करते हैं । विक्तर झिरमुंस्की[६] तथा बोरिस तोमाशेव्स्की[७] ने रूसी पद्य-रचना के सिद्धांत और इतिहास का अध्ययन किया है । एखेनबाम[८] और टिनयान्योव ने रूसी साहित्यिक कृतियों के अनुशीलन में इन प्रविधियों का व्यवहार किया है और रूसी साहित्य के इतिहास पर नया प्रकाश डाला है । रूसी रूपवादियों ने बड़ी दृढ़ता और स्पष्टता के साथ यह विभावित किया है कि साहित्येतिहास साहित्य में प्रतिबिंबित आचार-व्यवहार और सभ्यता का इतिहास मात्र नहीं है । हेगेल और मार्क्स की द्वांद्विकी (dialectic) से उन्होंने लाभ उठाया है, किंतु इसके साधारणीकृत पूर्वाग्रह का परित्याग करते हुए, उन्होंने साहित्यिक रूपों और साधनों के इतिहास विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से लिखे हैं । उनके लिए साहित्येतिहास, साहित्यिक परंपरा और साहित्यक साधनों का इतिहास है । वे प्रत्येक कला-कृति का, उसे प्राग्भावी कला-कृतियों की पृष्ठभूमि के समक्षर रख कर या उनकी प्रतिक्रिया के रूप में, अध्ययन करते हैं, क्योंकि रूपवादियों की मान्यता है कि साहित्येतिहास के विकास की प्रक्रिया स्वतः विकसमान होती है और समाज के इतिहास या लेखकों के वैयक्तिक अनुभवों से उसका मात्र बाह्य संबंध ही रहता है । उनकी दृष्टि में साहित्य के नवीन रूप निकृष्ट रूपों के चरम उत्कर्ष होते हैं । उदाहरणार्थ, दास्ताएव्स्की के उपन्यास मात्र उदात्त अपराध-कथाएँ (crime-stories) हैं और पुश्किन की गीतियाँ गरिमा-मंडित कैशोर पद्य ।

अपेक्षया संयत रूपवादियों ने 'पुश्किन पर बायरन का प्रभाव' जैसी परंपरागत समस्याओं पर श्लाघ्य कार्य किये हैं । उदाहरणार्थ झिरमुंस्की इन दोनों कवियों के समानांतर अंशों में पहले पर दूसरे का प्रभाव न मान कर, यह विभावित किया है कि यह दो समग्रताओं का संबंध है । जो अतिवादी रूपवादी हैं, उन्होंने अत्युक्ति और संकीर्ण पूर्वाग्रह से भी काम लिया है । जो भी हो, रूपवादियों को यह श्रेय तो है ही कि उन्होंने साहित्य के शासकीय मान्यता प्राप्त मार्क्सवादी दृष्टिकोण को कियदंश में संतुलित बनाये रखा ।

साधारणतः मार्क्सवादी साहित्यालोचक एक प्रकार का नव-विधेयवादी ही होता है । वह विचक्षणता के साथ साहित्यिक कृति-विशेष को आर्थिक प्रगति के स्तर-विशेष से संलग्न सिद्ध करता है । वह बड़े सतही विधेयवादी ढंग से समाज और साहित्य के कार्य-कारण संबंध को प्रस्तुत करता है । अवश्य इसके अपवाद भी हैं । सैक्युलिन अपने History of Russian Literature[१०] में, उदाहरण के लिए, सामाजिकी (sociology) में ही रुचि रखने के बावजूद, साहित्यिक बना रहता है । जिस पाठक समुदाय और वर्ग पर प्रभाव पड़ा और जिस सामाजिक स्तर से साहित्यकारों का आविर्भाव हुआ, उनके निकटतम संबंध में रूसी साहित्य को रख कर, सैक्युलिन ने उसके इतिहास का निर्धारण किया है । सैक्युलिन ने रूसी साहित्येतिहास की प्रक्रिया को साहित्य और समाज के द्वंद्वात्मक तनाव के रूप में देखा है, और यह प्रमाणित किया है कि समाज का निम्नतर वर्ग रूसी साहित्य के उत्पादन में क्रमशः अधिकाधिक हिस्सा लेता चला गया ।

टिप्पणियाँ

१। Alexander Veselovsky: Iztoricheskaya Poetika (Historical Poetics), सं०, V. Zhirmunski, लेनिनग्राद, १९४० ।

२। Nikolay Berdayev : Dostoyevsky; फ्रांसीसी से Donald Attwater द्वारा अँगरेजी में अनूदित; न्यूयार्क, १९३४ ।

३। विशेषत: द्रष्टव्य—O Cheshskom stiche (चेक पद्य के विषय में), बर्लिन १९२३; Halle, Morris, आदि द्वारा संपादित, For Roman Jakobson: Essays on the Occasion of his Sixtieth Birthday, The Hague, १९५६ ।

४। Teoriyi prozy (गद्य का सिद्धांत), मास्को, १९२५ ।

५। Opoyaz : Sbornik pro teoriyi poeticheskogo jazyka (काव्य की भाषा के सिद्धांत पर विचार-संकलन) में निबंध, लेनिनग्राद, १९१६, १९१७ और १९१९ ।

६। Viktor Zhirmunsky, Rifma, yeye istoria iteoriya (पद्य-रचना : उसका इतिहास तथा सिद्धांत), लेनिनग्राद, १९२३; Byron Pushkin, लेनिनग्राद, १९२४ ।

७। Boris Tomashevsky, Ruskoye stikhoslozhenye (रूसी छांदिकी), लेनिनग्राद, १९२३; Teoriya literatury, लेनिनग्राद, १९२५ ।

८। BorisAikhenbaum, Molodoy Tolstoy (युवक ताल्सताय), लेनिनग्राद, १९२२; Literatura : teyoriya, kritika, polemika, लेनिनग्राद, १९२६; Lev Tolstoy, दो भाग, लेनिनग्राद, १९३१ ।

९। Yuryi Tinyanyov, Problema stikhotvornogo jazyka (काव्य-भाषा की समस्या), लेनिनग्राद, १९२४ ।

१०। Oskar Walzel के Handbuch der Literaturwissenschaft में, Geschichte der russischen Literatur, बर्लिन, १९२७ ।

समान्यतः द्रष्टव्य

B. Arbatov, Art and Class, १९२२; N. Beridaev, The Crisis for Art, १९१७; A. Bogdanov, Elements Proletarski kulturi (सर्वहारा-संस्कृति के तत्त्व), १९२०; Brucksohn, Problema teatral'nostü (रंगमंच की समस्या), १९२३; A. Cicagovka, Constructivism, १९२३; A. Efros, The Spirit of Classicishm, १९२२; J. Ehrensburg, Poesiia revolutsionnoi (क्रांतिवादी काव्य), १९२१; वही, Poesiia bolshevistkikh dnei (बोलशेविक काव्य) १९२१; The Charter of Expressionism, १९१९; W. Evgenev Maximov, From Symbolism to October, १९२३; Imagism, १९१९; P. M. Kershentsev, The Creative Theatre, १९२२; Lvov Rogachevski, Sketches for the History of Recent Russian Literature, १९२३; वही, The Poetry of the New Russia, १९१९; वही, The Imagists and the Ikon Bearers; R. L. Mandelstamm, Khudozhestvennaia Literatura v tsenke russoimarxistkoi Kritiki (रूसी-मार्क्सवादी आलोचना के निर्णय के संबंध में निबंध), १९२३; Neoclassicism (नवश्रेण्यवादियों की घोषणा, अट्ठारह हस्ताक्षर), १९२३; The Manifesto of the Nichevoists, १९२३; A. Sviatogov, Biocosmic Poetry, १९२१; L. Trotski, Literature and Revolution, १९२४ ।

अध्याय १२

पाश्चात्य साहित्यिक इतिहास : पोलिश और चेक

रूसी रूपवाद ने प्रतिवेशी देशों के वैदुष्य को भी पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया। पोलैंड के रोमन इंगार्डेन[१] ने काव्य-कला का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उसके अनुसार कोई भी काव्य-कृति स्तरों की पद्धति है—वह ध्वनि-प्रतिरूप से उन दार्शनिक गुणों की ओर उठती है, जो अंततः उसकी समग्रता से आविर्भूत होते हैं। इंगार्डेन की अभिरुचि साहित्येतिहास से अधिक दर्शन में है; किंतु उसके विपरीत जो प्रचलित प्राविधिक साहित्येतिहास था, वह आदर्शात्मक और राष्ट्रीयतावादी था। इनसे भिन्न मैनफ्रेड क्रिड्ल[२] ने रूसी पद्धतियों को अपनाते हुए अनेक रूपवादी अध्ययन प्रस्तुत और प्रेरित किये। उसने साहित्येतर पद्धतियों से विहित साहित्यानुशीलन का तीव्र विरोध किया है। उसकी 'सांग साहित्यिक' ('integrally literary') पद्धति साहित्य के सामाजिक संदर्भ को गौण मानती है और सामान्य साहित्येतिहास में पाये जानेवाले पद्धति-विषयक मिश्रण की कटु आलोचना करती है।

चेकोस्लोवाकिया को तो सर्वाधिक मौलिक रूसी रूपवादी, रोमन जैकोबसन, की सेवाएँ ही प्राप्त हुई थीं। जैकोबसन ने चेक विद्वानों के एक ऐसे वर्ग का नेतृत्व प्राप्त किया, जिसने उसके आगमन के पूर्व ही साहित्यानुशीलन की ऐतिहासिक, आदर्शात्मक अथवा मनोवैज्ञानिक पद्धतियों का विरोध आरंभ कर दिया था।

वाइलेम मैथेसियस (Vilém Mathasius) की अध्यक्षता में, १९२६ में, संगठित प्राहा भाषिकी केंद्र (Prague Linguistic Circle) के सदस्यों ने रूसी रूपवादियों की अध्ययन-पद्धतियों को नई सामग्रियों के अनुशीलन के लिए तो व्यवहृत किया ही, इसके अतिरिक्त उन्हें अधिक दार्शनिकोचित रीति से विकसित करने का भी प्रयास किया। उन्होंने 'रूपवाद' शब्द के स्थान पर 'संस्थानवाद' ('Structuralism') को अपनाया, और विशुद्ध रूपवादी पद्धति के साथ समाजशास्त्रीय एवं आदर्शवादी पद्धतियों का समन्वय किया। जान मुकारोवस्की[३] इनमें सर्वाधिक उल्लेख्य है। उसने अनेक काव्य-कृतियों के मौलिक अध्ययन, और चेक छांदिकी तथा वाक्सरणि का इतिहास तो प्रस्तुत किये ही हैं, साथ ही साथ उसने प्रतीकात्मक रूपों के समग्र दर्शन के साथ रूपवादी सिद्धांत को समन्वित करने का प्रयास किया है, तथा उसे एक ऐसे सामाजिक दृष्टिकोण से संबद्ध करने का विभावन किया है, जो सामाजिक और साहित्यिक विकास को एक द्वंद्वात्मक तनाव के रूप में देख सके। साहित्यिक अनुशीलन की नई दिशा आधुनिक भाषिकी तथा दर्शन के ऐसे सहयोग से ही कदाचित् उद्घाटित हो सकती है।

टिप्पणियाँ

१। Das dichterische Kunstwerk, Halle, १९३१; O. Poznawaniu dziela literackiego (साहित्यिक कला-कृति के जानने के बारे में), Lwów, १९३७।

२। Wstep do badan nad dzielem literackiem (साहित्यिक कला-कृति के अनुशीलन की भूमिका), Wilno, १९३६; A Survey of Polish Literature and Culture, १९५६।

३। Mâchuv Mài Estetickà stud.ie, Prague, १९२८; Esteticka funkce, norma a hodnota jako sociàlné fakty (सामाजिक तथ्यों के रूप में नंदतिक प्रकार्य, रूप तथा मूल्य), Prague, १९३६; "L' Art comme fait sémiologique" (दशम अंतरराष्ट्रीय दर्शन-कांगरेस के लिए निबंध, प्राहा, १९३४)।

अध्याय ८–१२ : सामान्यतः द्रष्टव्य

Phillipe van Tieghem, Novvelles tendances en histoire littèraire, Paris, १९३०; J. Peter.en, Die Wessen bestimmung der deutschen Romantik, Leipzig, १९२६; Werner Mahrholz, Literaturgeschichte und Literatur wissenschaft, द्वि० सं०, Leipzig, १९३२; Martin Schütze, Academic Illusions, Chicago, १९३३; H. Rossner, Georgekreis und Literaturwissenschaft, Frankfurt, १९३८; Horst Oppel, Die Literaturwissenschaft in der Gegenwart Stuttgart, १९३९; V. Zhirmunsky, "Form problems in der russischen Literaturwissenschaft '(Zeitschrift für slavische Philology I, १९२५, में); Nina Gourfinkel, "Nouvelles methodes d' histoire littéraire en Russie" (Le Monde Slave, VI, १९२९, में); Manfred Kridl, "Russian Formalism", (American Bookman, I, १९४४ में)।

अध्याय १३

हिंदी साहित्य का इतिहास-दर्शन

(१)

हिंदी साहित्य का पहला इतिहास-लेखक गार्सां द तासी था, यह निर्विवाद है। उसका ग्रंथ, Historie de la Literature Hindoui Hindustanee फ्रेंच भाषा में लिखा गया था और इसमें मुख्यतः हिंदू-उर्दू कवियों के विवरण हैं, यद्यपि इनसे इतर भाषाओं के कवियों का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। इसके प्रथम संस्करण का प्रथम भाग १८३९ में प्रकाशित हुआ था और दूसरा १८४७ में। पुस्तक का दूसरा और परिवर्धित संस्करण १८७०-७१ में प्रकाशित हुआ था। दोनों संस्करणों की भूमिकाओं आदि के साथ इस पुस्तक के 'हिंदुई' वाले अंश का हिंदी अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय[1] ने किया है।

अनुवादक की धारणा है कि "प्रस्तुत अनुवाद उनके (तासी के) ग्रंथ में से हिंदुई से संबंधित अंश का सर्वप्रथम अनुवाद है। उनके इस ग्रंथ का पूर्ण या आंशिक अनुवाद न तो अँगरेजी में है और न अन्य किसी भारतीय भाषा में।" इस धारणा का खंडन करते हुए महादेव साहा और श्रीनारायण पांडेय[2] ने अपने एक लेख में इस नवीन तथ्य का उद्घाटन किया है कि फैलन और करीमुद्दीन १८४८ में ही तासी की पुस्तक के प्रथम संस्करण का उर्दू में अनुवाद किया था, और वस्तुतः तासी ने अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण में इस अनुवाद से अपना परिचय भी प्रकट किया है। फैलन और करीमुद्दीन ने ग्रंथ के मुख-पृष्ठ पर के वक्तव्य में पुस्तक को 'A History of Urdu Poets' तो कहा है, पर उन्होंने अनेक हिंदी कवियों के भी विवरण दिये हैं और अपनी ओर से नई बातें जोड़ी हैं।

तासी की पुस्तक का महत्त्व बहुत कुछ इसी कारण है कि वह हिंदी का सर्वप्रथम साहित्यिक इतिहास है। तासी का कवि-वृत्त काल-क्रमानुसारी न होकर वर्णक्रमानुसारी है और लेखक ने साहित्यिक प्रवृत्तियों आदि का निरूपण नहीं किया है, "यद्यपि जैसा कि उनकी भूमिका से ज्ञात होता है, वे इस क्रम से अपरिचित नहीं थे और कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण ही वे ऐसा करने में असमर्थ रहे।"[3] वास्तविकता यह है कि परवर्त्ती शिवसिंह सरोज की तरह तासी की पुस्तक में विवरण की प्रधानता तो है, किंतु एकाधिक दृष्टियों से साहित्य के विभिन्न रूपों के वर्गीकरण का भी यत्किंचित् प्रयास अवश्य है। उदाहरणार्थ, तासी कहता है—"हिंदी रचनाएँ चार भागों में विभाजित की जा सकती हैं। (१) आख्यान, (२) आदि काव्य, (३) इतिहास, (४) काव्य।"[4] इसी प्रकार पद्य-प्रकारों का यह वर्गीकरण भी महत्त्व का अधिकारी है, जिसमें इनका उल्लेख है—अभंग, आल्हा, कड़खा, कबित या कबिता, कहर्वा, मलार,

कीर्तन, कंडल्या या कुंडर्या, गान, गाली, गीत, गुजरी, चतुरंग, चरण, चरणाकुल-छंद, चुटकुला, चौपाई, इत्यादि ।[५]

इस प्रकार के वर्गीकरण के प्रयत्न के पीछे फ्रेंच वैदुष्य स्पष्ट ही अनुमेय है । यह दूसरी बात है कि हिंदी कृतियों के कामचलाऊ विवरण तक के अभाव में वर्गीकरण का कोई सम्यक् प्रयास संभव ही नहीं था और तासी को वर्णानुक्रमानुसारी विवरण से ही संतुष्ट रहना पड़ा ।

टिप्पणियाँ

१। हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५३ ।
२। 'हिंदी साहित्य का एक प्राचीन इतिहास', कल्पना, अक्तूबर, १९५६ ।
३। वार्ष्णेय, 'अनुवादक की ओर से', पृ० ख ।
४। उपरिवत्, भूमिका, पृ० २०, ६३ ।
५। उपरिवत्, पृ०पृ० २२-२८, ६४-७१ ।

(२)

साहित्येतिहास के क्षेत्र में हिंदी में पहला प्रयास शिवसिंह कृत 'सरोज' नामक वृत्त-संग्रह माना जाता रहा है। उसका प्रकाशन १८८३[१] में हुआ और उसमें एक सहस्र कवियों का संक्षिप्त परिचय तथा उनकी रचनाओं के उदाहरण हैं। भक्तमाल आदि प्राचीन भक्त-चरितों तथा काव्य-संग्रहों के अतिरिक्त, माताप्रसाद गुप्त शिवसिंह सेंगर के पूर्व की प्रायः दस कृतियों का उल्लेख 'साहित्य का इतिहास--तत्कालीन' के अंतर्गत करते हैं।[२] रामकुमार वर्मा ने 'सरोज' के पूर्व की और दो कृतियों का उल्लेख किया है--महेशदत्त का काव्य-संग्रह तथा मातादीन मिश्र का कवित्त-रत्नाकर।[३] वस्तुतः 'सरोज' के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में प्रायः उदाहरण ही मिलते हैं, यद्यपि कुछ में कवियों के जीवन-चरित भी प्राप्य हैं। 'सरोज' का महत्त्व प्राचीनता तथा परिमाण दोनों दृष्टियों से है।

जहाँ तक साहित्येतिहास के रूप में सरोज के महत्त्व का प्रश्न है, यह ग्रंथ सही अर्थ में कवि-वृत्त-संग्रह भी नहीं कहा जा सकता, साहित्यिक इतिहास तो दूर की बात है; क्योंकि कवियों का जन्म-काल आदि के संबंध में जो विवरण हैं, वे भी अत्यंत संक्षिप्त और बहुधा अनुमान पर आश्रित हैं। फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि ग्रियर्सन ने 'Modern Vernaculer Literature of Northern Hindustan'[४] में 'सरोज' को ही आधार बनाया है, और इसके अभाव में मिश्रबंधुओं को 'विनोद' तैयार करने में काफी कठिनाई होती।

टिप्पणियाँ

१। शुक्लजी के अनुसार; माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी पुस्तक साहित्य में, १८७८ बताते हैं।
२। हिंदी पुस्तक साहित्य, हिंदुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद, १९४५।
३। हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १९ तृ० सं०, १९५४।
४। १८८९।

(३)

तासी और शिवसिंह के बाद ग्रियर्सन ने 'द माडर्न वर्नेक्युलर लिट्रेचर आव हिंदुस्तान'[१] नामक हिंदी साहित्य का इतिहास अँगरेजी में प्रस्तुत किया। वह विवरणों की दृष्टि से मुख्यतः 'सरोज' पर, और अंशतः तासी के ग्रंथ पर भी, अवलंबित होने के बावजूद, पर्याप्त नई सामग्री से लाभान्वित हुआ। ग्रियर्सन ने अपने प्राग्भावी इन दोनों इतिहासकारों के प्रति अपना आभार प्रकट किया है—"गार्सां द तासी की विभिन्न कृतियाँ, मुख्यतया 'हिंदुई और हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास' जाँच के लिए प्रायः देखे गये हैं और जब मेरे द्वारा संकलित सूचना उनकी सूचना से भिन्न हुई है, तब मैंने ठीक तथ्य का निश्चय करने के लिए कोई भी श्रम बाकी नहीं उठा रखा है"[२] तथा "एक देशी ग्रंथ जिसपर मैं अधिकांश में निर्भर रहा हूँ और प्रायः सभी छोटे कवियों और अनेक प्रसिद्ध कवियों के भी संबंध में प्राप्त सूचनाओं के लिए जिसका मैं ऋणी हूँ, शिवसिंह सेंगर द्वारा विरचित और मुंशी नवलकिशोर, लखनऊ, द्वारा प्रकाशित (द्वितीय संस्करण, १८८३) अत्यंत लाभदायक 'शिवसिंह सरोज' है।...निम्नांकित में से अधिकांश 'सरोज' के आधार रहे हैं।...जब सभी उपाय असफल सिद्ध हुए, अनेक बार 'सरोज' ही मेरा पथ-प्रदर्शक रहा है।"[३]

सच तो यह है कि विवरणों के लिए ग्रियर्सन ने प्रायशः 'सरोज' का अनुसरण किया है और बहुधा इस ग्रंथ का शाब्दिक अनुवाद कर दिया है—ठीक आशय समझे बिना भी। ग्रियर्सन की पुस्तक के हिंदी अनुवादकर्त्ता ने इसके अनेक उदाहरण दिये हैं—

"गुमान मिश्र ने प्रसिद्ध नैषधचरित का हिंदी पद्यानुवाद 'काव्य-कलानिधि' नाम से प्रस्तुत किया था। इस अनुवाद की प्रशंसा करते हुए सरोजकार लिखता है—'पंचनली, जो नैषध में एक कठिन स्थान है, उसको भी सलिल कर दिया।' इसका जो अनुवाद ग्रियर्सन ने किया है, उसका हिंदी रूपांतर यह है—'इन्होंने पंचनलीय पर, जो नैषध का एक अत्यन्त कठिन अंश है, सलिल नाम की एक विशेष टीका लिखी।' ग्रियर्सन को इस संबंध में संदेह था। अतः उन्होंने इस सलिल पर यह पाद-टिप्पणी दे दी है—'अथवा शिवसिंह का, जिनसे मैंने यह लिया है, यह अभिप्राय है कि उन्होंने पंचनलीय को बिलकुल पानी की तरह स्पष्ट कर दिया है।'

चतुरसिंह राजा के संबंध में शिवसिंह ने लिखा है—'सीधी बोली में कवित्त हैं।' उदाहरण से स्पष्ट शिवसिंह का अभिप्राय खड़ी बोली से है। ग्रियर्सन ने सीधी बोली का अनुवाद 'सिंपुल स्टाइल' किया है।

इसी प्रकार शिवसिंह ने नृप शंभु कवि के संबंध में लिखा है—'इनकी काव्य निराली है।' सरोज में काव्य सर्वत्र स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है। ग्रियर्सन ने निराली को ग्रंथ समझ लिया है।"[४]

तिथियों के संबंध में भी, अन्य प्रामाणिक सामग्री के अभाव में, ग्रियर्सन को सामान्यतः सरोज का ही आश्रयण करना पड़ा है। फिर, जैसा किशोरीलाल गुप्त ने सरोज संबंधी अपने अनुसंधान-कार्य के सिलसिले में पाया है, "ग्रियर्सन ने सरोज के 'उ०' का अर्थ 'उत्पन्न' करके सरोज में दिये संवतों को जन्म-काल माना है। सर्वेक्षण से जिन संवतों की जाँच संभव हो सकी है, उनमें से अधिकांश उपस्थिति-संवत् सिद्ध हुए हैं।"[५] किंतु ग्रियर्सन ने स्वयं भी यह संकेतित किया है—"शिवसिंह बराबर तिथियाँ देते गये हैं और मैंने उनको सामान्यतया पर्याप्त ठीक पाया है। हाँ, वे नियमतः प्रसंग-प्राप्त

कवि की जन्म-तिथि ही सर्वत्र देते हैं, जब कि अनेक बार ये तिथियाँ उक्त कवियों के प्रमुख ग्रंथों के वस्तुतः रचना-काल हैं। फिर भी सरोज की तिथियों का कम-से-कम इतना मूल्य तो है कि किसी अन्य प्रमाण के अभाव में हम पर्याप्त निश्चित रहें कि प्रसंग-प्राप्त कवि उस तिथि को, जिसको शिवसिंह ने जन्म-काल के रूप में दिया है, जीवित था।"[६]

विवरणों तथा तिथियों के संबंध में सरोज का अधमर्ण होने पर भी, ग्रियर्सन की पुस्तक, किंचदंश में ही सही, युग-विभाजन, पृष्ठभूमि-निर्देश, सामान्य-प्रवृत्ति-निरूपण तथा तुलनात्मक आलोचना एवं मूल्यांकनविषयक प्रयासों, तथा विवेचन की साहित्यिकता के कारण, यदि 'हिंदी का प्रथम साहित्यिक इतिहास'[७] माना जाय, तो यह उचित ही है।

हिंदी अनुवादकर्त्ता ने पुस्तक के महत्त्व की ईषत् अतिरंजित श्लाघा करते हुए कहा है, "यह हिंदी साहित्य की नींव का वह पत्थर है, जिस पर आचार्य शुक्ल ने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास का भव्य भवन निर्मित किया। इस इतिहास-ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसने प्रारंभिक खोज-रिपोर्टों एवं मिश्रबंधु-विनोद को पूर्णतः प्रभावित किया है। शुक्लजी के इतिहास के प्रकाश में आने के पूर्व एक युग था, जब यह ग्रंथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण समझा जाता था।"[८]

अनुवादक ने 'ग्रियर्सन के ग्रंथ का महत्त्व' प्रतिपादित करते हुए पुनः इस बात पर जोर दिया है —

"इस ग्रंथ में हिंदी साहित्य के इतिहास के विभिन्न काल-विभाग भी दिये गये हैं। विनोद में बहुत कुछ इन्हीं काल को स्वीकार कर लिया गया है।

प्रत्येक काल की तो नहीं, कुछ कालों की सामान्य प्रवृत्तियाँ भी दी गई हैं, यद्यपि यह विवरण अत्यंत संक्षिप्त है।"[९]

जहाँ तक मिश्रबंधुओं का प्रश्न है, उन्होंने 'संवतों एवं ग्रंथों के नाम' के लिए जिन पूर्ववर्त्ती कृतियों को अपना आधार माना है, उनमें ग्रियर्सन के इतिहास का[१०] भी उल्लेख किया है। मिश्र-बंधुओं ने अपने काल-विभाजन के लिए ग्रियर्सन के प्रति आभार प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं समझी है, और कोई कारण नहीं है कि उनके लिए ऐसा करना उचित होता। मिश्रबंधुओं का काल-विभाग इस प्रकार है —

पूर्वारंभिक काल (सं० ७००–१३४३)
उत्तरारंभिक काल (सं० १३४४—१४४४)
पूर्वमाध्यमिक काल (सं० १४४५—१५६०)
प्रौढ़ माध्यमिक काल (सं० १५६१—१६८०)
पूर्वालंकृत काल (सं० १६८१—१७९०)
उत्तरालंकृत काल (सं० १७९१—१८८९)
अज्ञात काल ('प्रायः उत्तरालंकृत एवं परिवर्त्तन काल के'[११])
परिवर्त्तन काल (सं० १८९०—१९२५)
वर्त्तमान काल (सं० १९२६—)
ग्रियर्सन का, इसमें भिन्न काल-विभाजन, एवंविध है —
चारण काल

पंद्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण
मलिक मुहम्मद जायसी की प्रेम-कविता
ब्रज का कृष्ण-संप्रदाय
मुगल-दरबार
तुलसीदास
रीति-काव्य
तुलसीदास के अन्य परवर्त्ती
अट्ठारहवीं शताब्दी
कंपनी के शासन में हिंदुस्तान
महारानी विक्टोरिया के शासन में हिंदुस्तान

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ग्रियर्सन तथा मिश्रबंधुओं के काल-विभाजन में विशेष साम्य नहीं है। किंतु यह सत्य है कि ग्रियर्सन की योजना शुक्लजी के द्वारा, अवश्य अधिक व्यवस्थित बनाकर, अपनाई गई है। शुक्लजी का सुपरिचित काल-विभाजन इस प्रकार है —

वीरगाथा-काल
पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल)
  निर्गुणधारा (ज्ञानाश्रयी शाखा)
  निर्गुणधारा (प्रेममार्गी सूफी शाखा)
  सगुणधारा (रामभक्ति-शाखा)
  सगुणधारा (कृष्णभक्ति-शाखा)
उत्तर-मध्यकाल (रीतिकाल)
आधुनिक काल
  गद्य
  काव्य-रचना

काल-विभाग की इस योजना पर स्पष्टतः न केवल ग्रियर्सन, बल्कि मिश्रबंधुओं की योजना की भी छाप है, यद्यपि शुक्लजी ने प्रथम का तो केवल नामोल्लेख किया है और दूसरे की अनावश्यक कटुता के साथ आलोचना ही की है।[१२] शुक्लजी ने प्रायः सभी मुख्य कालों के अंत में 'फुटकल रचनाएँ,' 'अन्य कवि' के अंतर्गत काल-विशेष की मुख्य प्रवृत्ति से भिन्न धाराओं के कवियों का विवरण दिया है; ग्रियर्सन ने इसके लिए अपने विभिन्न कालों से संबद्ध परिच्छेदों के अंत में 'परिशिष्ट' दे दिये हैं।

वस्तुतः इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हिंदी के विधेयवादी साहित्येतिहास के आद्य प्रवर्त्तक शुक्लजी नहीं, प्रत्युत ग्रियर्सन हैं। मिश्रबंधु-विनोद की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रीति से आलोचना करते हुए भी शुक्लजी ने स्वीकार किया है कि "कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः मिश्रबंधु-विनोद से ही लिये हैं";[१३] किंतु आभ्यंतर साहित्यिक प्रवृत्तियों और बाह्य परिस्थितियों के बीच कार्य-कारण-संबंध निरूपित करने के प्रयास के श्रेय का अधिकारी उन्होंने अपने से पूर्व के किसी विद्वान् को नहीं माना है। इस संबंध में उनकी घोषणा है—

'इधर जब से विश्वविद्यालयों में हिंदी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ, तब से उसके साहित्य के विचार-शृंखलाबद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनों कर रहे थे। शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्त्तन होते आये हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्य-धारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किये हुए सुसंगत काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था। सात-आठ सौ वर्षों की संचित ग्रंथ-राशि सामने लगी हुई थी; पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्भावना नहीं हुई थी, जिनके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता। भिन्न-भिन्न शाखाओं के हजारों कवियों की केवल काल-क्रम से गुथी उपर्युक्त वृत्त-मालाएँ (ग्रियर्सन और मिश्रबंधु की) साहित्य के इतिहास के अध्ययन में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थीं; सारे रचना-काल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खंडों में आँख मूंदकर बाँट देना—यह भी न देखना कि किस खंड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं—किसी वृत्त-संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।"[१४] इसमें मिश्रबंधुओं पर निक्षिप्त व्यंग्य स्पष्ट ही है, और यह भी कहा जा सकता है कि ग्रियर्सन के प्रयास की जान-बूझकर उपेक्षा की गई है।

ग्रियर्सन को हिंदी के विधेयवादी साहित्येतिहास के सूत्रपात का श्रेय मिलना क्यों उचित है, यह इन उद्धरणों से स्फुट हो जायगा —

(क) "ग्रंथ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय सामान्यतया एक काल का सूचक है। भारतीय भाषा-काव्य के स्वर्ण-युग, १६वीं एवं १७वीं शती, पर मलिक मुहम्मद की प्रेम-कविता से प्रारंभ करके, व्रज के कृष्णभक्त कवियों, तुलसीदास के ग्रंथों (जिन पर अलग से एक विशेष अध्याय ही लिखा गया है) और केशवदास द्वारा स्थापित कवियों के रीति-संप्रदाय को सम्मिलित करके कुल ६ अध्याय हैं, जो पूर्णतया समय की दृष्टि से नहीं विभक्त हैं, बल्कि कवियों के विशेष वर्गों की दृष्टि से बँटे हैं।"[१५]...

(ख) "मलिक मुहम्मद के साथ हिंदुस्तान के भाषा-साहित्य का शैशव-काल समाप्त समझा जा सकता है। विशाल देव के इस बच्चे में अब स्पंदन हुआ और इसे विदित हुआ कि अब यह दृढ़ और सबल हो गया है और गृद्ध के समान अपनी उड़ान लेने के लिए उसने अपने तरुण स्फूर्त्तिमान् पंख पसार दिये। प्रारंभिक राजपूत चारणों ने संक्रमण-काल में एक ऐसी भाषा में रचना की थी, जिसको ठीक-ठीक या तो उत्तरकालीन प्राकृत अथवा राजपूताना की आधुनिक भाषा का प्राचीन रूप कहना सर्वथा कठिन है। यह शैशवावस्था थी। फिर तरुणाई आई, जब बौद्ध धर्म द्वारा गृहीत स्थान को ग्रहण करने के लिए एक जन-प्रिय धर्म का प्रादुर्भाव हो रहा था और अभिनव सिद्धांतों के प्रवर्त्तक महात्माओं को उस बोली में लिखना आवश्यक हो गया, जिसे सर्वसाधारण समझता था। मलिक मुहम्मद और दोनों वैष्णव संप्रदायों के गुरुओं को अपना पथ निर्मित करना था और वे अनिश्चय के साथ इस दिशा में अग्रसर हो रहे थे। जब वे लोग रचना कर रहे थे, उस समय बोली जानेवाली भाषा प्रकृत्या वही थी, जो आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में बोली जाती है, और उन्हें वही हिचक हुई होगी, जो

स्पेंसर और मिल्टन को अपनी भाषा में लिखने में हुई थी।...प्रारंभिक भाषा-कवियों ने बड़ा साहस किया और उन्हें सफलता मिली।"[१६]

(ग) "सोलहवीं तथा सत्रहवीं शती हिंदुस्तानी भाषा-साहित्य का श्रेष्ठ युग है। इस देश का प्रायः प्रत्येक महान् साहित्यकार इसी युग में हुआ। इसके महान् लेखक एलिजाबेथयुगीन हमारे महान् लेखकों के समकालीन थे। हम अँगरेजों को यह जानना बड़ा मनोरंजक होगा कि जब हमारा देश राजदूतों के द्वारा प्रथम बार मुगल-दरबार से संबद्ध हुआ, जब ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई और दोनों जातियाँ जब जल और स्थल के कारण इतनी पृथक् और दूरस्थ थीं, उस समय दोनों राष्ट्र अपने साहित्यिक गौरव के चरम शिखर पर पहुँच गये थे।"[१७]...

(घ) "जिस समय वल्लभाचार्य के अनुयायी व्रज को स्वसंगीत से मुखरित कर रहे थे, अनतिदूर पर स्थित दिल्ली के मुगल-दरबार ने राज-कवियों का एक मंडल ही एकत्र कर लिया था, जिसमें से कुछ साधारण प्रसिद्धि के ही कवि नहीं थे। टोडरमल, जो महान् अर्थ-मंत्री होने के अतिरिक्त उर्दू भाषा के तात्कालिक स्वीकरण के कारण थे, बीरबल, जो अकबर के मित्र और अनेक चमत्कारपूर्ण आशु-कविताओं के रचयिता थे, अब्दुर्रहीम खानखाना और आमेर के मानसिंह, ये सब स्वयं भाषा के लेखक होने की अपेक्षा भाषा-कवियों के आश्रयदाता होने की दृष्टि से अधिक प्रख्यात हैं, किंतु नरहरि, हरिनाथ, करना और गंग अत्यंत उच्च कोटि के कवि समझे जाते हैं, जो उचित ही है।"[१८]

(ङ) "राम का गुणानुवाद करनेवाले सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास (उपस्थित १६०० ई०, मृत १६२४ ई०) इन कवियों के मध्य में एक ऐसे स्थान को सुशोभित करते हैं, जो सर्वथा उनके ही योग्य है। चारों ओर से शिष्यों और अनुयायियों से घिरे रहनेवाले व्रज के वैष्णव संप्रदाय के प्रवर्त्तकों से कहीं भिन्न वे बनारस में अपने यशो-मंदिर में अकेले ही इतने उच्चासीन थे, जहाँ कोई पहुँच ही नहीं सकता··। शतियों के तरु-राजि-वेष्टित आंतर पथ से पीछे दृश्यावलोकन करने पर हमें अपने उज्ज्वल प्रकाश में खड़ी हुई उनकी उदात्त प्रतिभा हिंदुस्तान के रक्षक और पथ-प्रदर्शक के रूप में दिखाई देती है। जब हम तंत्रारोहित बंगाल के भाग्य के संबंध में, अथवा रात्रि के उत्सव के रूप में मनाई जानेवाली उन चंचल यात्राओं के संबंध में सोचते हैं, जो कृष्ण-भक्ति के नाम पर निकाली जाती हैं, तब हम निश्चय ही और उचित रूप में इस महापुरुष की प्रशंसा करते हैं, जिसने बुद्ध के अनंतर पहली बार मनुष्य को अपने पड़ोसियों के प्रति स्व-कर्त्तव्य सिखाया और अपने उपदेश को ग्रहण कराने में पूर्ण सफल भी हुआ।"[१९]

(च) "यह महान् काल सूर की शृंगारी कविताओं और तुलसी की प्रकृति-संबंधी कविताओं का ही युग नहीं था। यह काव्य-कला को सुव्यवस्थित करनेवाले प्रथम प्रयास के कारण भी यशःप्राप्त है।...सूरदास और तुलसीदास में तो देवों की-सी शक्ति थी और अपने समसामयिकों से वे परिष्कार और अनुपात-ज्ञान में बहुत आगे थे,

लेकिन अन्य प्रारंभिक रचयिताओं की कृतियाँ उन विद्वानों के कानों में खटकती हैं, जो पूर्णरूपेण संस्कृत-पदावली के अभ्यस्त हैं। इसलिए केशवदास आगे आये और उन्होंने काव्य-शास्त्र के सिद्धांतों को सदा के लिए स्थिर कर दिया। सत्रह वर्ष पश्चात्, सत्रहवीं शती के मध्य में, चिंतामणि त्रिपाठी और उनके भाइयों ने इनके द्वारा स्थापित नियमों को विकसित और पल्लवित किया। इस वर्ग के आचार्य कवियों की समाप्ति अत्यन्त उचित रूप में, सत्रहवीं शती के अन्त में, कालिदास त्रिवेदी से होती है, जो हजारा के रचयिता हैं, जो कि हिंदुस्तान के इस स्वर्ण-काल की रचनाओं के चयन का सर्वश्रेष्ठ और प्रथम विशाल संग्रह है।" [२०]

(छ) "इस गौरवपूर्ण कवि (बिहारी) के साथ-साथ हमारा हिंदुस्तानी भाषा-साहित्य के स्वर्ण-काल का सर्वेक्षण समाप्त होता है। अट्ठारहवीं शती के प्रारंभ से ही एक अपेक्षाकृत अनुर्वर युग प्रारंभ होता है। यह मुगल-साम्राज्य के पतन और ह्रास तथा मराठा शक्ति के आधिपत्य और पतन का युग था।" [२१]

(ज) "उन्नीसवीं शती का पूर्वार्ध मराठा शक्ति के पतन से प्रारंभ होता है और गदर से समाप्त होता है। यह विशेषताओं से युक्त एक अन्य युग है। पिछली शती के अभावों के पश्चात् यह पुनर्जागरण-काल है। मुद्रण-यंत्रों का प्रवेश उत्तर-भारत में पहली बार हुआ; और तुलसीदास से प्रेरणा प्राप्त कर, एक स्वस्थ ढंग का साहित्य शीघ्रता से संपूर्ण देश में ओर-छोर फैल गया।" [२२]

इन कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के लिए विधेयवादी प्रणाली के विनियोग के प्रवर्त्तन के जिस श्रेय का अधिकारी पं० रामचंद्र शुक्ल अपने को मानते हैं, वह वस्तुतः ग्रियर्सन का प्राप्य है। ग्रियर्सन के इतिहास की कुछेक अन्य विशेषताएँ भी हैं, जिनकी झलक ऊपर के उद्धरणों में मिलती है—

(क) हिंदी साहित्य की अँगरेजी, संस्कृत तथा बँगला के साहित्यों से तुलना।

(ख) मुगल दरबार तथा साहित्य-रचना के अन्य केंद्रों का निर्देश।

(ग) प्राचीन कवियों के विवरणों के अतिरिक्त, सूक्ष्म दृष्टि से, साहित्यिक शैली में, उनका महत्त्व-निर्धारण, जो शुक्लजी की भी उल्लेख्य विशेषता है।

(घ) कवियों के व्यक्तित्व तथा प्रभाव का वर्णन।

टिप्पणियाँ

१। 'द माडर्न वर्नैक्युलर लिट्रेचर आव हिंदुस्तान' पहले 'द जर्नल आव द रायल एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल', भाग, १, १८८८ के विशेषांक के रूप में प्रकाशितः; १८८९ में सोसायटी, के द्वारा ही कलकत्ता से, पुस्तकाकार, प्रकाशित; किशोरी लाल गुप्त द्वारा 'हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास', के नाम से हिंदी में 'स-टिप्पण अनुवाद', हिंदी प्रचारक, वाराणसी, १९५७; इसी से उद्धरण आदि दिये गये हैं।

२। उपर्युक्त हिंदी अनुवाद, पृ० ४६।

३। उपरिवत्, पृ० ४६-४७।

४। उपरिवत्, पृ २०-१०।

५। उपरिवत्, पृ० ५।

६। उपरिवत्, पृ० ४६।

७। उपरिवत्, पृ० ५।

८। उपरिवत्, पृ० ५।

९। उपरिवत्, पृ० ३६।

१०। विनोद, भूमिका, पृ० ७ (द्वि० सं०)।

११। उपरिवत्, पृ० १३ (")।

१२। हिंदी साहित्य का इतिहास, प्र० सं० का वक्तव्य, पृ० १।

१३। उपरिवत्, पृ० ७।

१४। उपरिवत्, पृ० २।

१५। ग्रियर्सन के इतिहास का उपर्युक्त अनुवाद, पृ० ४८।

१६। उपरिवत्, पृ० १२।

१७। उपरिवत्, पृ० १२।

१८। उपरिवत्, पृपृ० ५३–५४।

१९। उपरिवत्, पृ० ५३।

२०। उपरिवत्, पृपृ० ५४–५५, तुलना कीजिए— "···हिंदी में रीति-ग्रंथों की अविरल और अखंडित परंपरा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला। ···हिंदी रीति-ग्रंथों की अखंड परंपरा चिंतामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।" रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, सं० १९९६ का संस्करण, पृ० २८० और २८२।

२१। उपरिवत्, पृपृ० ५५–५६।

२२। उपरिवत्, पृ० ५६।

(४)

साहित्यिक इतिहास के आरंभ की क्या कठिनाइयाँ हो सकती है, इसका अनुमान हिंदी के एतद्विषयक प्रारंभिक ग्रंथों से सहज ही किया जा सकता है। मिश्रबंधुओं ने 'विनोद' के निर्माण के पहले ही लिखा था–"हमने भाषा के उत्तमोत्तम शत नवीन और प्राचीन कवियों की कविता पर समालोचना लिखने का निश्चय किया है और उन आलोचनात्मक लेखों के आधार पर हिंदी का जन्म और गौरव या अन्य किसी ऐसे ही नाम की पुस्तक निर्माण करने का भी विचार है । इसमें हिंदी में उसके जन्म से अद्यावधि क्या-क्या उन्नति तथा अवनति हुई है और उसके स्वरूप में क्या-क्या हेर-फेर हुए हैं, इनका वर्णन किया चाहते हैं । यह कार्य समालोचना संबंधी ग्रंथों के वहुतायत के प्रस्तुत हुए विना और किसी प्रकार नहीं हो सकता । इसी हेतु हमने समालोचना करने का प्रारंभ किया है और जब शंकर की कृपा से एक सौ उत्तमोत्तम कवियों की समालोचना लिख जायगी, तव उक्त ग्रंथ के बनाने का यत्न करेंगे।"[१] वे दो अन्य प्रसंगों में पुनः कहते हैं–"पहले तो हमारा विचार था कि प्रायः १०० कवियों की रचनाओं पर समालोचनाएँ लिखकर उन्हींके सहारे इतिहास-ग्रंथ लिखें;"[२] तथा "यदि वर्त्तमान लेखकों में से कतिपय विद्वान् दस-दस, पाँच-पाँच कवियों को लेकर उनके ग्रंथों का पूरा अध्ययन करके उन पर समालोचनाएँ प्रकाशित करें, तो अच्छे समालोचना-संबंधी लेख भी निकल सकते हैं और उनके आधार पर बढ़िया ग्रंथ भी बन सकते हैं । यदि उन्नत भाषाओं के साहित्य-इतिहासवाले ग्रंथ देखे जायँ, तो प्रकट होगा कि उनके लेखक साधारण कवियों के विषय में भी दो-चार विशेषण ऐसे चुस्त कर देते हैं, जो उन्हीं रचयिताओं के विषय में लिखे जा सकते हैं, औरों के लिए नहीं । हमारे यहाँ अभी कुछ दिन तक ऐसे उन्नत इतिहास-ग्रंथों का बनना कठिन है । एक तो वहाँ के उत्कृष्ट गद्य-लेखकों की बराबरी हम लोग नहीं कर सकते और दूसरे उनको मसाला बहुत अच्छा मिलता है। वहाँ समालोचना संबंधी हजारों बढ़िया लेख वर्त्तमान हैं और प्रत्येक कवि के गुण-दोषों का पूरा विवरण उस कवि-कृत ग्रंथ का एक पृष्ठ पढ़े विना भी ज्ञात हो सकता है । ऐसी दशा में अच्छा साहित्य-इतिहास-लेखक थोड़े परिश्रम से भी उत्कृष्ट ग्रंथ लिख सकता है । हमारे यहाँ यह दोष है कि कपड़ा बनाने के लिए उसी व्यक्ति को खेत जोतने, बोने, सींचने, रखवाली करने, काटने, रूई निकालने, ओटने, कातने, अच्छा सूत बनाने और कपड़ा बीनने के काम करने पड़ते हैं ।"[३] मिश्रबंधुओं की ये उक्तियाँ उनकी 'हिंदी-साहित्य-इतिहास-विषयक एक ग्रंथ वनाने की इच्छा'[४] की पूर्व-कल्पना हैं । उन्होंने ठीक ही अनुभव किया था कि अलग-अलग कवियों की आलोचना सामने नहीं रहेगी तो इतिहास नहीं लिखा जा सकेगा; यह दूसरी बात है कि इस प्रकार की आलोचनाओं को परस्पर-संबद्ध कर देने मात्र से ही इतिहास नहीं तैयार हो सकता था ।

मिश्रबंधुओं ने कवियों की आलोचनाओं तथा जीवनी आदि विवरणों के उपकरण इकट्ठे किये, किंतु हिंदी का साहित्यिक इतिहास लिखने की महत्त्वाकांक्षा रखनेवाले इन विद्वानों ने इन उपकरणों से इतिहास का स्थापत्य नहीं तैयार किया। इन उपकरणों का असंबद्ध, वास्तविक रूप मिश्रबंधुओं के 'हिंदी-नवरत्न' में दीख पड़ता है, जो 'विनोद' के पूर्व ही प्रकाशित हुआ था और जिसमें साहित्यिक इतिहास का, अप्रत्यक्ष रूप से भी, वैसा संकेत नहीं है, जैसा 'विनोद' में है ।

मिश्रबंधुओं को श्रेय यह है कि 'हिंदी साहित्य का इतिहास', इस नाम के लिए प्रच्छन्न मोह रखते हुए भी,[५] उन्होंने इसका प्रत्यक्ष व्यवहार उस विशाल ग्रंथ के लिए भी नहीं किया,

जिसे उन्होंने 'मिश्रबंधु-विनोद' कहकर ही संतोष कर लिया। यदि वे 'विनोद' को हिंदी साहित्य का इतिहास कहते तो, हिंदी के साहित्यिक इतिहास का अभाव देखते हुए, वह क्षम्य ही माना जाता; उन्होंने ऐसा नहीं किया, यह उनके विवेक, अंतर्दृष्टि और अपनी सीमाएँ समझने की शक्ति का परिचायक है। मिश्रबंधुओं ने भले ही साहित्यिक इतिहास न लिखा हो, किंतु साहित्यिक इतिहास-विषयक उनके विचार इस संबंध में उनकी सजगता के प्रमाण हैं। वे लिखते हैं– "...इतिहास-ग्रंथ में छोटे-बड़े सभी कवियों एवं लेखकों को स्थान नहीं मिल सकता। उसमें भाषा-संबंधी गुणों एवं परिवर्त्तनों पर तो मुख्य रूप से ध्यान देना पड़ेगा, कवियों पर गौण रूप से; किंतु हमने कवियों पर भी पूरा ध्यान रखा है। इस कारण यह ग्रंथ इतिहास से इतर बातों का भी कथन करता है। हमने इसमें इतिहास-संबंधी सभी विषयों एवं गुणों को लाने का यथासाध्य पूर्ण प्रयत्न किया, परन्तु जिन बातों का इतिहास में होना आवश्यक है, उन्हें भी ग्रंथ से नहीं हटाया।"[६]

मिश्रबंधुओं ने साहित्यिक इतिहास-दर्शन के परिणत रूप को पूर्वाशित कर लिया हो, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः वे साहित्यिक इतिहास-दर्शन पर गंभीरतापूर्वक विचार कर भी नहीं रहे थे। किंतु अनजाने ही उन्हें जैसे उसकी एक झलक मिल गई हो। साहित्यिक इतिहास क्या हो सकता है, इसके विषय में उनका कथन विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है, किंतु 'विनोद' साहित्यिक इतिहास क्यों नहीं है, यह वे समझ पा सके हैं। उन्होंने जो नहीं लिखा, वह नहीं, बल्कि उनका यह विवेक विचारणीय है कि वे क्या नहीं कर पा रहे थे।

मिश्रबंधुओं में से कम-से-कम दो पाश्चात्य साहित्य से परिचित थे[७] और उन्होंने अँगरेजी साहित्य के एक इतिहास का, अन्य प्रसंग में, उल्लेख भी किया है–"विद्वद्वर शॉ महाशय ने अँगरेजी साहित्य का एक अच्छा इतिहास लिखा है";[८] किंतु उन्होंने अपने समकालीन अँगरेजी साहित्य के इतिहासों का अनुकरण नहीं किया है और इसे वे समझते भी हैं। स्पष्टतः यही कारण है कि वे 'विनोद' को साहित्यिक इतिहास घोषित नहीं करते, यद्यपि यह भी सत्य है कि वे निश्चयपूर्वक समझ नहीं पाये थे कि 'विनोद' और उन साहित्यिक इतिहासों में वास्तविक अंतर क्या था; उदाहरण के लिए, उनके द्वारा निर्दिष्ट यह अंतर कि "अँगरेजी साहित्य-इतिहासकार वर्त्तमान लेखकों का हाल नहीं लिखते हैं...पर हम बहुत विचार के बाद वर्त्तमान लेखकों का कथन भी आवश्यक समझते हैं"[९] न तो उस समय के लिए भी पूर्णतः सत्य था, न अंशतः सत्य होते हुए भी विशेष महत्त्वपूर्ण ही है। वास्तविक अंतर तो यह था कि मिश्र-बंधुओं ने उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमीय साहित्यिक इतिहास की उस प्रचलित प्रणाली पर ध्यान ही नहीं दिया, जिसे विधेयवादी प्रणाली कहते हैं, और जिसे अपनाने का सर्वप्रथम श्रेय शुक्लजी को दिया जाता है, जिन्हें इसका थोड़ा गर्व भी था।

मिश्रबंधुओं ने इसका संकेत एक अन्य प्रसंग में किया है–"कहा जा सकता है कि सनों में ही इतिहास जानने के कारण अकबर, औरंगजेब, एलिजाबथ आदि राजा-रानियों के समयों पर ध्यान रखकर तत्सामयिक हिंदी-इतिहास की घटनाओं पर विचार करने में अड़चन पड़ेगी।"[१०] किंतु उन्होंने 'तत्सामयिक हिंदी-इतिहास की घटनाओं' का उल्लेख कर, उनकी सावधानी से निर्मित पृष्ठभूमि में, हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने का स्वयं प्रयास नहीं किया है। 'विनोद' के आरंभ में उन्होंने 'संक्षिप्त इतिहास-प्रकरण' शीर्षक खंड भी रखा है, किंतु उसमें भी पारि-पार्श्विक परिस्थितियों की कहीं कुछ चर्चा है, तो अतिशय संक्षिप्त रूप में ही और कार्य-कारण-संबंध के निर्देश के लक्ष्य से नहीं।

टिप्पणियाँ

१। सरस्वती, दिसंबर, १९०१; मि० बं० वि०, प्र० सं० की भूमिका, पृ० १ पर उद्धृत (द्वि० सं० में दी हुई प्र० सं० की भूमिका के अनुसार पृष्ठ-संख्या का निर्देश है और मि० बं० वि० के संबंध में सर्वत्र ऐसा ही समझें)।

२। मि० बं० वि०, प्र० सं०, भूमिका, पृ० ४।

३। उपरिवत्, पृ० २१।

४। उपरिवत्, पृ० १।

५। "इसमें इतिहास ही का क्रम रखने एवं इतिहास संबंधी सामग्री सन्निविष्ट रहने के कारण हमने इसका उपनाम 'हिंदी साहित्य का इतिहास' तथा 'कवि-कीर्त्तन' भी रखा है।" उपरिवत्, पृ० ४।

६। उपरिवत्, पृ० ३।

७। श्यामविहारी मिश्र, एम्० ए०, और शुकदेवविहारी मिश्र, बी० ए० थे।

८। मि० बं० वि०, प्र० सं०, भूमिका, पृ० २७।

९। उपरिवत्, पृ० १२।

१०। उपरिवत्, पृ० १६।

(५)

हिंदी का सर्वप्रथम सुव्यवस्थित साहित्यिक इतिहास आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी शब्दसागर की विशद भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया। साहित्यिक इतिहास का उनका विभावन इन पंक्तियों में बड़ी निश्चयात्मकता के साथ व्यक्त हुआ है—"जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम हिंदी साहित्य के ६०० वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं—

आदि-काल (वीरगाथा-काल, सं० १०५०-१३७५)
पूर्व-मध्य काल (भक्ति-काल, सं० १३७५-१७००)
उत्तर-मध्य काल (रीति-काल, सं० १७००-१९००)
आधुनिक काल (गद्यकाल, सं० १९००-१९५४)।[1]

शब्दसागर में लिखित 'हिंदी साहित्य का विकास' को, परिवर्त्तित तथा परिमार्जित कर, उन्होंने १९२७ में 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के रूप में प्रकाशित किया। उसके 'काल-विभाग'[2] शीर्षक प्रारंभिक परिच्छेद में उन्होंने उपर्युक्त सिद्धांत और पद्धति की ही पुनरावृत्ति की है, जिनका निर्वाह करने की क्षमता का भी परिचय देने में वे समर्थ सिद्ध होते हैं। शुक्ल जी ने स्वकालीन पाश्चात्य वैदुष्य की उपलब्धि को, विलक्षण सजगता का परिचय देते हुए, हिंदी साहित्येतिहास के निर्माण के लिए, अपना लिया है—कदाचित् किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य के इतिहास-लेखक के पूर्व। उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिम में साहित्येतिहास के क्षेत्र में जो विधेयवाद प्रचलित था, उसका सविस्तर विवरण हम दे चुके हैं। शुक्ल जी ने इसी विधेयवाद को, उस समय के लिए आश्चर्यजनक नव्यवादिता के साथ, अधिकृत और व्यवहृत किया—उन्हीं शुक्ल जी ने, जो काफी पुराने पड़ गये रोमांटिक कवियों के हिंदी अनुयायियों, छायावादियों, से कम ही सहानुभूति दिखाते है और, 'किमाश्चर्यमतः परं', उनमें से कुछ पर तो क्युमिग्ज जैसे अँगरेजी के उन कवियों के प्रभाव का भी संदेह करते हैं, जिनका नाम भी उन कवियों ने जाने कितने दिनों बाद सुना होगा! किंतु शुक्ल जी रचनात्मक साहित्य में जिस नवीनता के विरोधी हैं—उनके साथ न्याय किया जाय, तो कहना पड़ेगा कि उनका अपना रचनात्मक साहित्य भी उनके आदर्श के अनुरूप अवश्य है!—उसे साहित्येतिहास तथा साहित्यालोचन के क्षेत्र में उनकी जैसी तत्परता के साथ अपनानेवाले आज भी हिंदी के कुछेक विद्वान् ही मिलेंगे। रिचर्ड्स और क्रोचे के सिद्धांतों का उल्लेख ही नहीं, उनका खंडन भी करनेवाला यह व्यक्ति भारत तो क्या, पश्चिम के भी समकालीन दो-चार ही विद्वानों में एक रहा होगा!

शुक्लजी के वैदुष्य की यह भी एक विचित्रता है कि उन्हें जैसी मान्यता मार्क्सवादी-प्रगतिवादियों से मिली है,[३] वैसी शायद ही किसी दूसरे हिंदी के आचार्य को मिली होगी, यद्यपि इसका रहस्य स्पष्ट ही है। वह यह कि विधेयवाद अपने ढंग से मार्क्सवादियों को उतना ही ग्राह्य है, जितना शुक्लजी के समान विद्वानों को! दोनों ही साहित्य तथा पारिपार्श्विक परिस्थितियों में कार्य-कारण संबंध मानते हैं, अंतर है तो दृष्टिकोण-मात्र का ।

पं० रामचंद्र शुक्ल के साहित्येतिहास की, इन विशेषताओं के बावजूद, जो त्रुटि है वह यह कि, अनुपात की दृष्टि से, उसका स्वल्पांश ही प्रवृत्ति-निरूपण-परक है, अधिकांश विवरण-प्रधान ही है, और वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि इसके लिए उनका मुख्य आधार वह 'विनोद' है,[४] जिसके लेखक मिश्रबंधुओं पर उन्होंने अनावश्यक रूप से कटु व्यंग्य भी किये हैं।[५] शुक्लजी के इतिहास का जो अकल्याणकारी प्रभाव बाद के हिंदी साहित्येतिहासकारों पर पड़ा है, अवश्य इसके लिए वे दोषी नहीं हैं, इससे तो उनकी सशक्तता ही प्रमाणित होती है। शुक्लोत्तर साहित्येतिहासों का सुविधाजनक विवरण रामकुमार वर्मा ने अपनी पुस्तक के प्रारंभ में दिया है — अब वह तालिका और भी बड़ी हो जायगी — किंतु उन पर विचार करना इसलिए अनावश्यक है कि उनमें चाहे जितनी भी अधिक या नई सामग्री हो, उनका साँचा वही है, जो शुक्ल जी का था । यही कारण है कि आचार्य शुक्ल के बाद के कुछ ही साहित्येतिहासों का विश्लेषण हमने किया है।

टिप्पणियाँ

१। 'हिंदी साहित्य का विकास,' हिंदी शब्दसागर, काशी, १९१९, पृ० ५७।
२। हिंदी साहित्य का इतिहास, सं० १९९७ का संस्करण, पृ० १।
३। उदाहरणार्थ, साहित्य की गंभीर समस्याओं पर गंभीरता-पूर्वक लिखनेवाले एकमात्र प्रगतिवादी विद्वान् रामविलास शर्मा की शुक्लजी पर पुस्तक ।
४। सं० १९९७ के संस्करण में प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ० ९।
५। उपरिवत्, पृ० ५।

(६)

मिश्रबंधुओं ने साहित्य के इतिहास के पूर्व साहित्य के अध्ययन को आवश्यक माना था। रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में, उनके विपरीत, यह कहना युक्तिसंगत समझा कि "साहित्य के अध्ययन से पूर्व.. ... उसके ऐतिहासिक विकास से परिचित होना तथा उसकी विचार-धाराओं, रीतियों आदि का यथोचित रूप से जानना अनिवार्य ही है। इसी विचार से साहित्य का इतिहास विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है ...।"[१] साहित्यिक इतिहास के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी इस विचार से सहमत होना असंभव है। साहित्यिक इतिहास के उपकरणों के रूप में साहित्य के नानाविध तथा सम्यक् अध्ययन की अपेक्षा तो रहती ही है।

'रसाल' जी ने अपनी इस पुस्तक के प्रारंभ में 'साहित्य का इतिहास' शीर्षक के अंतर्गत इस विषय पर अपने विचार सविस्तर व्यक्त किये हैं। साहित्यिक इतिहास के विषय में इतने विस्तार से पूर्ववर्त्ती विद्वानों ने विचार नहीं किया है।

'रसाल' जी के अनुसार "·······जिसमें साहित्य की भिन्न-समय से संबंध रखनेवाली दशाओं या अवस्थाओं का सुव्यवस्थित वर्णन हो, उसे साहित्य का इतिहास समझना चाहिए। .. किसी भाषा के साहित्य के इतिहास से हमें उस साहित्य से संबंध रखनेवाले भिन्न-भिन्न विषयों की दशाओं, उनके कारणों एवं परिणामों आदि का, उनकी महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों और प्रगतियों के साथ, ज्ञान प्राप्त होता है।"[२] इस अतिव्याप्त परिभाषा को सीमित और स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं, "साहित्य का इतिहास हमें बतलाता है कि उस साहित्य में कब-कब, कितनी-कितनी और किस-किस प्रकार से उन्नति या अवनति होती आई है, किस रूप से उसका प्रारंभ हुआ है और किन-किन रूपांतरों के साथ वह इस वर्त्तमान रूप में विकसित होता हुआ पहुँच गया है। ..साहित्य के इतिहास का यथार्थ उद्देश्य यही है कि वह साहित्य के भूतकाल से प्रारंभ करके यौक्तिक क्रम से वर्त्तमान काल तक, जो कुछ भी उसमें विकास हुआ है, उसका एक सच्चा चित्र चित्रित करके पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दे। ...जनता पर कवियों एवं लेखकों के काव्यों और रचनाओं का जैसा प्रभाव पड़ा हो तथा जिन-जिन प्रभावों से प्रभावित होकर उन्होंने अपनी वे रचनाएँ की हों, उन सब पर भी पूर्ण प्रकाश डाला जाना चाहिए। ..निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि साहित्य के इतिहास से हमें साहित्य का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाना चाहिए। उससे संबंध रखनेवाले समस्त विषयों का यथाक्रम परिवर्त्तनशील विकास भी हमें अवगत हो जाना चाहिए, इसके साथ-ही-साथ भाषा और उसकी शैलियों का ज्ञान तथा उनमें समय-समय पर होनेवाले परिवर्त्तनों आदि का प्रस्फुटन होना भी प्रकट हो जाना चाहिए। साहित्य के इतिहास से यही मुख्य लाभ है और यही उसका तथा उसके लेखक का कर्त्तव्य तथा उद्देश्य भी है।"[३]

'रसाल' जी ने अपनी पुस्तक की भूमिका में अपने पूर्ववर्त्ती साहित्यिक इतिहासकारों के ग्रंथों का त्वरित सर्वेक्षण भी किया है। इस प्रसंग में व्यक्त उनके विचारों से साहित्यिक इतिहास-विषयक, उनकी मान्यताएँ ऊहनीय हैं। उनके अनुसार शिवसिंह सेंगर के 'सरोज'[४] "के कारण हिंदी-साहित्य के क्रमिक विकास और ऐतिहासिक जीवन पर प्रकाश पड़ा है, किंतु 'सरोज' वास्तव में साहित्य के इतिहास का ग्रंथ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमें वह सामग्री नहीं,

जिसका होना साहित्य के इतिहास में अनिवार्य है। उसमें न तो साहित्य की परंपरागत विचार-धाराओं, उनकी शैलियों आदि का ही विवेचन है और न उसमें देश, समाज, समय आदि की संस्कृतियों की ही – जिनके प्रभाव से भाषा और साहित्य प्रभावित होकर प्रगतिशील होते हैं – आलोचना है।"[५]

'रसाल' जी ने मिश्रबंधु-विनोद को 'साहित्य के इतिहास का सच्चा मार्ग"[६] दिखानेवाला ग्रंथ तो माना है, किंतु उसकी वास्तविक विशेषता के संबंध में निश्चित रूप से कुछ न कहकर उसकी कुछ गौण बातों का इन शब्दों में निर्देश किया है, "इस ग्रंथ में साहित्य की परंपराओं, विचार-धाराओं और रचना-शैलियों आदि पर भी सांकेतिक प्रकाश डाला गया है।"[७] रामचंद्र शुक्ल की इतिहास-पुस्तक के संबंध में भी वे इन्हीं शब्दों को दुहराते हैं।

संक्षेप में 'रसाल' जी की मान्यता है कि साहित्यिक इतिहास में परंपराओं, विचार-धाराओं तथा रचना-शैलियों का विवेचन अपेक्षित है, जो उनके अनुसार मिश्रबंधु-विनोद और शुक्लजी के इतिहास-ग्रंथ में है। उन्होंने 'सरोज' में इस विवेचन के अभाव और देश, समाज, समय आदि की संस्कृतियों की आलोचना के न रहने की भी बात कही है। इसका अभाव 'विनोद' में भी है, किंतु शुक्लजी के ग्रंथ में अवश्य नहीं है, पर 'रसाल' जी इसका श्रेय शुक्लजी को भी नहीं देते।

स्वयं 'रसाल' जी शुक्लजी का अनुसरण करते हुए सभी कालों की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक दशा को, पृष्ठभूमि के रूप में, प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं, यद्यपि शुक्लजी की तरह वे, अपेक्षया अधिक विस्तृत विवरणों के बावजूद, पृष्ठभूमि तथा उस पर उभरे चित्र के अंतस्संबंध का निर्देश नहीं कर पाये हैं। सिद्धांत रूप में तो वे यहाँ तक मानते हैं, "यदि कहा जावे कि साहित्य का इतिहास पूर्णतया इतिहास पर ही निर्भर है तो भी कोई विशेष अत्युक्ति न होगी।...यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जावे तो प्रत्येक देश एवं समाज की राजनीतिक एवं आर्थिक दशा पर ही उसकी साहित्यिक दशा एवं प्रगति समाधारित रहती है। ...साहित्य में (जो समस्त समाज पर जनता के विचारादि का एक व्यवस्थित समूह है) उसी प्रकार की अवस्थाएँ, दशाएँ, प्रणालियाँ एवं परिवर्त्तन की प्रगतियाँ पाई जाती हैं, जिस प्रकार की देश के इतिहास में। इससे स्पष्ट है कि साहित्य का इतिहास पूर्णतया इतिहास का एक मुख्य अंग होकर उसी पर समाधारित-सा रहता है।"[८]

अपने ग्रंथ के इन प्रारंभिक उप-परिच्छेदों में आगे रसालजी 'साहित्य और धर्मशास्त्र' शीर्षक के अंतर्गत साहित्य का धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, किंबहुना भूगोल-शास्त्र से 'गाढ़ी मैत्री', 'घनिष्ठ संबंध' या 'गहरा संबंध' प्रतिपादित करते हैं। साहित्य और धर्म के परस्पर संबंध के विषय में उनका निष्कर्ष है, "...साहित्य हमारे धर्म के आधार पर स्थिर होता हुआ उसी के साथ-साथ उससे प्रभावित हो विकसित एवं परिष्कृत होता आया है।"[९] साहित्य और समाज-शास्त्र के अन्योन्याश्रय संबंध का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं, "जिस सामाजिक सभ्यता की विवेचना समाज-शास्त्र करता है उसीका चित्र चित्रित करके साहित्य अपने पाठकों के सामने रखता है।"[१०] और अंत में साहित्यिक इतिहास की सीमा का अधिकाधिक विस्तार करते हुए वे साहित्य और भौगोलिक परिस्थितियों के बीच आधाराधेय-संबंध-सा मान कर निर्णय देते हैं कि "प्राकृतिक दृश्यों के आलेख्य से जिस प्रकार मुख्य या मूल चित्र प्रभावित होता है उसी प्रकार भौगोलिक परिस्थितियों से साहित्य का चित्र भी, जिसे हम इतिहास कह

सकते हैं, प्रभावित होता है । जैसे-जैसे परिवर्त्तन उसमें होते हैं, वैसे ही वैसे परिवर्त्तन इसमें भी दिखलाई पड़ते हैं ।"[११]

इन सैद्धांतिक स्थापनाओं के बाद 'रसाल' जी ने हिंदी साहित्य के स्व-कृत काल-विभाग की रूप-रेखा उपस्थित की है तथा उसकी युक्तियुक्तता प्रतिपादित की है । उनके अनुसार हिंदी साहित्य का काल-विभाजन यह है—

१। आदि काल–१००० संवत् से १४०० सं० तक

बाल्यावस्था { क–पूर्वार्ध–सं० १००० से १२०० सं० तक
ख–उत्तरार्ध–सं० १२०० से १४०० सं० तक

२। मध्यकाल – १४०० सं० से १८०० सं० तक

किशोरावस्था { क–पूर्वार्ध –सं० १४०० से १६०० सं० तक
ख–उत्तरार्ध–सं० १६०० से १८०० सं० तक

३। आधुनिक काल – १८०० सं० से आज तक

युवावस्था { क–परिवर्त्तन काल–सं० १८०० से १६०० सं० तक
ख–वर्त्तमान –सं० १६०० से अब तक[१२]

काल-विभाजन की इस योजना के संबंध में 'रसाल' जी का कथन है–"उक्त काल-विभाग यहाँ उन भिन्न-भिन्न कालों की व्यापक विशेषताओं एवं साहित्यिक विशिष्ट परंपराओं, प्रवृत्तियों एवं प्रगतियों के आधार पर ही किया गया है। जिस समय में जो विचार-धारा व्यापकता एवं विशेषता के साथ प्रवाहित रही है, उसी की प्रधानता का ध्यान रखकर उसी के समय के अनुसार उसकी अवधि ठहरा ली गई है । इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि किसी अमुक समय की किसी अमुक विशेष प्रगति एवं परंपरा के अतिरिक्त उस समय में और किसी भी प्रकार की अन्य प्रगतियाँ एवं विचार-धाराएँ उपस्थित ही न थीं, वरन् यहाँ तात्पर्य केवल यही है कि उस विशेष काल में व्यापकता के साथ अमुक विचार-धारा का ही पूर्ण प्राधान्य था, अन्य धाराएँ गौण एवं शिथिल रूप में चल रही थीं । प्रत्येक पूर्ववर्त्ती धारा की प्रगति उत्तरकाल में भी रही, किंतु अपने उस पूर्ववाले वेग के साथ नहीं ।"[१३]

'रसाल' जी के साहित्यिक इतिहास-विषयक उपर्युक्त विचार जितने समन्वयात्मक नहीं हैं, उतने निश्चित योजना के अभाव के परिचायक हैं । साहित्यिक इतिहास में जिन-जिन सरणियों की झलक लेखक को मिली है, या जिन-जिनकी कल्पना वह कर सका है, सभी को उसने अपनी परिभाषा में समाविष्ट कर दिया है । व्यवहार में इसका परिणाम यह हुआ है कि उसका विवेचन विशीर्ण तथा योजना-रहित हो गया है । उदाहरणार्थ, पुस्तक के प्रशंसात्मक प्राक्कथन-लेखक, श्रीश्यामविहारी मिश्र, को कहना पड़ा है कि "शुक्लजी ने हिंदी साहित्य का काल-विभाग इस प्रकार किया है कि आदि-काल संवत् १००० से १४०० तक, मध्य-काल संवत् १४०० से १८०० तक और आधुनिक काल १८०० से आज तक । हमारी अनुमति में यह काल-विभाग बहुत युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि ऐसा विभाग किसी भी भाषा के इतिहास का किया जा सकता है ।"[१४]

हिंदी साहित्य के 'आदि-काल' के साहित्य को पं० रामचंद्र शुक्ल के समान वीर-गाथा के बदले 'जय-काव्य' कहने या रीति-काल को 'कला-काल' के नाम से अभिहित कर देने मात्र से

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक का यह दावा सत्य नहीं प्रमाणित हो जाता कि "...जो ऐतिहासिक काल-विभाजन मैंने दिया है, उसका आधार, उस काल की उस प्रधान विचार-धारा के ही रूप में है, जो उस समय हिंदी-संसार की जनता में पूर्ण प्राधान्य, प्राबल्य और प्रभाव-प्रवेग के साथ प्रवाहित रही है।"[१५]

टिप्पणियाँ

१। रामशंकर शुक्ल 'रसाल', हिंदी-साहित्य का इतिहास, इलाहाबाद, १९३१, भूमिका, पृ० १।
२। उपरिवत्, 'साहित्य का इतिहास,' पृ० ८।
३। उपरिवत्, पृपृ० ८–११।
४। शिवसिंह सेंगर, शिवसिंह सरोज, १८३३।
५। रामशंकर शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, भूमिका, पृपृ० १–२।
६। उपरिवत्, पृ० ३।
७। उपरिवत्।
८। उपरिवत्, 'इतिहास का अर्थ', पृपृ० २–३।
९। उपरिवत्, पृ० १५।
१०। उपरिवत्, पृ० १६।
११। उपरिवत्, पृ० १९।
१२। उपरिवत्, पृ० २२।
१३। उपरिवत् पृ० २३।
१४। प्राक्कथन, पृ० ५।
१५। भूमिका, पृ० ५।

(७)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिंदी साहित्य [उसका उद्भव और विकास]' के संकेतात्मक उपशीर्षक में अपने द्वारा व्यवहृत प्रणाली का निर्देश किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा भी है—"प्रयत्न किया गया है कि यथासंभव सुबोध भाषा में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय दे दिया जाय। परंतु पुस्तक को संक्षिप्त रूप देते समय ध्यान रखा गया है कि मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन छूटने न पाये और विद्यार्थी अद्यावधिक शोध-कार्यों के परिणाम से अपरिचित न रह जायँ। उन अनावश्यक अटकलबाजियों और अप्रासंगिक विवेचनाओं को छोड़ दिया गया है, जिनसे इतिहास-नामधारी पुस्तकें प्रायः भरी रहती हैं। आधुनिक काल को समझने का प्रयत्न तो किया गया है, पर बहुत अधिक नाम गिनाने की प्रवृत्ति से बचने का भी प्रयास है। इससे बहुत-से लेखकों के नाम छूट गये हैं, पर यथासंभव साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ नहीं छूटी हैं।"[१]

द्विवेदीजी ने स्पष्टतः विधेयवादी शुक्ल-परंपरा से भिन्न प्रतिज्ञा की है : वे 'साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय' देना ही अपना लक्ष्य घोषित करते हैं। वे 'अटकलबाजियों और अप्रासंगिक विवेचनाओं' तथा 'नाम गिनाने की प्रवृत्ति' से बचने की भी कोशिश करते हैं, यद्यपि 'अद्यावधिक शोध-कार्यों के परिणाम' समाविष्ट करने की आवश्यकता मानते हैं। इस प्रकार द्विवेदीजी अनेकानेक शुक्लोत्तर साहित्येतिहासकारों की तुलना में, हिंदी में पहली बार,—कदाचित् समस्त भारतीय भाषाओं में सबसे पहले—आचार्य शुक्ल के द्वारा प्रवर्तित, विधेयवादी साहित्येतिहास से भिन्न, साहित्यिक साहित्येतिहास लिखने के श्रेय के अधिकारी सिद्ध होते हैं। साहित्यिक प्रवृत्तियों और परंपराओं की उद्गम-मीमांसा उनकी इसके पहले से गृहीत प्रणाली रही है। 'हिंदी साहित्य की भूमिका' के निवेदन में उन्होंने लिखा है, "ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिंदी साहित्य को संपूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाय। मूल पुस्तक में बार-बार संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की चर्चा आई है...।"[२]

'हिंदी साहित्य' की विषय-सूची से, उदाहरणार्थ, रीति-काव्य की रूप-रेखा नीचे उद्धृत की जा रही है। इससे द्विवेदीजी की पद्धति का स्पष्ट निदर्शन हो सकेगा:—

रीतिकाव्य

(१) "रीति-ग्रंथों का सामान्य विवचन

भक्ति-काव्य के व्यापक प्रभाव का काल—भक्ति और शृंगार भावना—उज्ज्वल-नीलमणि—रीति-काव्य—नायिका-भेद के भक्त कवि—कृपाराम की हित-तरंगिणी—केशव-दास के रीति-ग्रंथ—रुग्ण मनोभाव का काल—जाति-पाँति व्यवस्था का नया रूप—कवियों के प्रेरणा-स्रोत—मूल स्वर मस्ती नहीं—नारी का चित्रण—अलंकार-शास्त्र का हिंदी में प्रवेश—रीति-कवि की मनोवृत्ति—संस्कृत के अलंकार-शास्त्र का प्रभाव—मौलिकता का अभाव—अलंकार-ग्रंथों की संकुचित वृत्ति—अन्य आकर्षक विषय।

(२) प्रमुख रीति-ग्रंथकार

भक्ति-प्रेरणा का शैथिल्य—चिंतामणि—भूषण—मतिराम—जसवंतसिंह और भिखारीदास—रीति-ग्रंथ कवियों का आवश्यक कर्त्तव्य-सा हो गया था—देव कवि—गद्य का प्रयोग—कुछ प्रसिद्ध आलंकारिक कवि—सब समय प्रसिद्धि का कारण रीति-ग्रंथ ही नहीं थे—पद्माकर—ग्वाल कवि और प्रतापसाहि ।

(३) रीति-काल के लोकप्रिय कवियों की विशेषता

बिहारीलाल—शतक और सतसई-परंपरा—गाथासप्तशती और बिहारी सतसई में अंतर—परंपरा की विरासत—बिहारी के साथ अन्य कवियों की तुलना का साहित्य—बिहारी सजग कलाकार थे—शब्दालंकारों की योजना—अर्थालंकारों की योजना —बिहारी की असफलता यहाँ है—बिहारी के अनुकर्त्ता—बिहारी और मतिराम—बिहारी और देव—और पद्माकर—स्वच्छंद प्रेम-धारा—रीति-काव्य मादक कविता का साहित्य है ।

(४) रीति-मुक्त काव्य-धारा

रीति-मुक्त साहित्य—रीति-मुक्त श्रृंगारी कवि—बेनी—फारसी साहित्य के परिचय का फल—सेनापति—बनवारी—द्विजदेव—फारसी-प्रभावापन्न कवि : मुबारक—आलम—रसनिधि—बोधा—ठाकुर—नीति-काव्य : वृंद और बैताल—गिरिधर कविराय—प्रबंध काव्य : पुहकर—लालकवि—जोधराज—सूदन—गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव—महाराज विश्वनाथसिंह—क्षीयमाण दीप्ति की कविता ।"

उद्धृत रूप-रेखा से यह स्पष्ट है कि द्विवेदीजी अपनी प्रतिज्ञा का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं कर सके है । सभी प्रमुख कवियों के विषय में आवश्यक विवरण और नव्यतम अनुसंधानों के परिणाम देने के प्रयास के कारण, बहुत अंशों में, हिंदी साहित्य का यह इतिहास भी, अपनी पूर्वोक्त विशेषता के बावजूद, विवरण-प्रधान बन गया है । यह ठीक है कि आचार्य शुक्ल की तरह द्विवेदीजी ने साहित्य को अपने द्वारा बनाये गये साँचे में जकड़बंद करने की चेष्टा नहीं की है, न उसे किसी अति-सरलीकृत पारिपार्श्विक योजना में बिठाने की आवश्यकता समझी है; किंतु, जैसे अपने ढंग से प्रवृत्ति-निरूपण का प्रयास करते हुए भी शुक्ल जी मिश्र-बंधुओं की विवरणात्मकता—जो उनका स्पष्ट उद्देश्य ही है, पर जिसकी आलोचना शुक्ल जी करते हैं—से अपने को कियदंश ही बचा पाते हैं, वैसे ही द्विवेदी जी भी, तत्त्वतः शुक्लेतर पद्धति अपनाते हुए भी, बहुधा बनी-बनाई गहरी लीक पर चल पड़े हैं । 'पुस्तक विद्यार्थियों को दृष्टि में रखकर लिखी गई है'—'निवेदन' के इस प्रारंभिक स्पष्टीकरण के बाद इसकी अपेक्षा की भी नहीं जा सकती थी कि लेखक सर्वथा अभिनव पद्धति अपनायगा, किंतु वह हिंदी के भावी साहित्येतिहासकारों को यह सुझाने में अवश्य सफल हुआ है कि साहित्येतिहास-लेखन की वह एक ही प्रणाली नहीं है, जिसे शुक्लजी ने इतनी प्रभावोत्पादक, और अपने ढंग से परिपूर्ण, रीति से अपनाया था; यह दूसरी बात है कि इस सुझाव की संभावनाओं को हम आज भी देख, समझ न पायें ।

टिप्पणियाँ

१। निवेदन, पृ० १, प्र० सं०, १९५२ ।
२। पृ० ७, प्र० सं०, १९४० ।

(८)

हमारी उपर्युक्त आशंका का आधार हिंदी के असंख्य छोटे-बड़े साहित्येतिहास हैं, और इसकी पुष्टि होती है नागरी-प्रचारिणी सभा की 'हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास' की योजना से। उन ग्रंथों का उल्लेख यहाँ अनावश्यक है, जो विवरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी'–विशेषत: अनेक शोध-ग्रंथ-पद्धति में शुक्लजी के इतिहास से भिन्न नहीं है। किंतु यहाँ हम कुछ विस्तार से बृहत् इतिहास पर विचार कर सकते हैं।

एक परिपत्र में, जो संपादकों तथा उपसंपादकों के मार्ग-निर्देश के लिए प्रचारित हुआ है, कहा गया है–"एकरूपता के उद्देश्य से ही संपादक-मंडल ने कुछ 'सामान्य सिद्धांत' और 'पद्धति' का निर्धारण किया है।"

सामान्य सिद्धांत ये हैं–

(१) "हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया है।

(२) व्यापक सर्वांगीण दृष्टि : साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उन पर विचार किया जायगा।

(३) साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जाय। अर्थात् तिथि-क्रम, पूर्वापर तथा कार्य-कारण-संबंध, पारस्परिक संपर्क, संघर्ष, समन्वय, प्रभाव, ग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, अन्तर्भाव, तिरोभाव आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जाय।

(४) संतुलन और समन्वय : ऐसा ध्यान रखा जाय कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके। ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और किसी का अति-रंजन। साथ-ही-साथ साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से संबंध और सामंजस्य किस प्रकार से विकसित हुआ, इसे स्पष्ट किया जाय। उनके पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमा तक किया जाय, जहाँ तक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध हुए हों।

(५) हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्यशास्त्रीय होगा। इसके अंतर्गत ही विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों की समीक्षा और समन्वय किया जायगा। विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों में निम्नलिखित की मुख्यता होगी –

(१) शुद्ध साहित्यिक दृष्टि–अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि।
(२) दार्शनिक।
(३) सांस्कृतिक।
(४) समाजशास्त्रीय।
(५) मानववादी आदि।

(६) विभिन्न राजनीतिक मतवादों और प्रचारात्मक प्रभावों से बचना होगा। जीवन में साहित्य के मूल स्थान का संरक्षण आवश्यक होगा।

(७) साहित्य के विभिन्न कालों में उसके विविध रूपों में परिवर्त्तन और विकास के आधारभूत तत्त्वों का संकलन और समीकरण होना चाहिए ।

(८) विभिन्न मतों की समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणों पर सम्यक् विचार किया जायगा । सबसे अधिक संतुलित और बहुमान्य सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यों और सिद्धांतों का निर्माण संभव होगा ।

(९) उपर्युक्त सामान्य सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक भाग के संपादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे । पर संपादक मंडल इतिहास की व्यापक एकरूपता और आंतरिक सामंजस्य बनाये रखने का प्रयास करता रहेगा ।"

और 'पद्धति' इस प्रकार निरूपित है—

(१) "प्रत्येक लेखक और कवि की सभी उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा, और उसके आधार पर ही उनके साहित्य-क्षेत्र का निर्वाचन और निर्धारण होगा तथा उनकी जीवन और कृतियों के विकास में विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निदर्शन किया जायगा ।

(२) तथ्यों के आधार पर ही सिद्धांतों का निर्धारण होगा । केवल कल्पना और सम्मतियों पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं होगी ।

(३) प्रत्येक निष्कर्ष के लिए प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे ।

(४) लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग किया जायगा । संकलन, वर्गीकरण, समीकरण, संतुलन, आगमन आदि ।

(५) भाषा और शैली सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण होनी चाहिए ।

इतिहास के संपादकों के नाम उसके प्रधान संपादक पं० अमरनाथ झा, जो दुर्भाग्यवश कार्यारंभ के पूर्व ही दिवंगत हो गये, और जिनका स्थान अद्यावधि रिक्त है, के एक पत्र का यह अंश संपादक के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करता है: हमें प्रयत्न करना चाहिए कि इतिहास का प्रत्येक खंड अपने आप पूर्ण होकर भी परस्पर संबद्ध हो और साहित्य की प्राणधारा का प्रवाह अखंडित तथा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होता रहे ।.....

....यथासंभव यह इतिहास पूर्ण और त्रुटिरहित हो तथा इसमें हमारे सहस्र वर्षव्यापी साहित्य की मूल प्रेरणाओं, समाज की विभिन्न संस्थाओं की क्रिया-प्रतिक्रियाओं और साहित्य-कारों द्वारा गृहीत और प्रचारित मानव-मूल्यों का अविच्छिन्न प्रवाह सुस्पष्ट हो ।"

संपादक-मंडल की ओर से सभा के प्रधान मंत्री द्वारा, प्रचारित उपर्युद्धृत 'सामान्य सिद्धांत' और 'पद्धति' के द्रुत अवेक्षण से भी स्पष्ट हो जाता है कि इतने बड़े पैमाने पर आयोजित कार्य को अंतस्संबद्ध बनानेवाला कोई सुनिश्चित सिद्धांत और सुचिंतित पद्धति नहीं है, बल्कि अनेक अस्पष्ट और अव्यवहार्य सिद्धांत और पद्धतियाँ गिना भर दी गई हैं । अवश्य ही आयोजित इतिहास के दिवंगत संपादक ने अधिक स्पष्टता के साथ मार्ग-निर्धारण का प्रयास किया है ।

सैद्धांतिक दृष्टि से विचार करने पर इतना तो निर्विवाद है कि सावधानी से लिखित और संपादित होने पर भी यह इतिहास प्राचीन और संप्रति उज्झित पद्धति का ही हो सकता है। यदि विवरणों के प्राचुर्य से इतना बड़ा ग्रंथ बन पाता, तो यह अच्छा ही होता; क्योंकि हिंदी साहित्य विषयक प्रामाणिक तथा विस्तृत विवरणों का अभाव आज भी बना हुआ है, किंतु विभिन्न भागों की जो रूप-रेखा सुलभ है और अब तो पहला भाग ही देखा जा सकता है, उससे इस निष्कर्ष पर बाध्यतः पहुँचना पड़ता है कि स्फीति का कारण वे अनावश्यक अटकलबाजियाँ और अप्रासंगिक विवेचनाएँ हैं, जिनकी ओर, सिद्धांत रूप में, आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने अपने हिंदी साहित्य में इंगित किया है।

यहाँ हम पहले अपनी ओर से विशेष कुछ न कहकर कुछ भागों की स्वीकृत रूप-रेखा उद्धृत करना चाहेंगे। वे स्वयं ही बहुत दूर तक अपनी आलोचना के लिए पर्याप्त हैं—

(क)

"प्रथम भाग—हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका

प्रथम खण्ड

भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति

अध्याय १—

भौगोलिक आधार और उसका भाषा तथा साहित्य पर प्रभाव।

(१) हिंदी क्षेत्र का विस्तार;
(२) प्राकृतिक विभाजन;
(३) पर्वत
(४) नदी
(५) जलवायु
(६) वनस्पति
(७) जीवजन्तु
(८) मानव जातियाँ
(९) बोलियाँ

अध्याय २—

मध्ययुग की राजनीतिक प्रवृत्तियाँ।

(१) विघटन तथा विभाजन
(२) निरंकुश एकतंत्र
(३) सामन्तवाद
(४) समष्टि ओझल, स्थानीयता, व्यक्तिवादिता
(५) राजनीति के प्रति सामूहिक उदासीनता
(६) राष्ट्रीयता तथा देश-भक्ति का ह्रास
(७) राजभक्ति : प्रशस्ति, चाटुकारिता, दासवृत्ति
(८) व्यक्तिगत शूरता एवं वीरता
(९) संघर्ष तथा पुनरुत्थान का प्रयत्न

अध्याय ३—

राजनीतिक स्थिति।

(१) राज्य–विविध राज्य
(२) संस्थाएँ–राजा, मंत्रिपरिषद्, केन्द्रीय शासन, विभाग, आदि

(३) परस्पर संबंध–संपर्क, संघर्ष, युद्ध, संधि, उदासीनता
(४) परराष्ट्र नीति–असंघटित, अदूरदर्शी, दुर्बल

अध्याय ४—

सामाजिक स्थिति ।

(१) समाज का संघटन;
(अ) मानव जातियाँ;
(आ) वर्ण
(इ) आश्रम
(ई) जाति, वर्ग, व्यवसाय, आदि ।

अध्याय ५—

परिवार और विवाह ।

(अ) परिवार
(१) परिवार की कल्पना
(२) परिवार के सदस्य
(३) पारस्परिक संबंध
(४) पद, अधिकार, दायित्व
(आ) विवाह
(१) संस्था
(२) प्रकार–ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच, स्वयंवर
(३) निर्धारण–वर्ण, गोत्र, पिंड, कुल, परिवार, आदि ।
(४) निर्वाचन–वर-कन्या के गुण-दोष
(५) विवाह के भेद–एक विवाह, बहु विवाह, आदि ।
(६) विवाहित जीवन
(७) विवाहेतर स्त्री-पुरुष के संबंध

अध्याय ६—

समाज में स्त्री का स्थान ।

(क) कन्या
(ख) पत्नी
(ग) माता
(घ) स्वतंत्रता
(ङ) सामान्य दृष्टिकोण
(च) सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक अधिकार एवं दायित्व

अध्याय ७—

विविध ।

(१) वस्त्राभूषण
(२) भोजन, पेय
(३) आमोद-विनोद
(४) आचार, शिष्टाचार, प्रथाएँ, आदि

अध्याय ८—

जीवन का आर्थिक ढाँचा और उसका साहित्य पर प्रभाव ।

द्वितीय खंड

साहित्यिक आधार तथा परंपरा

अध्याय १—

संस्कृत

(१) भाषा—इसकी प्रवृत्ति, स्वरूप, ढाँचा, और हिंदी से संबंध;
(२) साहित्य के प्रकार;
(३) साहित्य-शास्त्र और रीति-शास्त्र
(४) कथावस्तु, विवेच्य विषय आदि
(५) व्यापक प्रभाव
(६) परंपरा

अध्याय २—

प्राकृत

अध्याय ३—

भिन्न संस्कृत

(१) बौद्ध
(२) जैन

अध्याय ४—

अपभ्रंश

अध्याय ५—

प्रारंभिक हिंदी

टि० २५ के वे ही उपांग रहेंगे, जो १ के हैं।

तृतीय खंड

धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परंपरा

अध्याय १—

वैदिक

(१) देव-मंडल
(२) पूजा-पद्धति
(३) धर्म-विज्ञान
(४) नीति
(५) सौंदर्य-शास्त्र

अध्याय २—

जैन तथा बौद्ध

अध्याय ३—

पांचरात्र तथा भागवत

अध्याय ४—

शैव, शाक्त एवं पाशुपत

अध्याय ५—

पौराणिक

अध्याय ६—

तांत्रिक

अध्याय ७—

वेदान्त

अध्याय ८—

अन्य दार्शनिक संप्रदाय

टि० २८ के वे ही उपांग होंगे, जो १ के हैं ।

चतुर्थ खण्ड

कला

अध्याय १—

स्थापत्य

(१) विविध शैलियाँ

(क) नागर;

(ख) पर्वतीय;

(ग) बेसर तथा द्रविड़ शैली का प्रभाव

(२) विविध प्रकार

(अ) धार्मिक

(क) मंदिर

(ख) स्तूप

(ग) चैत्य

(घ) विहार

(ङ) स्तम्भ

(आ) राजप्रासाद—विविध प्रकार

(इ) दुर्ग—विविध प्रकार

(ई) सार्वजनिक आवास

(उ) पुष्करिणी, वापी, तड़ाग, कूप, आदि

(३) यांत्रिक आधार तथा रचना

(४) अलंकरण तथा सौंदर्यशास्त्रीय समीक्षा

(५) प्रतीकात्मक समीक्षा

अध्याय २—

मूर्त्तिकला

(१) विविध शैलियाँ

(२) विविध प्रकार

(३) मूर्त्ति विज्ञान

(४) यांत्रिक आधार तथा निर्माण

(५) अलंकरण तथा सौंदर्यशास्त्रीय समीक्षा

(६) प्रतीकात्मक समीक्षा

अध्याय ३—

चित्रकला

(१) विविध शैलियाँ

(२) विविध प्रकार

(३) अलंकरण तथा सौंदर्य-शास्त्र
(४) प्रतीकात्मक समीक्षा

अध्याय ४—

संगीत

(१) गीत
(२) वाद्य
(३) नृत्य
(४) संगीत की शैलियाँ
(५) संगीत के प्रकार
(६) संगीत और साहित्य

अध्याय ५—

रंगमंच

(१) रूपक
(२) अभिनय
(३) रंगमंच
(४) निर्माण
(५) अभिनय-शास्त्र
(६) साहित्य पर प्रभाव

पंचम खण्ड

बाह्य संपर्क तथा प्रभाव

अध्याय १—

यवन

(१) राजनीति
(२) समाज
(३) कला
(४) भाषा
(५) साहित्य

अध्याय २—

शक

अध्याय ३—

हूण

अध्याय ४—

चीन, भोट

अध्याय ५—

ईरान, अरब, तुर्क

टि० २५ के वे ही उपांग होंगे, जो १ के है।

(ख)

षष्ठ भाग

शृंगार-काल (रीतिबद्ध) १७००-१९०० वि०

प्रथम अध्याय—(भूमिका)

(क) परिस्थितियाँ

(१) राजनीतिक परिस्थिति—

(मुगल-साम्राज्य का चरमोत्कर्ष के उपरान्त पतन)—दारा (संस्कृति और सहिष्णुता) की पराजय—औरंगजेब का अत्याचार—व्यक्तिवादी राजतंत्र—हिन्दुओं-सिक्खों का विरोध और दमन—मुगल-साम्राज्य का पतन—औरंगजेब के उत्तराधिकारी—मराठों का प्रभुत्व—नादिरशाह (संवत् १७९५)—सूबेदारों का गृह-कलह (अवध, दक्षिण-भारत)—अहमदशाह अब्दाली (सं० १८१८)—रीति-काव्य के सृजन-क्षेत्र—राजस्थान (अम्बेर, मेवाड़, मारवाड़, कोटा, बूंदी)—बुंदेलखंड और अवध की राजनीतिक दशा—सामन्तीय शासन—परस्पर कलह—चारित्रिक पतन—राजनीतिक स्थिति का सिंहाव लोकन-युद्ध और विप्लव से आक्रांत देश—शाहजहाँ—औरंगजेब के बाद निर्बल केन्द्रीय शासन—औरंगजेब के बाद प्रभविष्णु व्यक्तित्व का अभाव—भयंकर बाह्य आक्रमण—स्वेच्छाचारी राजतंत्र—धार्मिक असहिष्णुता—पदाक्रांत हिन्दू—विलास-जर्जर मुसलमान ।

(२) सामाजिक परिस्थिति—

(अ) शासक और शोषक वर्ग—मुगल-परिवार तथा दरबार—विलास और शृंगारिकता—(आ)—शासित या शोषित वर्ग—श्रमिक समाज और कृषक—आर्थिक दुर्दशा—शासकों के अत्याचार—(इ) कवि और कलावन्तों की विचित्र स्थिति (ई) हिन्दू-मुसलमानों की जातीय स्थिति—अभेद और भेद—सूफियों और निर्गुणियों द्वारा नगण्य समन्वय (उ) नैतिक अवस्था—काम-विलास—रिश्वत—षड्यंत्र आदि—आत्मबल का ह्रास—अधोगति ।

(३) धार्मिक परिस्थिति—

(अ) पंडित और मौलवी—कट्टरता—स्वस्थ धर्म-दर्शन का लोप— साम्प्रदायिकता—मठ-मंदिर-गद्दियाँ— काम-विलास— देवदासियाँ—भक्तों में शृंगार भावना— रतिरक्ता राधा—लोक-जीवन से दूर । (आ) अशिक्षित जन समुदाय—अंधविश्वास—बाह्याडंबर—रामलीला और रास- लीला—मुसलमानों के उर्स । (इ) सन्तों के पन्थ—सतनामी, लालदासी, नारायणी आदि—समन्वयवादी प्रयत्न—हिन्दुओं का योग—सूफियों की प्रेम-भावना—मुसलमानों में भी सिलसिले—चिश्तिया, निजा- मिया, कादिरिया आदि ।

(४) बौद्धिक स्तर—

साहित्य, दर्शन, आदि, सभी क्षेत्रों में ह्रास ।

(५) सौन्दर्य-भावना —

(अ) काव्य—तुलसी, सूर आदि की प्रतिभा का अभाव—स्थूल ऐन्द्रियता—निष्प्राण अलंकरण—संस्कृत—काव्य इतिश्री—अरब, फारस से प्रेरणा ग्रहण करनेवाले मुसलमानों की फारसी कविता ।

(आ) स्थापत्य—औरंगजेब द्वारा कला का निरादर—मन्दिरों का ध्वंस—हिन्दू-स्थापत्यकला की दुर्गति—नवाबों का कलाप्रेम—राजस्थान के राजमहल—उत्कृष्ट कलाभाव का अभाव—निकृष्ट अनुकरण—निर्जीवता।

(इ) चित्रकला—जहाँगीर और शाहजहाँ—विदेशी चित्रकला पर भारतीय प्रभाव—चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ—क्रमिक अधःपतन—नारी-सौन्दर्य का चारुचित्रण—चित्रकला की दो धाराएँ—ह्रासोन्मुखी राजसी धारा—सचेत जनप्रिय धारा।

(ई) संगीत—असंतोषजनक स्थिति—मौलिकता का अभाव—औरंगजेब—संगीत का चरम अपकर्ष—कलावन्त राजाओं और नवाबों की शरण—मुहम्मदशाह—संगीतकला के पुनरुज्जीवन का प्रयत्न—संगीतशास्त्र के कुछ ग्रन्थ—संगीतकला—विलास का उपकरण मात्र।

(ख) रीतिकाव्य का शास्त्रीय पृष्ठाधार

(१) रीतिशास्त्र का आरंभ——

(२) रस-सम्प्रदाय——

'रस' का अर्थ और इतिहास—'रस' की परिभाषा—रस की स्थिति—भारतीय रससूत्र के प्रमुख व्याख्याकार—भट्टलोल्लट—श्रीशंकुक—भट्टनायक—अभिनवगुप्त—साधारणीकरण—रस का स्वरूप—भाव का विवेचन—मूल प्रवृत्तियाँ और प्रवृत्तिगत भाव—भावों का वर्गीकरण—रीतिकालीन आचार्यों पर रस-सम्प्रदाय का प्रभाव।

(३) अलंकार-सम्प्रदाय—

अलंकार-सम्प्रदाय का आरंभ और विकास—भामह और दण्डी—सर्वप्रमुख आचार्य रुद्रट—बाद के आचार्य—अलंकार की परिभाषा और धर्म—अलंकार और अलंकार्य—अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार—रसानुभूति में अलंकार का योग—रीतिकालीन आचार्यों पर अलंकार-सम्प्रदाय का प्रभाव।

(४) रीति-सम्प्रदाय——

रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक वामन—परवर्त्ती आचार्य—रीति की परिभाषा और स्वरूप—पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों की 'शैली'—रीति और गुण—गुणों की मनोवैज्ञानिक स्थिति—रीति और दोष—रीति—गुण-दोष का रस से संबंध—संस्कृत का रीति-सम्प्रदाय और हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य।

(५) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय——

वक्रोक्ति के प्रवर्त्तक कुन्तक—क्या यह सम्प्रदाय है ?—वक्रोक्ति का स्वरूप—कुतंक की वक्रोक्ति और क्रोचे का अभिव्यंजनावाद—रीतिकालीन आचार्यों पर वक्रोक्तिवाद का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव—प्रभाव की नगण्यता के कारण।

(६) ध्वनि-सम्प्रदाय——

ध्वनि-सम्प्रदाय का आरंभ—प्रतिष्ठापक ध्वन्यालोककार—ध्वनि का आधार और स्वरूप—ध्वनि के विरोधी आचार्य—ध्वनि के समर्थक आचार्य-व्यंजनाशक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा—ध्वनि और रस—ध्वनि और अलंकार—ध्वनि में अन्य सिद्धान्तों का समाहार—रीतिकालीन आचार्यों पर प्रभाव।

(७) नायिका-भेद——

नायिका-भेद का पूर्ववृत्त—इस विषय के प्रमुख आचार्य—नायिका—भेद का मनोवैज्ञानिक आधार—नायिका-भेद-परम्परा का रीतिकालीन आचार्यों पर प्रभाव।

(ग) रीतिकाव्य का साहित्यिक आधार

(१) प्राकृत-संस्कृत साहित्य में रीतिकाव्य का विकास–गाथा सप्तशती – आर्या सप्तशती–अमरुशतक आदि–मुक्तक काव्य–परम्परा ।
(२) भक्ति-शृंगार की मुक्तक परिपाटी–देवी-देवताओं का शृंगार-निरूपण–इस धारा का नैसर्गिक विकास–जयदेव और विद्यापति ।
(३) कामशास्त्रीय रचनाओं की परम्परा–शृंगार–काव्य पर प्रभाव ।
(४) हिन्दी साहित्य में रीतिकाव्य का आरंभ और परम्परा–आदिकाल में रीतिकाव्य की विशेषताएँ–भक्तिकाल में रीतिकाव्यधारा–रीतिकाव्य की भूमिका का निर्माण ।

द्वितीय अध्याय

(क) नामकरण—

साहित्य का कालविभाग–नामकरण का दुहरा प्रयोजन–नामकरण का आधार–कृति, कर्त्ता, पद्धति, व्यक्ति,–तारतम्यिक विवेचन–सूर्वोत्कृष्ट प्रणाली–रीतिबद्ध शास्त्र–कवियों की व्यापक प्रवृत्ति–उनका प्रधान रस शृंगार–शृंगारसंवलित भक्ति–रीतिबद्ध काव्य कवियों की व्यापक प्रवृत्ति–रीतिमुक्त काव्य–प्रवाह–शृंगारकाल नाम की उपयुक्तता–अनुपयुक्तता–'अलंकृतकाल' की यथार्थता पर विचार–'शृंगारकाल' अथवा 'रीतिकाल' नाम की समीचीनता ।

(ख) सीमा–निर्धारण—

साहित्यिक इतिहास में सीमा का अर्थ-काल-विभाजन का यथातथ्य – कृपाराम की 'हिततरंगिणी' (सं १५९८)–कृपाराम से सेनापति (सं १७००) तक रीतिकाव्य-प्रवाह–सत्रहवीं शती की शृंगारकाव्य-धारा–उस काल का भक्तिकाव्य–प्रभावशाली व्यापक साहित्य–सामान्य प्रवृत्ति का प्रतिनिधि–'रीति-शृंगार' की सापेक्ष नगण्यता–सत्रहवीं शती 'रीति-शृंगार' की प्रस्तावना मात्र है–रीतिकाल का वास्तविक आरंभ १७०० सं० से–रीतिकाल की उर्वर सीमा–भारतेन्दु-यग की शृंगारिकता–उस युग के व्यावर्त्तक धर्म–शृंगार की उपसंतति–सं० १९००-१४ का ऐतिहासिक महत्त्व–साहित्य और समाज की नई चेतना–नूतन प्रवृत्तियों द्वारा युग-परिवर्त्तन–रीतिकाल सं० १७०० से सं० १९०० तक ।

(ग) उपलब्ध सामग्री के मूल स्रोत—
(घ) रीत्ति की व्युत्पत्ति, लक्षण और इतिहास
हिन्दी रीतिकाव्य की आत्मा—
(ङ) रीतिकवियों की सामान्य विशेषताएँ—

वातावरण—

(१) प्रायः सभी कविदरबारी–बादशाह, राजा, ताल्लुकेदार, दीवान–उनकी रुचि की तुष्टि–शृंगार-रस का प्रवाह–दरबार से दूर भक्तिरचना–
(२) दरबारों के संस्कृत कवियों और उर्दू-फारसी-शायरों से प्रतिद्वन्द्विता ।

प्रतिपाद्य विषय—

(३) मुख्य विषय शृंगार–संयोग–भोगवाद का वैशिष्ट्य–वियोगपक्ष–प्रयास का क्रम–निरूपण–नायक-नायिका भेद की ओर विशेष झुकाव–ईर्ष्या की अधिकता–खंडिता और विप्रलब्धा ।
(४) रसिकता पर आधारित शृंगार, प्रेम पर नहीं–वासना–पार्थिव और ऐन्द्रिय सौन्दर्य–बाह्य पक्ष की प्रधानता–शरीर-संबंध की अधिक चाह–प्रेम-मार्ग की वक्रताएँ ।

(५) शृंगार पर भक्ति का अवगुण्ठन—राधा-कृष्ण का नायक-नायिका रूप—'मधुर रस'—भक्ति शृंगारिकता का अंग—सामाजिक कवच और मानसिक शरणभूमि ।

(६) परकीया प्रेम—कारण—प्रेम का विस्तृत क्षेत्र—भक्तिभाव का आरोप करने में सुविधा—प्रतिद्वन्द्वी उर्दू-फारसी कवियों द्वारा निरूपित परकीया प्रेम की स्पर्द्धा—प्रेम का गार्हस्थिक स्वरूप—स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की गौणता ।

(७) जीवन-दर्शन—जीवन के मूलगत प्रश्नों की उपेक्षा—सामंतवाद के भग्नावशेष की छाया में बँधा लोक—राजाश्रित कवियों का अवैयक्तिक दृष्टिकोण ।

काव्य-रूप—

(८) मुक्तक रचना-प्रबन्ध का अभाव-सा—कारण, शृंगार का सीमित क्षेत्र—घटनाचक्र की कमी—भक्ति-सम्प्रदायों का प्रभाव—गोष्ठी-पाठ के अनुकूल मुक्तक—अधिक तात्कालिक प्रभाव—लक्षण-ग्रन्थों में उदाहरण की उपयुक्तता—दरबारी कवियों में चमत्कार-प्रदर्शन का अधिक अवकाश—सुसंबद्ध जीवन-दर्शन के आधार का अभाव ।

शैली—

(९) चमत्कार-प्रदर्शन की बलवती प्रवृत्ति,—कहीं कम—कहीं अधिक ऊहात्मक उक्तियाँ—बुद्धि-क्रीड़ा ।

(१०) मौलिक उद्भावना—प्रतिभाशाली कवियों में वक्रता और वाग्विदग्धता—सामान्य कवियों की रूढ़िबद्ध अभिव्यंजना ।

(११) शास्त्र-ज्ञान और कवि-कल्पना का सम्बन्ध ।

(१२) भाषा का अलंकृत-काल—तुलसी, सूर आदि द्वारा विकसित भाषा—प्रत्यक्ष अलंकार-प्रयोग—अर्थालंकारों की ओर विशेष झुकाव—विलास के संकुचित क्षेत्र के गृहीत उपमान—लक्षणा-व्यंजना की अपेक्षाकृत गौणता—माधुर्यगुणोचित शब्द-विन्यास (कोमला वृत्ति)—शब्दों की क्रीड़ा—रीतिमुक्त कवियों की भाषा के साथ तुलनात्मक अध्ययन ।

(च) रीतिबद्ध कवियों का वर्गीकरण—दो प्रधान वर्ग—वर्गीकरण का आधार ।
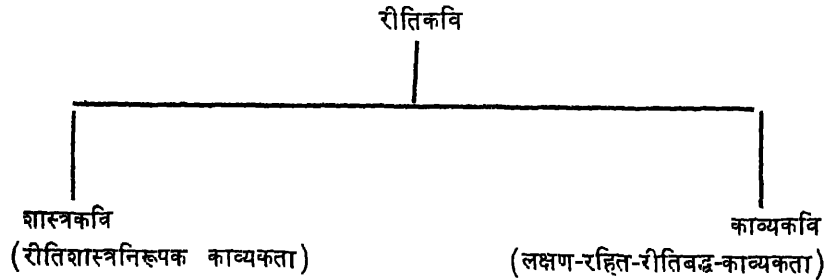
तृतीय अध्याय

(क) लक्षणबद्ध काव्य की सामान्य विशेषताएँ—

(१) रीति-आचार्यों का शास्त्रीय विवेच्य-विषय—सर्वांगनिरूपण—तीन सम्प्रदायों (ध्वनि, रस और अलंकार) की ओर विशेष ध्यान—शृंगार-निरूपण की अधिकता—उसमें भी नायिका-नायक भेद—संक्षेप में अलंकार-निरूपण—पिंगल-शास्त्र—अन्य काव्यांगों की उपेक्षा—भाषाकाव्य की विकासशील प्रवृत्तियों की अवहेलना ।

(२) प्रतिपाद्य शैली—संस्कृत के उत्तरकालीन आचार्य—हिन्दी में आचार्यत्व और कवित्व का सम्मिलन—काव्य-रचना-सम्बन्धी नियमों का विवेचन और उदाहरण—संस्कृत का

गहरा प्रभाव--रीति-आचार्यों की दृष्टि में चित्रकाव्य की महत्त्वहीनता -- बहिरंग की ओर विशेष ध्यान ।

(३) रीतिबद्ध शास्त्र-कवियों की सफलता--मौलिक सिद्धान्त--विवेचन की क्षीणता--संस्कृत आचार्यों का स्पष्टीकरण मात्र--विफलता के कारण ।

(अ) संस्कृत का काव्यशास्त्र विषयक विज्ञात साहित्य--उसके सूक्ष्म सिद्धान्त विवेचन से आगे बढ़ना कठिन ।

(आ) भेद-अभेद की जटिलता--उलझनमयी निरूपण--शैली ।

(इ) गद्य का अभाव--अपवाद स्वरूप गद्य-प्रयोग ।

(ख) वर्गीकरण--रीतिकालीन शास्त्रकवियों के अनेक वर्ग--

(अ) सर्वांगनिरूपक ।

(आ) रसनिरूपक--सर्वरसनिरूपक--शृंगारभावनिरूपक ।
(नायक-नायिका--भेद)

(इ) अलंकारनिरूपक ।

(ई) पिंगलनिरूपक ।

(उ) फुटकर ।

(ग) शास्त्र--कवियों की ऐतिहासिक समीक्षा--

(अ) सर्वांगनिरूपक--कालक्रमानुसार कवि--परिचय--
--कृतियाँ--सिद्धान्त विवेचन ।

(आ) रसनिरूपक--कवि-परिचय--कृतियाँ--शास्त्रीय-विवेचन

(इ) अलंकार निरूपक-- ,, ,, ,,

(ई) पिंगलनिरूपक-- ,, ,, ,,

(उ) फुटकर-- ,, ,, ,,

(घ) भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में रीति-आचार्यों का योगदान

चतुर्थ अध्याय

काव्य--कवि

(क) रीतिबद्ध काव्य-कवियों की विशेषताएँ--

(१) कवि शिक्षक की अपेक्षा कवि के गौरव के अभिलाषी--अतएव लक्षण के बन्धन से मुक्त ।

(२) संस्कृत के काव्य-शास्त्र की अपेक्षा संस्कृत की शृंगार-मुक्तक-परम्परा स घनिष्ठतर (!) सम्बन्ध--कारण रीतिबद्ध वातावरण का गहरा प्रभाव ।

(३) काव्य-कवियों और शास्त्र-कवियों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन ।

(४) काव्य--कवियों की भावुकता और कला ।

(५) शास्त्र-कवियों की भावुकता और कला ।

(६) काव्यविषयक वर्गीकरण--

(अ) नखसिख-वर्णन ।

(आ) ऋतु-वर्णन--षट्ऋतु, बारहमासा ।

(इ) शृंगारिक जीवन की विविध परिस्थितियाँ--आदि ।

(७) काव्यकवियों की ऐतिहासिक समीक्षा--कालक्रमानुसार कवि-- परिचय-कृतियाँ--शास्त्रीय समीक्षा--काव्य--गुण का विवेचन ।

(ङ) रीतिबद्ध काव्य का मूल्यांकन

(ख) उपसंहार—

रीतिकवियों के साथ अन्याय—उदार—निष्पक्ष दृष्टि की आवश्यकता—विवेच्य काव्य से ही विवेचक दृष्टि प्राप्त करना उचित है—रीतिबद्ध काव्य का योगदान ।

(अ) [शास्त्र—परम्परा की विच्छिन्न परम्परा का पुनरुज्जीवन ।

(आ) तत्कालीन नीरस जीवन में सरसता का संचार ।

(ग)

सप्तम भाग

शृंगारकाल (रीतिमुक्त) १७००—१६०० वि०

प्रथम खंड

भूमिका—परिस्थितियाँ

लोक—जीवन और साहित्य

लोक—जीवन की विविध भूमियाँ

१— राजनीतिक

(क) ह्रासोन्मुखी मुगलशक्ति ।

(ख) राष्ट्रीय शक्तियों का उन्मेष ।

(ग) वर्धिष्णु बाह्य शक्तियों का प्रवेश और प्रसार ।

(घ) प्रभाव ।

२— सामाजिक

(क) जातियाँ, अन्तरजातियाँ, एवं पारस्परिक संबंध ।

(ख) स्त्रियों की स्थिति ।

(ग) निम्नजातियों की स्थिति ।

(घ) संस्कार ।

(ङ) लोक—जीवन ।

३— आर्थिक

(क) साहित्यिकों की आर्थिक स्थिति ।

(ख) साहित्यिकों द्वारा निरूपित आर्थिक स्थिति ।

४— सांस्कृति—

(क) धार्मिक—(देवतामंडल, देवस्वरूप, आचार)

(१) श्रौतस्मृति-परंपरा ।

(२) वैष्णव संप्रदाय ।

(३) जैन धर्म ।

(४) मोहम्मदी पंथ एवं मत-मतांतर ।

(ख) बौद्धिक—

(१) दर्शन ।

(२) इतर शास्त्र ।

(ग) कलात्मक—सामान्य पर्यालोचन ।

(घ) नैतिक ।

५— उपसंहार ।

द्वितीय खंड

वीर-रसात्मक काव्य

अध्याय १-प्राचीन परंपरा

(क) संस्कृत, प्राकृत और आदिकाल के वीर काव्य—
 (१) दृश्य और श्रव्य ।
 (२) प्रबंध और मुक्तक ।

(ख) कथावस्तु—
 (१) पौराणिक और ऐतिहासिक ।
 (२) पात्र-योजना, उनके रूप, गुण और कर्म ।

(ग) वर्ण्य वस्तु—
 (१) विषय और प्रकार ।
 (२) युद्ध-विधान ।
 (३) रणनीति-रणक्षेत्र, प्रस्थान, व्यूह-रचना, सैन्य-संचालन आदि ।
 (४) युद्ध-सामग्री-शस्त्रास्त्र, उनके नाम, प्रकार और प्रयोग ।

(घ) रस-व्यंजना
 (१) वीररस और उसके भेद ।
 (२) विभाव-चित्रण ।
 (३) स्थायी भाव उत्साह की योजना ।
 (४) संचारियों का प्रयोग ।
 (५) उद्दीपन के विविध रूप
  -आलंबनगत और तदितर ।
  -ऐश्वर्य, राजसभा, मंत्रणा आदि का वर्णन ।

अध्याय २- सामान्य प्रवृत्तियाँ

(क) केवल युद्धों का वर्णन ।
(ख) प्रशंसा की प्रवृत्ति ।
(ग) नायक के उत्कर्ष मात्र का वर्णन ।
(घ) धर्म-बुद्धि ।
(ङ) इतिहास-कथन।
(च) प्रबंध-योजना ।
(छ) लोकमंगल की भावना।
(ज) श्रृंगार और वीर का योग ।

अध्याय ३- रचनाओं के विविध प्रकार

(क) ऐतिहासिक वीर काव्य—
 (१) राजनीतिक घटनाओं की प्रधानता-प्रमुख-रूप से युद्धों की ।
 (२) आश्रयदाता का उत्कर्ष-चित्रण ।
 (३) सामूहिक युद्धों का वर्णन ।
 (४) वस्तु-वर्णन की प्रधानता ।
 (५) सर्गबद्धता-युद्धों के अनुसार ।
 (६) श्रृंगार का पुट ।
 (७) कवित्त, छप्पय, दोहा, रोला, पद्धरी आदि छंदों की प्रधानता ।

(८) परुष शब्दावली का प्रयोग--संयुक्ताक्षरों की बहुलता ।
(९) संवाद ।
(१०) कवि-परिचय ।

(ख) प्रशस्ति-काव्य--
(१) आश्रयदाता की प्रशंसा--विशेषतया शौर्य और दान की ।
(२) संवाद की योजना--पौराणिक रूप देने का प्रयास ।
(३) ऐश्वर्य, धाक, सैन्य-प्रस्थान, राजसभा आदि के वर्णनों की प्रधानता ।
(४) अलंकारों का चमत्कार--अतिशयोक्ति, रूपक, उपमा आदि की प्रधानता ।
(५) शत्रु-पक्ष के भय, त्रास आदि का विशेष वर्णन ।
(६) प्रबंध का अभाव, मुक्तकों की प्रचुरता ।
(७) प्रसंगोद्भावना ।
(८) कवित्त, सवैयों, छप्पयों की बहुलता ।
(९) भाषा में प्रवाह ।
(१०) छंदानुसार शब्द-निर्माण ।
(११) कवि-परिचय

(ग) धार्मिक वीरकाव्य--
(१) लोकरक्षक देवी-देवताओं की कथाएँ ।
(२) अत्याचारियों का विनाश और मानवता की रक्षा ।
(३) प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ ।
(४) कथा-प्रवाह ।
(५) व्यक्ति-विशेष के युद्धों का वर्णन ।
(६) युद्धों का सांगोपांग चित्रण ।
(७) उक्ति और रण-कौशल का चमत्कार ।
(८) सत्य, दान, दया आदि धार्मिक भावनाओं की पोषक पौराणिक कथाएँ ।
(९) उपदेश की प्रधानता ।
(१०) भाव-व्यंजना की प्रधानता ।
(११) चलते छंदों का विधान ।
(१२) भाषा, सीधी-सादी, प्रवाहपूर्ण ।
(१३) चमत्कार-प्रदर्शन का अभाव ।
(१४) कवि-परिचय ।

(घ) अनूदित वीर काव्य--
(१) दुर्गा सप्तशती और महाभारत के अनुवाद ।
(२) अनुवाद की विशेषताएँ--दो प्रकार के अनुवाद ।
(३) केवल अनुवाद के लिए--भावों के चित्रण के लिए ।
(४) भावों को नये ढंग से रखना ।
(५) सरलता की प्रवृत्ति ।
(६) संवादों की न्यूनता ।
(७) वर्णनों की प्रचुरता ।
(८) युद्धवीरता का विशेष वर्णन ।

(९) कथाओं का संक्षेप में कथन ।
(१०) भाषा प्रवाहयुक्त ।
(११) सहज एवं सरल अलंकारों का प्रयोग ।
(१२) छंद-विधान–दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, छप्पय रोला, पद्धरी की प्रमुखता ।
(१३) कवि-परिचय ।

(ङ) अन्य रचनाओं में वीररस की कविता
(१) प्रेमकथा–काव्यों में नायक की धीरता के प्रदर्शन में ।
(२) आत्मरक्षा एवं नायिका की रक्षा के निमित्त ।
(३) नायक के धैर्य, दृढ़ता और साहस के प्रसंग ।
(४) भक्ति की रचनाओं में भगवान् का लोकपालक रूप ।

अध्याय ४– काव्यवर्णित सामाजिक अवस्था
(१) रहन-सहन ।
(२) आचार-विचार ।
(३) रणनीति ।
(४) नर-नारी संबंधी–धारणाएँ ।
(५) वेशभूषा ।
(६) आभूषण ।
(७) शस्त्रास्त्र ।
(८) ऐतिहासिक और राजनीतिक अवस्थाएँ ।
(९) धार्मिक और आध्यात्मिक अवस्थाएँ ।
(१०) ऐहिक और आर्थिक अवस्थाएँ ।

अध्याय ५– उपसंहार–वीरकाव्यों की इतिहास को देन

तृतीय खंड

रीतिमुक्त शृंगारी काव्य

सामान्य परिचय

अध्याय १– (१) रीतिमुक्त रचनाओं के लक्षण ।
(क) मनोवेग तथा प्रेम की स्वच्छंदता
(ख) कृत्रिम प्रेम-व्यापारों का त्याग ।
(ग) भावप्रधानता ।
(घ) आत्मनिवेदन ।
(ङ) प्रेम का लौकिक पक्ष ।
(च) विरह-प्रेम का विषय तथा ऐकांतिक स्वरूप ।
(छ) प्रबंधपटुता ।
(ज) लोकजीवन का ग्रहण ।
(झ) मुक्तक का रूप ।

(२) साहित्य में उनकी स्थिति ।
(३) प्राचीन परंपरा ।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं के साहित्य में उनके रूप और हिंदी पर उनका प्रभाव ।

(४) हिंदी में संवत् १७०० के पूर्व उनकी स्थिति और स्वरूप ।

अध्याय २– भाग-चित्रण

(१) काव्यवर्णित प्रेम– रति का रूप ।
  (क) आस्तिक–प्रधान ।
  (ख) साधना-प्रधान ।
  (ग) भावात्मक ।
  (घ) अभिलाष–प्रधान।
  (ङ) स्वच्छंद ।
  (च) निर्भीक ।
  (छ) सहज ।
  (ज) उदात्त ।
  (झ) अनुभूतिमय ।

(२) प्रेम का वैषम्य–श्रीमद्भागवत और फारसी काव्य का प्रभाव ।

(३) नाना मन:स्थितियों का चित्रण ।

(४) परस्परविरोधी भावों की योजना–जैसे दैन्य,उत्साह,आशा-निराशा, उन्माद-चेतना।

(५) भावों की अन्तर्दशाएँ ।

(६) भावों की सूक्ष्मता ।

(७) अनुभाव-चित्रण ।
  नानाचेष्टाओं और शारीरिक अवस्थाओं की योजना ।

(८) वियोग की प्रधानता और उसका कारण ।

(९) प्रकृति-वर्णन–वियोगोत्तेजक ।

(१०) अभिलाष का महत्त्व और रूप ।

(११) लौकिक प्रेम का अलौकिक प्रेम की ओर झुकाव–विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों का प्रभाव ।

अध्याय ३– भारतीय प्रेम–प्रबंध

(१) प्रेमकथाओं की भारतीय परंपरा ।

(२) नायक-नायिका का रूप ।

(३) नायिका में प्रेम की प्रधानता ।

(४) नायक में प्रेम की पुष्टि में कर्त्तव्य की प्रमुखता ।

(५) समाज का रूप ।

(६) सर्गबद्धता का अभाव ।

(७) स्वच्छंदता की प्रमुखता ।

(८) काव्य का रूप ।

(९) भाषा और शैली ।

अध्याय ४– सूफी प्रेम-प्रबंध

(१) सूफी प्रेम-प्रबंधों की विशेषताएँ ।

(२) प्रेम का स्वरूप ।

(३) प्रेम का प्रत्यक्ष स्फुरण नायक में ।

(४) नायक में प्रेम व्यक्तिगत हित तक ही परिमित ।

(५) लौकिक प्रेम की ईश्वरीय प्रेम में परिणति ।

(६) काव्य का रूप ।
(७) वियोग की प्रधानता ।
(८) वस्तु-विभाजन का प्रकार ।
(९) भाषा और शैली

अध्याय ५– मुक्तक रचनाकार
(१) व्यक्तिगत प्रेम और भक्ति का समन्वय ।
(२) प्रेम की गहराई ।
(३) वियोग का चरमोत्कर्ष।
(४) प्रेम की नाना अवस्थाओं की अनुभूति ।
(५) अभिलाष और वेदना की गंभीरता ।
(६) भाषा पर अधिकार ।

अध्याय ६– भाषा और शैली
(१) भाषा
(क) नागर और साहित्यिक एवं पूर्णतः परिष्कृत ।
(ख) मुहावरों और लोकोक्तियों की सजीवता ।
(ग) लाक्षणिक विशुद्ध व्रजभाषा ।
(घ) नवीन शब्दों का निर्माण ।
(ङ) ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग ।
(च) नामधातु तथा क्रियात्मक संज्ञाओं का प्रयोग ।
(छ) शृंगाररसानुकूल कोमल-कांत व्रजभाषा, अर्थगर्भ तथा प्रवाहशील ।
(ज) लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार ।
(झ) व्याकरण-व्यवस्था ।
(२) शैली
(क) भावों का साक्षात् वर्णन ।
(ख) अतिरंजना की प्रवृत्ति ।
(ग) रहस्य-भावना के दर्शन ।
(घ) उक्ति की वक्रता, उसका स्वरूप ।
(ङ) अचेतन में चेतनत्वारोप ।
(च) नाम का प्रयोग ।
(छ) आत्मनिवेदन की प्रवृत्ति ।

अध्याय ७– छंद और अलंकार
(क) छंद-विधान
(१) रसानुकूल छंदों का प्रयोग ।
(२) घनाक्षरी और सवैयों की प्रधानता ।
(३) उनके रूप और भेद ।
(४) उनके इतिहास ।
(५) अरिल्ल, ताटंक, त्रिभंगी आदि छंदों का प्रयोग ।
(ख) अलंकार-विधान
(१) प्रयोगों की कल्पना ।
(२) उपमान-योजना में व्यक्तित्व की झलक ।
(३) प्रभाव का साम्य तथा मनोवैज्ञानिकता ।

(४) कल्पना-प्रसूत अलंकार ।
(५) दोष—उदाहरण ।

अध्याय ६— कवि-परिचय

चतुर्थ खंड

सगुण भक्ति-काव्य

१— प्रस्तावना ।
(अ) भक्तिकालीन सगुण काव्य-धारा का एतत्कालीन काव्य-रचना पर प्रभाव ।
(आ) एतत्कालीन सगुण भक्ति काव्य-धारा का भेदक वैशिष्ट्य ।
२— एतत्कालीन रामाश्रित काव्य-धारा तथा उसके प्रमुख कवि ।
(क) मर्यादाश्रित रामभक्ति-काव्य ।
(ख) मधुरभावाश्रित रामभक्ति-काव्य तथा उसके अन्तर्भेद ।
(१) स्वसुखी साधनाश्रित ।
(२) तत्सुखी साधनाश्रित ।
(ग) हनुमत्-काव्य ।
(घ) फुटकल रचनाएँ ।
(३) एतत्कालीन कृष्णाश्रित काव्य-परंपरा और उसके कवि
(क) पुष्टिमार्गीय कृष्णोपासनाश्रित ।
(ख) निबार्कमार्गीय ।
(ग) चैतन्यमार्गीय ।
(घ) राधावल्लभीय टट्टी-संप्रदाय आदि के आश्रित ।
(४) शिवाश्रित कविता और कवि ।
(५) शक्ति-देवीविषयक भक्ति-भाव की कविता तथा उसके कवि ।
(६) सूर्य, गणेश, गंगा आदि के भक्तिभाव-विषयक काव्य और उनके रचयिता ।
(७) जैन सांप्रदायिक काव्य और कवि ।
(८) हिंदीतर-भाषाभाषी कवियों का हिंदी-भक्ति-प्रवाह ।
(९) उपसंहार ।
सगुणोपासना—तत्कालीन और तदुत्तरवर्त्ती काव्य पर प्रभाव ।

पंचम खंड

निर्गुणपंथ-प्रवाह

(१) पूर्ववर्त्ती निर्गुण-प्रवाह की गति-विधि और विकास का सिंहावलोकन ।
(२) निर्गुण-पथ का तत्कालीन स्वरूप—संप्रदाय, पंथ आदि के भेद-प्रभेद का निरूपण
(३) हिंदू-निर्गुण-पंथ और उसके विविध रूप, पंथ के प्रवर्त्तक संतों और उनकी हिंदी-कृतियों का परिचय ।
(४) जैन अध्यात्ममार्गी संत—
विचारधारा—हिंदी-कवियों का परिचय ।

(५) मुसलमानी प्रवाह के संत ।
सिद्धांत–पक्ष ।
आधार–पक्ष ।
परिचय ।
(६) भाषा और अभिव्यक्ति-पद्धति का निरूपण ।
(७) उपसंहार-समाज और साहित्य पर प्रभाव ।

षष्ठ खंड

सुभाषित काव्य

(१) मुक्तक-रचना के प्रकार और उसमें सुभाषित का स्थान ।
(२) सुभाषित का लक्षण और उसके भेदों की कल्पना ।
(३) सूक्तियों के प्रयोग-प्रसार के विविध क्षेत्र और प्रयोजन ।
(४) भाषा, प्रयोग, शैली आदि का विवेचन ।
(५) सुभाषित कवियों और उनकी कृतियों का परिचय ।

सप्तम खंड

अनूदित काव्य

१– सामान्य परिचय
(क) अनूदित काव्य से तात्पर्य
(ख) अनुवाद-कवियों की प्रवृत्तियाँ
(१) धार्मिक ।
(२) साहित्यिक ।
२– अनूदित ग्रंथों का परिचय
(क) प्रकार
(१) साहित्यिक–प्रबन्ध-काव्य, विकसित एवं अलंकृत मुक्तक-काव्य–शृंगारिक (नैतिक तथा धार्मिक) ।
(२) धार्मिक स्तोत्र ।
पुराण ।
प्रकीर्ण ।
(३) विशेष परिचय ।
(४) उपसंहार

अष्टम खंड

शास्त्रीय समीक्षण और वार्त्तिक

(१) वीर-काव्य का विश्लेषण ।
(२) प्रेम-काव्य का निरूपण ।
(३) निर्गुण-सगुण कृतियों का विवेचन।

(४) सुभाषति और अनुवाद का विचार।
(५) हास्यरस का काव्य।
(६) रूपक-रचना और लीला, रास आदि का वाङ्मय।
(७) गद्य-विचार—गद्य का प्रयोग, प्रयोजन, और स्वरूप।
(८) अन्य वाङ्मय (काव्येतर) का सामान्य परिचय।
(९) व्याकरण-विचार—उपभाषाओं के भेदक तत्त्व, पदावली आदि का विचार, परंपरा और काव्य-रूढ़ियाँ।
(१०) रीति-काव्य एवं रीतिमुक्त काव्य का तुलनात्मक विचार।

प्रथम भाग के अध्याय १ को ही देखें। साहित्य के इस इतिहास में पर्वत, नदी, जलवायु, वनस्पति के साथ ही साथ जीव-जंतुओं का भी विवरण है; इसके बाद भारत के राजनीतिक तथा सामाजिक इतिहास का सर्वेक्षण है; फिर वेश-भूषा; तब कहीं संस्कृति आदि साहित्यों का उल्लेख है; और तब आता है भारतीय धर्मों, दर्शनों तथा कलाओं का ऐतिह्य। यह साहित्येतिहास की नहीं, विश्व-कोष की रूप-रेखा हो सकती थी। यह ठीक है कि साहित्य में जीव-जंतुओं के भी वर्णन होते हैं, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि देश के जीव-जंतुओं का विस्तृत इतिहास साहित्य के इतिहास का अनिवार्य अंग बने। विश्व की किसी भी भाषा के नये-पुराने साहित्येतिहास-विषयक ग्रंथ में यदि ऐसी 'ऐतिहासिक पीठिका' हो, तो उसे देखने का सौभाग्य हमें प्राप्त नहीं हुआ है।

हमने सुविधा के लिए, प्रथम भाग के अतिरिक्त, बीच से दो और भाग ले लिये हैं—षष्ठ और सप्तम। सात-आठ सौ पृष्ठों की 'ऐतिहासिक पीठिका' को भी जैसे अपर्याप्त मानते हुए, इन दोनों भागों में भी अलग-अलग राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा कलाविषयक पृष्ठभूमि है, और पहले में संपूर्ण संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का इतिहास भी, जो अब हिंदी के भी एकाधिक ग्रंथों में सहज ही सुलभ है। इस बृहत् इतिहास की 'योजना' में दावा किया गया है कि "इस संबंध में अँगरेजी तथा अन्य समृद्ध भाषाओं में प्रकाशित मालाओं का अवलोकन किया गया है। इनकी योजना और पद्धति यथासंभव अपनाई गई है।" ऐसी स्थिति में हम यही कह सकते हैं कि हिंदी के बृहत् इतिहास के संपादक-मंडल ने अँगरेजी साहित्य के नवीनतम इतिहास, जो अभी अपूर्ण ही है, के संपादकों के इस कथन को अवश्य ही विचार के योग्य नहीं माना होगा—

"विचारों का साहित्य पर ऐसा प्रभाव पड़ता है, जिसे अन्विष्ट किया जा सकता है, बहुधा पर्याप्त संभाव्यता के साथ, और कभी-कभी निश्चयपूर्वक। जब हम सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों की ओर मुड़ते हैं, तब हम अपने को सर्वथा भिन्न स्थिति में पाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं करता कि ये वस्तुएँ किसी लेखक की कृति को कम-से-कम उतना तो प्रभावित करती ही हैं, जितना विचार कर सकते हैं; किंतु यह प्रभाव सहज प्रत्यभिज्ञेय नहीं होता। ·· मनुष्यों की परिस्थितियों को उनके साहित्यिक उत्पादनों को साथ अतिशय निकटता के साथ संबद्ध करने के प्रयास, मैं मानता हूँ, साधारणतः असफल सिद्ध होते हैं।"

हिंदी के इस प्रस्तूयमान इतिहास में युग-विभाग के नाम पर जैसी बाल की खाल निकाली गई है, वह भारतीय मनीषा के ह्रसकालीन वर्गीकरण—प्रेम के सर्वथा अनुरूप है, और आज के विकसित वैदुष्य से अप्रभावित। युग-विभाजन पर पूर्वोक्त अँगरेजी साहित्येतिहास के संपादकों के

इस कथन की क्या सहज ही उपेक्षा की जा सकती है !—"किसी युग, सप्ताह या दिवस में जो जीवन वस्तुतः जिया जाता है, वह ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों और असंप्रेषित, असंप्रेष्य तक, अनुभवों से बना होता है, जो समस्त आलेखों को चकमा दे जाते हैं। जो कुछ भी बचता है, संयोग से ही बचता है। ऐसे आधार पर मैं, समझता हूँ, वैसे ज्ञान तक पहुँचना असंभव है, जो इतिहास के 'दर्शन' के विचार में अंतर्निहित है। ऐतिहासिक युगों पर आरोपित प्रवृत्तियों, 'अर्थों' और 'गुणों' के बारे में यह भी कहना रह जाता है, वे उन्ही युगों में सर्वाधिक परिलक्षित होते हैं, जिनका हमने न्यूनतम अध्ययन किया है।...

किंतु यद्यपि 'युग' सदोष विभावन है, फिर भी वे पद्धतिक अनिवार्यता हैं।"[१] वस्तुतः उद्धृत रूप-रेखा को देखते हुए बृहत् इतिहास के बारे में सूक्ष्मतापूर्वक विचार करना ही अनावश्यक है।

अद्यावधि हिंदी साहित्य का ही क्यों, भारत का सांस्कृतिक इतिहास मात्र प्रत्नान्वेषकों का, न कि इतिहासकारों का, क्षेत्र रहा है। यदि पूर्णतः नहीं, तो आंशिक रूप में इसका कारण यह अवश्य है कि इसके लिए आवश्यक आधारभूत सामग्री का बहुलांश पुस्तकालयों, भांडारों तथा व्यक्तिगत संग्रहों में दबा और छिपा पड़ा रहा है और आज भी वह संतोषजनक रूप से सूची-बद्ध नहीं हुआ है। राज-पुस्तकालयों, धार्मिक संप्रदायों के भंडारों, मठों तथा साहित्यानुरागियों के संग्रहों में आज भी हिंदी साहित्य के विभिन्न युगों की प्रभूत सामग्री बिखरी हुई है और उसका एक बड़ा अंश तो नष्ट हो गया है या नष्टप्राय है। जो सामग्री बची होगी, वह भी कम नही है, और यह जैन-भांडारों के प्रकाशित होनेवाले सूची-पत्रों से सहज अनुमेय है, तो यह भी सत्य है कि देशी नरेशों तथा जमींदारों के उन्मूलन के साथ ही साथ सांस्कृतिक महत्त्व की विपुल और महार्घ सामग्री नष्ट होने के लिए छोड़ दी गई है। कभी आततायियों ने ऐसी अपार सामग्री अग्निसात् कर अपनी पाशविकता का परिचय दिया था; हमने एक ही वैधानिक हस्तावलेप से सामंतों के अधिकार और धन, कोठियों और बाग-बगीचों का समाजीकरण तो कर दिया, किंतु घोर अदूरदर्शिता का प्रदर्शन करते हुए उनके दुर्लभ संग्रहों को उन्हींके भरोसे छोड़ दिया! किंतु आज भी इधर-उधर पर्याप्त सामग्री बिखरी पड़ी है। अलग-अलग अनुसंधानकर्त्ताओं द्वारा इसकी खोज और जाँच-पड़ताल होती रहती है। फिर भी, इस सामग्री के विवरणों के अभाव के कारण, इतिहास अवरुद्ध हुआ है, और कभी-कभी विकलांग भी।

पुस्तकालयों के सूची-पत्रों का महत्त्व हमने आज भी नहीं समझा है। विश्वविद्यालयों और शोध-संस्थाओं के तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों के सूची-पत्रों को देखकर इस तथ्य का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। यह नहीं कि भारत में भी इस दृष्टि से अपवादस्वरूप पुस्तकालय नहीं है, किंतु यह भी सत्य है कि हिंदी के ऐसे अपवादस्वरूप पुस्तकालय बहुत कम हैं : हाल-हाल तक राष्ट्रीय पुस्तकालय तक का हिंदी-विभाग नितांत अव्यवस्थित था और नागरी-प्रचारिणी सभा, अखिलभारतीय हिंदीसाहित्य-सम्मेलन आदि के पुस्तकालयों तक के सूची-पत्र संतोषजनक नहीं हैं। पुस्तकालयों के सूची-पत्र साहित्यिक इतिहासकार के बहुत मामूली औजार लग सकते हैं, पर यह भी ठीक है कि इनके विना काम चल ही नहीं सकता। जिन पुस्तकालयों के सूची-पत्र नहीं होते, या होते हैं तो अपूर्ण और अप्रामाणिक, वे प्रत्नान्वेषकों के लिए ही महत्त्वपूर्ण होते हैं, इतिहासकार उनका लाभ नहीं उठा सकते। हमने अन्यत्र उल्लेख किया है कि टामस वार्टन ने अँगरेजी काव्य का इतिहास लिखने का तब निश्चय किया था जब अँगरेजी साहित्य का अतिशय समृद्ध हार्लियन संग्रह सूची-बद्ध हो चुका था।

इसके विना कदाचित् वार्टन को यह इतिहास लिखने का साहस ही नहीं होता । ठीक ही कहा गया है कि—

"To adjust minute events of literary history is tedius and troublesome. It requires indeed no great force of understanding but often depends upon enquiries which there is no opportunity of making or to be fetched from books and pamphlets not always at hand"[३]

हिंदी के जैसे-तैसे पुस्तकालय हैं भी और उसके भाषावैज्ञानिक तथा पाठमूलक वैदुष्य का यत्किंचित् विकास भी हुआ है, तो हमें एक दूसरी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। साहित्यिक इतिहास की परिधि और पर्यवस्थिति परिभाषित करने के लिए आलोचनात्मक परंपरा आवश्यक है। हमारे यहाँ इसका अभाव है। पिछले दो-तीन दशकों में हिंदी की साहित्यिक परंपरा के मूल्यांकन पर विभिन्न लेखकों ने निबंधादि लिखे हैं, किंतु उनके आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि हमारे पास संतोषजनक आलोचनात्मक परंपरा है।

टिप्पणियाँ

१। ऑक्सफोर्ड हिस्टरी ऑफ् इंगलिश लिट्रेचर, सं० एफ़० पी० विल्सन तथा बोनामी डोब्री, ऑक्सफोर्ड १९५४, पृ० ५६ ।

२। उपरिवत्, पृ० ६४ ।

३। 'Edmund Gosse,' The Virginia Quarterly, खंड ३२, शिशिर १९५६ में पृ० ७४ पर Alec Waugh के एक निबंध में उद्धृत।

(९)

हिंदी के गौण कवियों का इतिहास

इतिहास संपूर्ण विस्तार का सर्वेक्षण, अनुशीलन और मूल्यांकन है; शोध विस्तार के खंड-खंड का उद्घाटन और विश्लेषण करता है; और आलोचना पथ-चिह्नों पर प्रकाश केंद्रित करती है । तीनों एक दूसरे के लिए आवश्यक और पूरक होते हुए भी स्वतंत्र महत्त्व के अधिकारी हैं ।

साहित्यिक इतिहास का विषय भी यदि विस्तार है, तो महान् लेखकों से अधिक महत्त्व उन गौणों (Minors) का है, जिनसे विस्तार निर्मित होता है । हिंदी साहित्य के इतिहासों में इन महान् गौणों की उपेक्षा हुई है और इसका कारण यह है कि शोध ने अपने वास्तविक कर्त्तव्य का पालन नही किया है : वह उन पथ-चिह्नों तक ही सीमित रहा है, जो वस्तुतः आलोचना के विषय हैं । यदि इसका उत्तर यह है—और नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता —कि अभी तो पथ-चिह्न ही पूर्णतः उद्घाटित नहीं है, तो इतिहास को तबतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, जबतक शोध को अपना कार्य पूरा कर लेने का अवकाश नहीं मिलता ।

अधिक पीछे तक जानेवाले विस्तार को छोड़ दें, आज से सौ, दो सौ वर्षों पूर्व के हिंदी के सहस्राधिक गौण लेखक इस प्रकार नाम-शेष हो गये हैं कि हिन्दी के शोध-कर्त्ता को पुस्तकालयों के अनुसंधान-कक्षों से निकलकर क्षेत्र-कार्य में कुशल गुप्तचरों की तरह लगना होगा । आगे के पृष्ठों में हिंदी के कुछ गौण लेखकों तथा उनकी कृतियों की तालिकाएँ प्रस्तुत हैं ।

विश्वविद्यालयों या संस्थाओं को तबतक बृहत् और विशाल साहित्येतिहासों की योजनाएँ स्थगित कर देनी चाहिए, जबतक इन लेखकों और कृतियों के प्रामाणिक विवरण और संपादित पाठ सामने नहीं आ जाते । केंद्रीय सरकार के शिक्षा-विभाग का ध्यान इस आवश्यकता की ओर गया है और, जहाँ तक हमें मालूम है, गौण कृष्ण-भक्त कवियों तथा रीतिवादियों की कृतियों के संकलन और प्रकाशन की योजना विचाराधीन है । जबतक यह, या ऐसी अन्य योजनाएँ, पूरी नहीं हो जातीं, तबतक व्यक्तियों द्वारा लिखित साहत्येतिहासों से ही हमें संतुष्ट रहना पड़ेगा, अन्यथा पिष्ट-पेषण और मंडूक-स्फीति को ही हम बृहत् बनाकर आत्म-प्रवंचना के शिकार होंगे ।

नीचे प्रस्तुत तालिका में अधिकतर ऐसे ही कवि हैं, जिन्होंने मुक्तकों की रचना की है। इनमें अनेक ऐसे होंगे, जिनके मुक्तक कभी पुस्तकाकार संगृहीत नही हुए होंगे। इसी कारण संस्कृत में सूक्ति-संग्रह और हिंदी में 'हजारा' साहित्य[१] की आवश्यकता समझी गई थी ।

'हजारा' साहित्य का महत्त्व अबतक हमारे शोध-कर्त्ता समझ नही पाये हैं । आज तो हिंदी के सैकड़ों कवियों के मुक्तक केवल 'हजारा' साहित्य में ही प्राप्य रह गये हैं, और उन्हीं से इनका संकलन किया जा सकता है ।

हमने अपनी पृथक् अध्ययन-सरणि के निर्देशनार्थ परमानंद सुहाने के नखशिख-हजारा[२] से ऐसे गौण कवियों के नाम और उनके मुक्तक छंदों की प्रथम पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जिन्हें

अन्य 'हजारा' पुस्तकों तथा संग्रहों में प्राप्य नामों और छंदों से मिलाकर यथासंभव बृहत् संग्रह तैयार किया जा सकता है और इतिहास के परिच्छेद-विशेष के रिक्त कोष्ठ पूरे किये जा सकते है ।

'नखशिख-हजारा' के कवियों का सूचीपत्र

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर (जैसे 'हजारा' में है)
१ श्रीधर कवि			
कोहर औं बिंदु इंदु बधूके वरण जीते	३	१७	१०
		(टोटल	१)
२ श्रीपति कवि			
आगिराति ललित बनत चहुँ ओर लागी	५०	१५	४
कैसे रति रानी के सिधोरा कवि श्रीपतिजू	५१	९	७
कंचन की पाटीपर काजर की धार मानो	२१३	९	४
फूले पारिजात में लखात है मधुप कैधौं	१४१	१६	६
पलकै अमोल तापै बरुनी झबा लसत	१६२	६	२८
खंजन के प्राणपिय बिरह तिमिर भान	१६६	५	४५
सुखमा मलिंद के अलिंद अरविंद है	१६८	११	५५
सारी घनघोर वारी जरजरी कोरवारी	२४३	५	९६
झूमत झुकत उझकत फेर झूमत है	१६९	२	५८
बादर रसाल पर दामिनी को ख्याल कैधौं	२०५	१०	५
वारिजात वारिजात पारिजात पारिजात	२५४	१२	१४४
चन्दकला की कला कलधौत की	२३२	१७	१५७
रोहिनी रमण की मरीची सी सुखद सारी	२५७	१७	१५७
गोरी महाभोरी तेरे गातकी गुराई देखि	२६२	१९	१७९
		(टोटल	१४)
३ आलम कवि			
मौनीबिबि गंगाकूल करत तपस्या कैधौं	५५	४	२३
सम्पुट कमल तापै राजत प्रभात द्युति	५६	१८	२९
सजनी मिलि द्वै अवलोकिक है	६९	१०	९
सुधा को समूह तामें दुरे हैं नक्षत्र कैधौं	११३	३	१८
सौरभ सकेलि मेलि केलिन्ह की बेलि कीन्ही	२४५	२३	१०७
रजनीमधि प्यारी ने गौन कियो	६९	५	८
रंगभरी रसभरी सुन्दर सुगन्ध भरी	२५८	४	१५९
फूलि फुलवारी रही उपमा न जात कही	१११	१६	११
प्यारीतन भूमि तामें रूप जलसागर है	१५३	९	२२
प्रेम रँगपगे जगमगे जागे यामिनी के	१६२	१२	२९
लांबी लहकारी बहुँ पेचन की भारी	२१७	१७	२२

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
अंगनई ज्योतिलै बरंगना विचित्र एक	२२२	२५	१३
हारही के भार उरभार ना सँभारै नारि	२५९	१८	१६६
देह में बनकसी है नूपुर झनकसी है	२६६	८	१९४
		(टोटल	१४)
४ अमेरश कवि			
किंधौ रूप सरोवर में ते कढ्यो	९१	१४	८
हमही में रहै पै न कहेमें है दहै देह	१६१	१४	२५
		(टोटल	२)
५ अम्बुज कवि			
क्षीरधि की क्षीर कैंधौं नीरसर आपको	१२२	३	८
		(टोटल	१)
६ औध कवि			
उड़िगे चकोर मोर खंज शिलीमुख्य जोर	२७६	४	८८
		(टोटल	१)
७ ईश्वर कवि			
पीठि तन ताकतही दीठि डसिलेत	२१६	११	१७
		(टोटल	१)
८ उदैनाथ कवि			
अरुण कमल अरुणोदय परम मित्र	८	५	२९
		(टोटल	१)
९ ऊधव कवि			
कजुल कवच किये बरुनी के शर लिये	१५८	१४	१२
		(टोटल	१)
१० ऊधवराम कवि			
यौवन प्रवाह तामें छबिकी तरंग उठै	१७२	२०	७४
		(टोटल	१)
११ केशो कवि			
काम की दुहाई की सुहाई सखी माधुरी की	११७	११	४
		(टोटल	१)
१२ केशव कवि			
चम्पकली दलहूते भली	१२	७	३
चहूँ ओर चित्तचोर चाक चक चक्रमणि	२५	१८	४
कोमल कमलमुखी तेरे ये युगल जान्हु	२३	१५	१०
केशवकुँवर देखी राधिकाकुँवरि आजु	८८	१८	१२
केशव सुगन्ध श्वास सिद्धिन की गुफा कैधौं	१४८	६	१
केशव वाची चितौनकी कौन	१७७	४	२
केशव अशोक कीधौं सुन्दर शृंगार लोक	१८८	२०	१
केशव कसाहै कैधौं अनंग की सुरंग भूमि	१९७	१८	१८

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
कैधौं भयो उदित अनंगजू को अंगउर	१०४	५	१
कैधौं मुख कमल में कमला की ज्योति होति	१२४	१६	१६
कैधौं लागी पंकज के अंक पंक लीक	१८८	५	१३
कैधौ कुहू युग आय मिली	१६६	८	४
कैसी छबीली की छाय रही छबि	२०६	२२	२
अधर अरुण अति सुबुधि सुधा के घर	१२६	१४	१८
पहिरे करणफूल देखी है कुमारी एक	१४७	११	१८
पियमन इत कैधौं प्रेमरथ सूत कैधौं	१७५	११	८५
राधे के अंग गोराई सी और	२५८	१६	१६१
		(टोटल	१७)

१३ केशवदास कवि (प्रसिद्ध)

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
कैधौं यह कोमल अमलता की रंगभूमि	३	११	६
कैधौं काम बागवान बोई या शृंगार बेलि	४१	२३	५
कैधौं मनोहर मनिहार दिति सुत	५३	४	१५
केशवदास गोरे गोरे गोलकाम शूलहर	७५	१६	१५
केशवदास रागरागिनीन को कि अंगराग	१०७	२३	३
कैधौं कली बेला कि चमेली की चमक परै	१०६	७	१
किधौं सातौ मंडल के मंडन मयंक मधि	११३	१५	२०
कैधौं हरि मनोरथ रथकी सुपथ भूमि	१३८	४	१४
केशवदास सकल सुवास को निवास सखि	१५४	२	२५
कैधौं रसराज रस रसित असित	१८४	१२	४
कोमल अमल चल चीकने अमर चारु	२११	१६	२३
गंगाजू के जलमध्य कंठ के प्रमाण बैठि	८	१७	३१
गोरी गोरी आँगुरीन राते से रुचिर नख	८२	५	५
गजरा बिराजै गजमोतिन के अतिनीके	८५	१०	४
ग्रहनि में कीनो गेह सुरनिदै देख्यौ देह	१०२	११	३३
भूत की मिठाई जैसी साधु की झुठाई जैसी	२६	१०	१
आली ऐड़दार बैठी ज्वानी के तखत पर	६२	४	५३
सुर नर प्राकृत कबित्तरीत आर भरी	६२	११	१२
शोभन शृंगार रसकीसी छोटिसोहै फोंक*	१३४	६	१४
शोभन शृंगार रसकीसी छोटिसोहै फोंक*	१४१	२	४
लेति मोल लाल को अमोल चित्त गोल ग्रीव	६२	१८	१३
देखत ही आधा पल बाधी जाति बाधा सब	११६	७	१०
रागनि के आगर विराग के विभाग कर	१४६	२४	१६
खुटिला खचित मणि सोहत बनिक बनि	१४७	५	१७
चन्दन चढ़ाय चारु कुम्कुम लगाय पीछे	२१०	५	२०
		(टोटल	२५)

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
१८ कोविद कवि			
वे धरैं अंग भुजंग के भूषण	५६	८	४०
कैधौं मित्र मित्र में बसाई है किरण	११०	२३	८
		(टोटल	२)
१९ कविराज कवि			
ह्वजे न आतुर ह्व अबही	६१	२	४८
		(टोटल	१)
२० किशोर कवि			
आई जल केलिकैं नवेली रति रंग भरी	६८	८	४
लगी जब आश तब उतरयौ अकाश ही ते	१५१	२४	१६
		(टोटल	२)
२१ कुशलसिंह कवि			
कञ्चन की पाटी तामें सोहन करयो है कैधों	८६	२२	४
कैधौं कली बेला की चमेली की चमक चोका	११०	१	४
शारदा की सेज कैधौं सुख की सहेली सोहै	११४	२५	५
अरुण से अमल कमल की सी कोमलाई	१२५	१५	१
गाड़ परयो कैधौं यह मदन मतंग मात्यो	१३३	२२	१२
मोहर ज्यों मुक्ता की युगल बिकारी दई	१६४	११	४
		(टोटल	६)
२२ कवीन्द्र कवि			
ऐसे नैन मैन के न देखे ऐन सैन के	१७३	१	७५
चलत मरालन की महिमा घटावै	२३५	१९	६५
गरब गुरज पै चढ़ाई तोप कोप करि	२६२	७	१७७
गहिरी गुराई ते प्रथम चूमि चामीकर	२६२	१३	१७८
		(टोटल	४)
२३ कृष्णलाल कवि			
केशरि को कंचन ने कंचन को चम्पक ने	१०२	२४	३५
		(टोटल	१)
२४ कामताप्रसाद कवि			
कुन्दन से झलकै खलक बशकरै	६२	१०	५४
आनन अनूप छबि छलकी छटा सी होत	६४	१४	७
		(टोटल	२)
२५ गिरधर कवि			
रजोगुण रंगवारी जावक सुरंगवारी	१७	१४	२
कञ्ज की कली से उपमा हुं भली के	५१	१५	८
		(टोटल	२)

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
२६ **गिरिधरदास कवि**			
आजु अलबेली अलबेले संग रंगधाम	५०	६	३
आनन की उपमा जो आनन को चाहै तऊ	२२२	१	६
		(टोटल	२)
२७ **गिरिधारन कवि**			
सोवत बाल गोपाल लखी मुख	२०२	२१	६
		(टोटल	१)
२८ **गंग कवि**			
सोने के चूरन में चम कै	५७	१२	३२
सुन्दरी साज शृंगार सुधारति	१६८	१	५३
श्रीनँदलाल गोपाल के कारण	१६३	१६	१
को बरणै उपमा कवि गंग	११०	१८	७
कारी झपकारी बरबरुणी सुसौंहें सोहै	२८८	२१	३०
बांकी भौंहै सोहै बांकी चितवनि मनसोहै	१४१	२२	७
दीरघ ठरारे आछे डोरे रतनारे लागे	१७२	८	७२
अंगतेरो केशरिसो करिहांके हरि कैसो	२२२	१६	१२
		(टोटल	८)
२९ **गोकुल कवि**			
मानो मनोज की पाटी लिखी	८७	१५	७
भृकुटी कुटिल राजै मूठिसी बिराजै बैर	१६७	६	५०
वारिज सो मुख मीनसे नयन	२५६	१८	१५३
		(टोटल	३)
३० **गुलाब कवि**			
राख्यो मयंक के पीछे फनीफन	२१५	२५	१५
		(टोटल	१)
३१ **ग्वाल कवि**			
सोहत सजीलें सित असित सुरंग रंग	१६८	१७	५६
को रति है अरु कौन रमा उमा	२२०	११	३१
जोपै मुख प्यारी को बताऊँ चारु चन्दसो	२३६	८	८०
		(टोटल	३)
३२ **गुपाल कवि**			
ज्ञानभयो जबते तबते	१३२	८	५
		(टोटल	१)
३३ **गुंधर कवि**			
नेकजो हंसो तो लालमाल होत हीरन की	२६१	७	१७३
		(टोटल	१)

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
३४ गदाधर कवि			
राधिका के चरण बिराजैं चारु माणिक से	२५६	६	१६४
		(टोटल	१)
३५ गोकुलचन्द कवि			
रंगभरे बहु बिद्रुम के बिच	१२३	२५	१६
		(टोटल	१)
३६ घासीराम कवि			
सुख की नदी में कैधौं परत गँभीर भौर	३४	४	३
कारे कजरारे सटकारे घुँघवारे प्यारे	२०७	६	४
		(टोटल	२)
३७ घनआनन्द कवि			
शोभा सुमेरु की संधितटी	८८	६	१०
अंगुरीन लौ जाइ भुलाइतही	२२३	७	१४
अंजनतोरही ताको करैनित	२२३	१२	१५
जिनही बरुणीन सों बांध्यो हियो	२३८	१७	७७
		(टोटल	४)
३८ घनश्याय कवि			
बैठी चढ़ि चांदनी में चन्द्रमा विलोकन को	२५५	२४	१५०
		(टोटल	१)
३९ चंदन कवि			
सिंहनी की करिहांते छीन कंजनाल करयो	३०	१६	६
		(टोटल	१)
४० चिन्तामणि कवि			
प्यारी के पगन पाई एती अरुणाई	७	२	२५
सार घनसार लै केसर कनकचूर	२०	२	१
सुन्दर बरण राधे शोभा को सदन तेरो	९९	१०	२१
सोहत है चिन्तामणि नगनजटित दिब्य	१३६	२३	९
अंधकारमध्य मुनि मैन की गुफा है कैधौं	३४	१०	४
चिंतामणि चौकी श्याम मणि के मयूषन की	४१	९	३
चामीकर जूहचम्प चांदी को चलन कहा	२३४	१६	६१
चैत चांदनीके कैधौं चन्द अवलोकन ते	२३४	३	५०
बालपन दूरि करि बालतन मध्य आइ	५९	२	३९
बारन की रचना रची है प्राणप्यारी एरी	२१४	२५	११
यौवन महीपति को सेवक मदन तोहि	८७	२०	८
जाको लय सारदेश करत है गधवध	१००	२२	२०
कैधौं द्विजराजी द्विजराज जूको सेवत है	१११	१०	१०
		(टोटल	१३)

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
४१ **जयकवि**			
कोऊ कहै नाक हाँसी कोऊ मनमथ फाँसी	१४६	११	६
		(टोटल	१)
४२ **जगदीश कवि**			
कुण्डलरूप अरूप बिराजत	१४८	२५	४
		(टोटल	१)
४३ **जीवन कवि**			
महा मञ्जु नाभी सर रूप है सलिलवर	५५	१०	२५
		(टोटल	१)
४४ **ठाकुर कवि**			
कोमलता कंज ते गुलाब ते सुगन्ध लैकै	६५	२१	६
जगर मगर जरवाफिये बसन साजे	२३७	५	७१
		(टोटल	२)
४५ **तोष कवि**			
गोरी गुलाटी सुठ ठारसी सांचे की	२०	६	२
जान किधौं है रती रतिनाथ को	२४	१	५२
कैधौं द्वार मार जू के दोऊ चारु चौतरा है	२४	२५	१
कैसे कहौ कोक वे तो शोक में ही रहत निशि	५३	१६	१७
कैधौं काम महल के कनक कँगूरे पूरे	५३	२३	१८
करतार करे यहि कामिनी के कर	७७	१	३
कैधौं करतार तार सरस श्रृंगार ही ते	२०७	१५	५
कैधौं पुरहूत वारी बाटिका को नारियर	२१६	५	३
पारसी पांति की पीपर पत्र	४५	१४	३
प्यारी सुकुमारी ताके उरज बढ़त आवै	७०	६	१३
अरुण अनार ऐसे नारंगी सुढार ऐसे	४०	२२	५
सोई हुती पलंगापर बाल	५७	७	३१
साँचे ते निकारी भरि प्यारी की ललित पीठ	८८	११	११
फूलन सी झरि शूल हरै	११८	३	७
देखे अरुणाई करुणाई लगै कंजन पै	१७१	२१	७०
		(टोटल	१५)
४६ **तारा कवि**			
कैधौं बिबि नीलकण्ठ बसत सुमेरु पर	५२	११	१२
अति अनियारे तारे कजरारे रेक भारे	१५०	१६	८
गुजागिले खञ्जन की भौर भय कञ्जन की	१६४	३	३६
		(टोटल	३)

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
४७ **तुलसी कवि**			
भाषत है मुखबैन सखीन सों	२४८	२३	१२०
		(टोटल	१)
४८ **दिवाकर कवि**			
अँगुठा अनोटे छोर अँगुरी अरुण तोर	१६	३	३
अमल कपोलन पै अमोल गोल श्याम रंग	१४०	८	१
पायजेब घुंघुरू घुमाउ देइ जाब पाव	१८	६	२
हाटक समान रम्भ खम्भसी लसत जानु	२२	२१	७
कैधौं खरी खीन कटि निकसी नितम्ब पीन	२६	५	६
कारे सुकुमारे पन्नगी के रूप धारे बीर	४५	८	२
कैधौं जग जीति मार दुन्दुभी उलटि दीन्हे	५१	३	६
कैधौं अरबिन्द प्रात वापी में प्रकाश भयो	६६	२	७
कैधौं स्वेद अहर बिचारिकै बनायो बिधि	१०६	१८	६
कैधौं दाने दाड़िम के पांति पांति राजत है	१०९	१३	२
केकी पिक कोकिला अवाजन पै गाज परै	११७	५	३
कीरकैसे ठौर पेख परमप्रकाशमान	१४८	१२	२
कारे कजरारे रतनारे अरबिन्दसम	१६०	२१	२२
कैधौं अली पक्षको पसारि बैठो दर्पण में	१८५	१७	२
कारे सटकारे केश मृदुताभरी है वेश	२०६	१६	१
कोठरी अँधेरी प्यारी बरति मशाल कैसी	२२५	१८	२४
कंचनकी बेलीसी नवेली को शरीरलागे	२२५	२४	२५
सारी जरतारी बूटी मोतिन किनारीदार	३१	१५	१०
सोनाकी कली पै कैधौं भौंरा लपटि गयो	८१	२४	४
शंख जडे मणिमाणिक सों	९०	२४	५
सीप के समान कानरंचक लखात प्यारी	१४४	२४	७
सूर सुरमा के सैन कामजंग जीतहेतु	१८१	२१	४
शीशफूल शीशपै रतीश के निशान कैधौं	२०४	२३	३
जंघयुग डोरि धरि लहरी सुरोम झोरि	१८	१३	४
जोशनबाजू बिजायठ भूषित	७५	४	१३
जूराशीश ऊपर कँगूरा कामबीर कैसो	२१९	१८	५
मदनमहीप कुचगुम्बज उठाय उर	५४	२३	२२
मदनके कूपकैधौं रूपके तलाब मंजु	१३३	४	९
मदनमहीपके मुकुर द्वै सोहात गोल	१३५	२	१
मेचक अलकलट छूटि कै कपोल आयो	१९४	५	३
बेनीछूटि शीशते लटकि झूमिझूमिकर	८७	४	५
बोलत बाल प्रसून झरै	१२२	२३	११
बारगुहि रेसम से दीन्हीलटकायपीठ	२१५	१२	१३

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
लालेमृदु उथले सुथलफेल कुंदुरू से	१२६	२१	६
भाल में विशेषबास अधर बुझावै प्यास	२४९	३	१२१
भानु से अधरबिम्ब कृष्ण से चिकुर प्यारी	२५३	८	१३९
		(टोटल	३६)

४९ **देवकीनन्दन कवि**

मोतिन की माल तोरि चीर सब चीर डार्यो	२५०	१३	१२७
		(टोटल	१)

५० **देवकवि**

भोरहि भोरहि श्री वृषभानके	७३	१५	६
भृकुटी तनी को लटनागिनी फनी को देव	९०	२४	१५
भागभरे आनन अनूप दाग शीतला के	१०६	१२	५
भोजन कै भामिनि भवनबीच ठाढी भई	२४८	१६	११९
मृगनैनी के पीठि पै बेनी लसै यों	८०	१०	६
मांग सिंदुरारीतन तरुण अरुण ज्योति	२५१	१०	१३१
घूंघट खुलत अवै उलट ह्वै जैहै देव	१००	९	२५
घांघरो घनेरो लांबी लटै लचकीलो लंक	२६६	२५	१९७
गोरोमुख गोल हरे हँसत कपोल बड़े*	१००	१५	२६
गोरी गरबीली उठी ऊंघत उघारे गात	२६१	२०	१७५
गोरेमुख गोल हरे हँसत कपोल बड़े*	२६२	१	१७६
सोने में सुरंग सब बैसई लसत अंग*	१०४	२४	४
सौतिन को होत दुख सखिन को सुखसुने	११९	२	११
सोने सो सुरंग सब बैसई लसत अंग*	२४२	२३	९५
सूझत न गात बीति आई अधरात	२४५	१७	१०६
क्षरि कीसी लहरि छहर गई क्षिति माँह	२३६	१८	६९
देखी ना परति देव देखिबे की परी बानि	११६	१	९
बसि बर्ष हजार पयोनिधि में	१४५	११	९
बरुणी बघम्बर में गूदरी पलक दोऊ	१०४	१०	८२
नीचे को निहारत नगीचै नैन अधर	१५२	६	१७
नासिका ऊपर भौंहन के मधि	१८०	१५	१०
आई हुती अन्हबावन नाइन	२२२	१४	११
कुन्दन के अंग लव यौवन सुरंग उठै	२२३	१७	१६
कंज से चरण देव गढ़ीसी गुलफ शुभ	२२०	२१	३३
चोवा सों चुपरि केश केसरि सुरंग अंग	२३३	१५	५७
जोनितके जूहनि दुरासद दुरूहनि	२३९	१५	८१
उज्ज्वल अखण्ड खण्ड सातये महल महा	२६७	१९	२००
		(टोटल	१७)

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
सकुच समेत ह्वै कै सुन्दर समेटि शुण्ड	२३	३	८
सुन्दर सुवेष रुचि राजत त्रिवेष युत	६०	१८	४
सरस श्रृंगार रस सारही को धार यह	१६५	४	७
रागिनी की मण्डली रची है कामदेव कैधौं	२०	२१	१
रूप की नदी ते निकसत मन्द मन्द कैधौं	४८	१०	३६
यौवन सरोवर में अलक झलक कैधौं	४१	२	३
कैधौं बिधु ऊपर बधूक के कुसुम धरे	१२६	३	३
कैधों बेनी पन्नगी के फण दुहूँ ओर	१६८	१४	१
कोमल कुटिल नीलमणि की शिखा से चल	२०७	२१	६
कच अभिराम ज्योति यमुनाकी जीते लेत	२१४	१	७
प्यारी कि ठोढी को बिन्दु दिनेश	१३२	१३	६
पहिरे बनाय सितभूषण दिनेश सब	२६४	११	१८६
हरी अच्छ लच्छ करतलनि समान स्वच्छ	१३५	१४	३
अंग अंग भूषण जड़ाऊ के जगमगात	२०४	६	१
भूषण जरायन के पाँयन अनोट ओट	२४८	१०	११८
		(टोटल	१६)

५६ **द्विजकवि (मन्नालालशर्म्मा, काशी)**

कोऊ कहै जपा जावक रंगकी	२	२०	६
कैधौं मानसर के विमल कमल दोऊ	३	५	८
कै बिधि कञ्चन गार सिंगार कै	२४	६	१३
कम्बु बिलोकतही जिहिको	६१	६	७
मीठी अनूठी कढ़ैं बतियां	११७	२३	६
मज्जन कै तिय बैठी अगार	२०६	७	१२
बैठी श्रृंगार श्रृंगार कै बाल	२००	१२	६
छूटे छए छवालों छबीले घुंघवारे बार	२३६	५	६७
दन्तन की दमक दवाकै द्युति हीरन की	२६८	६	२०२
		(टोटल	९)

६० **द्विजनन्द कवि**

गौन को नवेली तू भवन ते न बाहर हो	५८	२१	३८
		(टोटल	१)

६१ **द्विजराज कवि**

रूप की राशि में कै रसराज को	१४२	६	६
बाजी चपलाई तामें मैन असवार गाढ़ो	१७५	५	८४
चन्दन की खौर गोरे गात ज्यों झलमलात	२३१	६	४७
		(टोटल	३)

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
६२ **द्विज बलदेव कवि**			
जानै भेद कविताहि गौरव गहे रहत	२३९	२१	८२
सहज बिलोकि फँसि जात मन कैसी होइ	२४७	५	११३
		(टोटल	२)
६३ **धुरन्धर कवि**			
सुधा के पयोधि करि मज्जन अरुण अंग	९९	४	२०
		(टोटल	१)
६४ **नूर कवि**			
पियरति समता के थमिबे की ठौर कीधौं	२६	२३	९
नूर रस छलकै सुनाभी भोर झलकै	३६	५	२
निपट नवेली बाल सुघर सहेली लाल	२०२	६	४
प्यारी नैन नटन के नाट को अखारो नूर	३६	२३	५
योवन छत्र पती के मनोसर	६३	२५	१
मानो काम लतासी सवाँरी कामिनी है नूर	६९	२५	१२
कैधौं है ये कमल की ललित मृडाल नाल	७२	१५	२
कमल की शोभा सी समाइ रही प्यारी सुनि	७६	११	१
कोककला पढ़िबे की पोथी सी बनाई काम	११४	१४	३
कारी नीकी निपट सँवारि नेह चिकनाई	१९९	२	३
सुन्दर सुडौल आछी भांतिसो सुधारि करी	९०	६	२
सप्तस्वर सागर की नौकासी बनाई बिधि	११५	७	६
शीश शीश फूल सोहै त्रिभुवन मन मोहै	२०५	४	४
दाड़िम देखि तपोबन सेवत	११२	७	१४
ओठन के बीच छबि दन्तन की झलकत	१२०	११	१
तामरस सोहै तरुणी के बरनैन बीर	१०९	३	५
तामसी तमोगुण को जानिकै सतोगुणधौ	२०१	१६	१
भागको भौन सुहागको चौतरो	१९०	१४	८
		(टोटल	१८)
६५ **नाथ कवि**			
सरल सुखमा के सुखमा के जाके सेवन ते	८	२३	३२
कीरति पताके काम देवता के पात्रता के	१७५	१७	८६
पीन हेतु दीनता के क्षीनता के हीनता के	१७५	२३	८७
मदन तुकासी किधौं राधे कुन्दकासी	२५१	४	१३०
सारी जरतारी शीशभारी छबि वारी प्यारी	२४२	१६	९४
सोहत अंग सुभाय के भूषण	१९०	१९	९
सुन्दर सीधापना के बिधु बदनाके	१५४	८	२६
एकही छमाके में छमाके मन मोहि लेत	९	४	३३
गुणज़ो कपोत ताके उपमा के पोत गये	९२	२५	१४

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
पूरण मयंक कैधौं मेटिकै कलंक कियो	१०६	६	४
पटियाके पारे कौन पारे तासु उपमा के	२००	२२	११
चन्द्र प्रतिबिम्ब ऐसो जानि परै जाके आगे	२२९	२२	४१
आधे चन्द्रमा के रूप ढांके केश घटा कैधों	१९१	४	११
ताकी एक दठिताकी समता की छाया परे	१८८	१२	१४
झूमत झुकत भरे मदके अरुण नैन	१६९	८	५९
रूप सिन्धुता के युग सीप गड़हाके युत	१४०	१७	१९
		(टोटल	१६)
६६ नेही कवि			
गोरी गोरी गोल गोल भामिनी की बाहु नेही	७४	१३	१०
पाटिन में मांग सोहैं उपमा कहै सो कोहैं	२०३	१	७
		(टोटल	२)
६७ नवी कवि			
मृग कैसे मीन कैसे खंजन प्रवीण कैसे	१६९	२०	६१
		(टोटल	१)
६८ नवीन कवि			
अचरज कला कलाधर धरि राखी पीछे	२१८	१७	१
		(टोटल	१)
६९ नेसुक कवि			
बिम्ब में प्रबाल में न इंगुर गुलाब में	६	११	२२
		(टोटल	१)
७० नन्दन कवि			
राजैं रतनारे दृग ऊपर उजारे भारे	१६५	६	६१
		(टोटल	१)
७१ नन्दराम कवि			
हरिण हेराने कहूँ हारन में हेरि नयन	१६१	२	२३
कंचन से गात जलजात से लजीले नयन	२२६	२४	२९
		(टोटल	२)
७२ नोने कवि			
छूटी रतिरंग मे अनंग की उमंग भरी	१९८	६	२०
		(टोटल	१)
७३ नारायण कवि			
अलक अमोल अलबेली की अनोखी आँखि	१५५	२३	१
		(टोटल	१)
७४ नृपशम्भु कवि			
कोहर कौल जपादल बिद्रुम	२	२५	७
कै निधि क्षीर के बीच में जाय	४७	५	११

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
राधे के पायन की अँगुरी	१२	१२	४
रूप को कूप बखानत है कवि	३५	४	७
लाड़िली के बरणै को नितम्बन	२७	१५	१२
लसै बीरै चकासी चलै श्रुति में	१७३	२५	७६
जो कहिये बिधि नाहीं रची	३३	२	१७
प्यारी के गात बनाइबे की विधि	३३	७	१८
प्यारी कि नाभिही सो बरनै	३५	१४	६
प्यारी के अंग बनावतही	४०	६	११
मनोहर अंग की भारी रची	४५	२५	५
योवन बाहिर आयो नहीं	४६	२०	६
उरमें उलहै सुलहै द्वै सुरोज	५६	१६	४२
		(टोटल	१३)
७५ नीलकंठ कवि			
अटके ललन रूपहट के सकोचन में	४८	१६	२
नैन रखवारे निशिदिन निरखत रहै	५४	१७	२१
कैधौं नैन नटुवा के नाचिबेकी रंगभूमि	१३७	१०	११
छबि बालबरसील साहब के घरपिय	१७३	१६	७८
तेरी भौहें धनुष धरत कर कोप आप	१७६	१७	२
तैसी चष चाहन चलन उतसाहन सों	१६६	१३	१३
तैसी चष चाहन लगत उरसायकसी	२५५	१५	१६१
ज्योतिसी जगी रहै सो सौत ऊ जगी रहै	२३८	११	७६
		(टोटल	८)
७६ पजनेस कवि			
दिपट पटीजै नभनखत जतीजै	१८	१५	३
सम्पुट सरोज कैधौं शोभा के सरोवर में	६३	३	५७
छहरै छबीली छटा छूटि क्षितिमण्डल पै*	६८	१८	१८
छहरै छबीली छटा छूटि क्षितिमण्डल में*	२३६	१२	६८
चंचरीक चेटुवा को लागो है चरण चुभि	१३४	३	१३
मुनिमन मंजु मौज मिश्रित मजेजदार	१३८	१०	१५
प्रीति सित मिश्रित सुकेशन ललित सारी	२६३	१८	१८३
		(टोटल	७)
७७ पदमाकर कवि (प्रसिद्ध)			
सुन्दर सुरंग नैन शोभित अनंग रंग*	५	६	१७
सुन्दर सुरंग नैन शोभित अनंग रंग*	२२३	२३	१७
सजि ब्रजबाल नंदलाल के मिलै के लिये	२४४	११	१०१
सोसनी दुकुलनि दुरायो रूप रोशनी ह्वै	२४४	१७	१०२
सजिब्रजचन्दपै चली है मुखचंदचारु	२४५	११	१०५

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
सांवरी सारी सखी संग सांवरी	२४६	९	१०९
दूलै इते घूमके सुभूम के जवाहिर के	२६६	१९	१९६
जाही जुही मल्लिका चमेली मनमोदनीकी	२४०	९	८४
जाहिरै जागति सी यमुना	२३९	३	७९
जगजीवन को फल जानि पर्‌यो	६०	५	४४
गुलगुल कंद कै सुमन्द करि दाखन को*	१२३	१३	१४
गुलगुले कन्द के सुमन्द कर दाखन को	१२७	१३	९
कैधौं रूपराशि में श्रृंगार रस अंकुरित*	१४०	१५	२
चहचही चहल चहूँधा चारु चंदन की	२३२	१	५०
चहचही चुनकै चुभी है चौक चुम्बन की	२३३	२२	५८
		(टोटल	१६)
७८ परसराम कवि			
जपाके कुसमता की छविके चतुरमणि	१२८	११	१३
कैधौं रूप धरणी में राजत युगल खण्ड	१३७	२३	१३
कैधौं रसनायक बिहंगम के युग पच्छ	१९८	२०	२
		(टोटल	३)
७९ प्रसाद कवि			
दृगमीन बाझिबे की बंशी ये सची है कैधौं	१९७	१२	१७
		(टोटल	१)
८० पारस कवि			
कीधौं श्रृंगार के बारिज को दल	१८९	९	३
		(टोटल	१)
८१ परमेश कवि			
कोयन की कुरसी में करिकै कुमाच बैठी	१७६	१५	९०
		(टोटल	१)
८२ परम कवि			
राजत अमी के मदछाके कालकूट किधौं	१६५	१२	४२
		(टोटल	१)
८३ पूखी कवि			
मंजन कै तिय बैठी अवास में	२००	१७	१०
शरद के घन में ज्यों अरुण उदोत द्युति	६४	५	२
		(टोटल	२)
८४ ब्रह्म कवि			
एक समय बृषभानसुता	१९२	५	१
ऐन सुरा बिंदुली विधु भाल में	१९२	१०	२
बाल चलै अलबेली सी चाल	२१४	२०	१०
सेज ते ठाढ़ी भई उठि बाल	२१६	२५	१९
		(टोटल	४)

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
सातुकी सिताई रज गुण की रताई	१६	१५	५
शोभा की तरंगनी के तोयके भँवर कैधौं	३३	१६	२
सुन्दरि छबीली प्यारी तेरे करतल ये तो	७६	८	१३
सुखमा भरत भरे प्रेम कैसे सांचे ढरे	१३६	१२	७
शोभा सुखसदन को बातयन बलिभद्र	१५०	११	१०
शोभा को सकेलि ऊँची बेलि बांधी बलिभद्र	१५०	२३	१२
सौरभ सुगन्ध बास चम्पकली नासिका को	१८६	२२	७
घन अतिजघन नितम्ब पृथु पेखियत	२७	४	१०
तारसो तगासो बारलीक सो लोकंजन सो	३१	३	८
तन तरुवरकी उभय शाखा बलिभद्र	७३	३	४
तमके विपिन में सरल पंथ सात्विक को	२०१	२२	२
पारावार रूप की तरंग तुंग बलिभद्र	३७	१७	१
पागरस पतिकी विनत नाभिकुण्ड बैठी	४१	१६	४
पानिप पदुम की बदन झलकत द्युति	६६	२१	१०
पूरि पूरि मल मलयाचल उरोजनि को	१०४	११	२
पाटल नयन कोकनद कैसे दलदोऊ	१६१	२५	२७
परम प्रबीण मीन केतन के मीन कैधौं	१६३.	१६	३४
पय भरे भाजन न पैयत मधुप मध्य	१७८	१५	३
पातुर पूतरी पहिरे पवित्र पीत	१८३	८	२
पलिका ते पांय जो धरति धाय धरणी में	२६३	१२	१८२
बिष की लतासी बिन पानि भानु दुहितासी	४२	१८	८
बिमल बरणही की कैधौं यह पुष्पदाम	११८	१५	९
बपु पक्ष ते लगायो भयो गुरुबन्धुजानिभुव	१९०	८	७
बेनी नवबाल की बनाय गुही बलिभद्र	२१५	६	१२
लाल गुण मुक्तासी सुरसरि सरस्वती	४८	१	२
मंगल कलश भरे मकरन्द बलिभद्र	५५	२४	२६
मरकत सूत कैधौं पन्नग के पूत कैधौं	२०९	१	११
अवलम्ब अलिन नलिनही के कोरि काकी	६४	२५	५
फूले मधुमालती के पुहुप पुनरभव	८१	१७	३
चन्द के चरण परि उबरोतनकतम	१३३	१६	११
भँवर परत जल योवनके जोरकीधौ	१३९	९	४
जटित जराय जगमगत सहसकर	१४४	१८	६
रूप के अनूपम की राखी है ध्वजाउतारि	१४६	२	१२
नेकही निहारे नैन नायका स्वकीया नारि	१७७	९	३
थापी कैधौं यशकी जनमभूमि शशिवत	१८९	१४	४
दरश दरश को परशहोत बलिभद्र	१९९	१३	५

(टोटल ४९)

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
९३ भंजन कवि			
कोऊ कहैं है कलंक कोऊ कहै सिन्धु पंक	९५	८	४
सूर मैन हीन होत उगत नवीन ह्वै कै	९९	१६	२२
		(टोटल २)	
९४ भोज कवि			
आबदार अजब अनोखी अनियारी	१५६	५	२
		(टोटल १)	
९५ भूपति कवि			
मीन है कमीनें परे पानी में निहारे हारि	१६९	१४	६०
		(टोटल १)	
९६ भूधर कवि			
योवन उज्यारी प्यारी बैठी रंग रावटी में	२३७	११	७२
		(टोटल १)	
९७ भगवंत कवि			
रैनी की उनींदी राधे सोवत सकारे भये	२१५	१९	१४
		(टोटल १)	
९८ भौन कवि			
नखन बिलोकतही नखन व्यतीत भयो	२६१	१	१७२
		(टोटल १)	
९९ भरमी कवि			
अरुण कमल पग पाँखुरी की पांति लसै	९	२१	१
आरसी बिमल परनारी सी सँवारी कैधौं	८६	३	१
सुन्दर सुरंग गोल शोभाकर पल्लवकि	८३	११	३
प्रीतमको मनतेरे हाथन लग्योई रहै	७३	९	५
पारद के गुटिका सवाँरे काम सिद्धजूने	५९	२४	४३
रूप रस आसनकै कामके सिंहासन है	२२	१	४
कोमल बिमल काम भूपकी सुरंग भूमि	३६	१७	४
कोकनद कली जैसे खिलत बयारि लागे	१२१	४	४
गूढ़ गुण ग्रंथके प्रकाशकी करनहारि	११५	१४	७
मोतिनसों भरी मांग शीशफूल टीको दिये	२५३	१	१३८
		(टोटल १०)	
१०० मधुपति कवि			
देखो शुभबाला पद सुन्दर विशाला	५	३	१६
		(टोटल १)	
१०१ मनीराम कवि			
राधे के चरण युग अरुण अरुणरूप	७	१६	२७
वह चितवन वह सुन्दर कपोल द्युति	१५६	५	१५१
		(टोटल २)	

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
१२७ राम कवि			
वह जो प्रकाश मान लागत विभावरी में	१०२	५	३२
कंचन के खाने में जटित नीलमणि कैधौं	१३२	२	४
चौंथती चकोरे चहुं ओरे जानि चन्दमुखी	२३३	८	५६
		(टोटल ३)	
१२८ रिझवार कवि			
अरुणकमल नखचन्द्रहूं समीप ताते	७	२३	२८
		(टोटल १)	
१२९ रतिनाथ कवि			
कोमल फूल मनो अरबिन्द	१०	१७	४
		(टोटल १)	
१३० रघुराज कवि (श्रीमन्महाराज बांधवे सरीवां)			
बरषा अरु शीतहु आतपको	६	१	२०
काम विरंचि के वेष बनाय	१४	९	४
कैधो सुधा के सरोवर के ढिग	७२	२२	३
कै किशलय में लगी फली मूंगकी	८१	१२	२
कोकिल कण्ठकी त्योंही कमोज की	९१	४	७६
कै सुखमा के सरोवर को	९५	३	३
काम के बाणन की कलकांति	११०	१३	६
की सुखमा के समुद्र के सोहि रहे	१६०	१०	२०
भृंगि की सूक्षमता को कहै	३२	२	१२
प्रेम के कूप को हेत कलोल	४७	१०	१२
प्रेम कथा रस पीवन को	१४५	२२	११
धुनि कैधौं बिराजि रही मन मोहनि	११७	१८	५
शारद की कैधो पारद सी	१२४	११	१८
शोभा की सांच में मैनकी ढारी	१३६	१८	८
सोहत कञ्चन पत्र किधौ	१९०	२४	१०
नील मणिन के सूत किधौ	२११	१४	२२
खेलहि खेल शशी में किधौ	१८७	२०	११
तीनहूं लोक की दीपति सांचि	१५१	१२	२४
मैन के मञ्जुल ऐन के बाग की	१३२	२५	८
दाडिम फूल के द्वै दलकी	१२७	२५	११
		(टोटल २०)	
१३१ रघुनाथ कवि			
सहज रसीली गरबीली छनकीली अति	१२	१	२
शोभा के निवास कै प्रकाश के निकेत मञ्जु	१५	२२	२
शोभावान परम प्रकाशित लखेहौ बने	१९	६	२

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
शोभा के निवास को लगेहै किधौं स्वर्णखम्भ	२२	८	५
सुमति सुशील अम्बु सरवर शोभावान	४७	१७	१
श्यामताई जटा जाल सुरसरी मोती माल	५६	५	२७
सप्तस्वर तीन ग्राम रागनको धाम धन्य	८९	२२	१
सूरसों मांगि प्रभा प्रति पून्यो कि	९८	२४	१९
शोभा सिन्धु निरखि चकोर उठे चौक चहूँ	१०३	१२	३७
सुरभ सुवर्ण जासु पुहुप गुलाब कंज	१३६	६	६
सुरपति तीकी द्युति फीकी होत जाहि देखि	१५१	५	१३
सुन्दरि के सुन्दर पुरन्दर पियाले अति	१८३	२	१
श्रीफल सरीफा किधौ दाडिम नरंगी रूप	५७	१७	३३
कोमल अरुण स्वच्छ पुहुप गुलाबहूते·	१	७	१
कैधौं पद्मराग रत्नजटित भरे है कुण्ड	१३	१९	२
कैधौं काम चोपदार केसरि की भूमि पर	४३	२१	१२
कहै रघुनाथ कैधौ कञ्चन पटा पै बैठे	५२	२३	१४
कैधौं प्रीति प्रीतम की सनद लिखी है बिधि	७७	६	४
कैधौं अर्थ धर्म काम मोक्ष फलदाता बृक्ष	१००	१३	५
कैधौं कल्प तरुवर शाखा यह सोहावनी है	८१	६	१
कैधौं पद्मरागन में मीना बर हीराजडे	८३	५	२
कैधौं पद्मरागन की पंगति विशाल	१०९	२०	३
कुन्दन लै बिरञ्चिनें नकासी मनों ताके बीच	१४८	१८	३
कैधौं प्रेम रंग को तड़ाग है तरंग भरो	१४९	१८	७
कञ्चन अमलता में खञ्जन चपलतामें	१५८	२०	१३
कैधौं चंद बिम्ब में प्रकाशी मन्द रेखा बिम्ब	१८५	२३	३
कैधौं हेम शैलशृंग ऊपर विराजो राहु	२१४	१०	८
करता पति के उर आनँद की	२२७	१६	३२
कीन्ही सेत साज ब्रजराज के मिलनहेत	२२९	९	३९
मृदुल मनोहर गुलाब दल हूँतें अति	१७	८	१
मनहंस बसिबे को रूप की नदी में कैधौं	३९	१४	८
मणिपारस ज्यों हरि सम्पुट में	११४	२०	४
मृदु मखतूलतूल कमल गुलाब फूल	२५१	१६	१३२
लखिलाजत जाहि मरालगते	१८	४	१
लाजै जाहि निरखि सुलंक लखिके हरहू	२९	२३	३
लालरंग राचे है प्रबालते अनोखे अति	१२७	२	७
बालाबाल बैस के बिताइक किशोर कर्ण	२५	६	२
बिमल बिलक्षण बिचित्र चपलाते अति	१०३	१९	३८
बदन प्रयाग गंगधार बर बन्दी बेश	१४५	५	८
बिरचि अनूपजात रूपसों प्रपूरी प्रभा	१९५	२१	१०

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
बदनकलानिधिको परम प्रकाशमान	२००	६	८
बाला बार छोरकै निवारत है बार बार	२०९	२४	१५
पुरट शिलापै किधौ सोहत सुधाको कुण्ड	३८	१	२
पूरत पियूष यों प्रकाशत प्रकाश पुंज	१२१	१६	६
प्रीतम की प्रगट प्रतीत प्रीति पूरीभरी	१३२	१८	७
पतिब्रता के मंजु मन्दिर मजाक किधौ	१६३	२२	३५
प्रीतम प्रबीण के खिलौना है अनोखे किधौ	२०५	१६	६
अंग गोरे गोरे भांति देखि झिलिमिली कांति	३९	१	६
अमित लजीली शील सुमति सजीली	११६	१८	१
आईहौं देखि सराहे न जात है	१५६	१२	३
अतर फुलेल मेल हेम ककइसों ओंछ	२१४	१४	९
आवतिहो देखे आज बलि गई चलि देखो	२२०	१४	३
आजु एक ललना अन्हात में निहारी लाल	२२०	२०	४
गवनि गयंद गूजरेटी गुरु गुनन की	४३	७	१०
झूमि झूमि आये घूमि घने घनश्याम आली	७१	१२	३
राजत रँगीली रंग भौन रसमाती तहाँ*	१०१	४	२८
रसभरे जसभरे कहै कबि रघुनाथ	१६४	२५	४०
रात पिय चांदनी बिलोकिबे को रनिवास	२५७	२३	१५८
राजत रंगीली रंग भौन रसमाती तहां*	२५८	१०	१६०
रूप अनूप लख्यो कितनो	२५८	२१	१६२
चोटी देख संपा लजे चंपा अंगरंगदेख	२६७	२५	२०१
चन्दसो आनन चांदनी सो पट	२३२	१३	५२
चंचल बिशाल मीन खंजन मृगाते बेश	१७७	२०	५
चन्दमुखी चपला सी लली लखि	१३८	२३	२
फटिक शिलामें नीलमणि इक मुद्रित है	१४१	९	५
खंजन चकोरमीन मृगशिशु सारमयो	१६५	२४	४४
तेरे युग्म नैनन की बरुणीयों बनीथनी	१८२	२	५
		(टोटल ६७)	

१३२ **लाल कवि**

कैधौं मुख कमल चली है अलिमाल मिलि	२१२	१५	१
मन्द मुसक्यान में अनन्द छबि छलकत	२४९	२०	१२४
		(टोटल २)	

१३३ **लालमन कवि**

कैधौ रतिनायक को कुटिल कृपाण	१८६	१०	५
आनंद के मंदिर में कैधौ रुचिमाणिक की	१५७	४	६
शिव शिर गंग जैसे जल की तरंग जैसे	१२४	५	१७
		(टोटल ३)	

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बरें
इंगुर गुलालहू की हारी प्रभुताई	११५	२०	८
प्यारी रूप देखि विधि हिय में सरेखि कछु	१८७	३	८
बेंदी भालु तखत के रूप को बखत यह	१६०	१	६
कोऊ कहँ लाजन ते कंचुकी में कुच मूँदे	६८	२	३
कैधौ गिरिराज के सुहाये बिचि शृंग	६५	७	६
कैसे करि कुम्भ जैसे कञ्चन के कुम्भ	५४	१०	२०
कैधो नाभि सर के निकटही सुधा के हेतु	२८	५	२
सोन जुही चम्पक कनक की बनक रंग	४४	२	१३
		(टोटल	१३)

१३८ शोभ कवि

कैधौ बिधि जावक के रंगसों रंगीन करि	१०	६	२
कैधौ रतिजंग के सुभट युवराज सोहै	५३	१०	१६
कंजन खंजन गंजन है	१६०	५	१६
ऊबी सी रहत अरबिन्दन की आभा	१७३	१३	७७
नाइन नबेली लाई पाइन को जावक त्यों	२६०	१४	१७०
		(टोटल	५)

१३६ शोभनाथ कवि

कुन्दन से अंग नवजोबन तरंग राजै	२२७	५	३०
		(टोटल	१)

१४० शिवनाथ कवि

कैधौ मैन मंजिनी मतंगिनी की सकुच छीनि	२३	६	६
कैधौ शिवनाथ उदयाचल उदित भयो	६६	१५	६
कैधौ गुलाब की पांखुरी है यह	१३०	१०	२
कंचन के पत्र कैधौ मुक्ता जडाय दीन्हे	१४३	१४	१
करन करी है जैसी करनी करनदोऊ	१४६	१८	१५
कैधौ खंजरीटन की चपलताई छीनी है	१६०	१५	२१
कुटिल अनूप सोहै मानी की सी गति जामें	१८६	४	४
कंगही करत राय बेला को फुलेल लाय	२१२	२२	२
अञ्जन कोर दृगञ्चल राजत	१८४	२	२
अधरानहिं में मुसकी वह बाल	१२०	१७	२
अमल कठोरे गोरे चीकने उतंग भोरे	५०	३	२
पान सो उदर तामें त्रिबली बिराजमान	३६	८	७
सूक्षकलंक बिलोकत बाल की	३२	७	१३
शालत है नटसाल हियो	१४६	२४	८
मुकुर से मञ्जुल झलकि रहे माणिक ज्यों	१३५	८	२
लुरि लुरि ढुरि ढुरि झुकि झुकि रीझि रीझि	१२२	१७	१०
लचकै जिमि चारु कबूतर कण्ठहि	६२	१	१०

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
हलत चलत कैधौ क्षीरनिधि की लहरि	७४	७	६
हँसि हँसि व्याल ख्याल करत सखीन हू सों	१२२	१०	६
दाड़िम के दाने आनि भुलाने	११२	२	१३
चन्द्रकी मरीची कान तोरि बिथराय दीन्ही	१०५	१७	२
चिबुक प्रकाश कैधौ इन्दिरा को मन्दिर है	१३३	१०	१०
			(टोटल २२)
१४१ शिवदीन कवि			
पियमन कामना को शंकर बिराजमान	७०	१२	१४
			(टोटल १)
१४२ शिव कवि			
गोरी के हथोरी शिव कवि मेहँदी को बिन्दु	८०	१	१६
गोरे तन श्वेत सारी शोभित सुगन्ध वारी	२६१	१३	१७४
			(टोटल २)
१४३ शेष कवि			
अलि कामकला करि काहुके संगते	१११	२२	१२
सुनि चित्तचहै जाके कंकण की झनकार	१५०	४	६
			(टोटल २)
१४४ सेख कवि			
राति के उनींदे अलसाते मदमाते राते	१६४	१६	३६
			(टोटल १)
१४५ सन्तन कवि			
यमुना के आगमन मारग में मारुतन	२३७	१७	७३
तनकी सुबास आस पास रास मण्डल में	२६४	२४	१८८
			(टोटल २)
१४६ सदानन्द कवि			
केसरि कलित पच तोरिया ललित लाल	२२६	१८	२८
सोहै श्वेत सारी ढिग कञ्चन किनारी भारी	२४३	११	६७
नखत से मोती नथ नासिका बनक चोती	२६०	२०	१७१
			(टोटल ३)
१४७ सोमनाथ कवि			
सोने सों शरीर तापै आसमानी रंग चीर	१६४	२३	६
			(टोटल १)
१४८ सुमेरुहरी कवि			
बैठि बिचारि बिरंचि कियो	१२६	६	१७
			(टोटल १)
१४९ साहबराम कवि			
असराफ असील खुमानी खरे	६८	१४	५
			(टोटल १)

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
१५० सूरज कवि			
सोने के सिधौरा कैधौ श्रीफल सरोज	५६	२५	३०
		(टोटल १)	
१५१ सरदार कवि (काशिराज के कवि)			
सूखसो नारिन नारिन जान	२४६	१६	१११
		(टोटल १)	
१५२ सूरत कवि			
कैधौ रतिरानी उरहार पीत फूलन को	४	४	१२
कैधौ रतिपति रचिगति गजराज पैये	४	१०	१३
कैधौ यह पानपै वशीकरण मंत्र लिख्यो	४३	१४	११
कैधौ यह देशभेश रसको नरेश	८६	१६	३
कैधौ बिधि रसना की रची है कसौटी यह	११४	८	२
कैधौ पियनेह मई कीरति हसन लैकै	१४६	५	५
कैधौ दृगसागर के आसपास श्यामताई	१८२	१३	७
भृकुटी निहारि को सँभारि सकै कीर गहि	१८६	१६	६
भूपतिहूँ प्रेमलाल डोरे है निशान तेई	१६६	२२	४८
जाकी मधुराई लै सुधाई सुरलोक छपी	१२८	१७	१४
जाके एक अंश हंसबाहिनी प्रशंसति है	११८	८	८
		(टोटल ११)	
१५३ सेवक कवि			
भाये महानैन मनभाये मैनकुंभकार	२१	८	१
नैन बिसासिन के सँग गो	३६	२१	६
उधरे पर देखि परे त्रिबली	४०	१	१०
उधरे पर पौन प्रसंगन सों	२६७	७	१६८
बाला कोऊ सेवक विशाला इहि घर मांझ	२५३	१४	१४०
बनबासी किये शुक पीठि निवासी	१५२	१७	१६
दृगभोर से ह्वै कै चकोर भये	६०	१४	१३
चन्दद्युति वृंदको निचोरि कै बनायो कैधौ	२३०	१६	४४
चिनगी चमकै बिच अंचल सो	२३२	१८	५३
मौलसिरी रासतें न मालती हुलासतें	२४६	१४	१२३
		(टोटल १०)	
१५४ सेनापति कवि			
कुन्द से दशनघन कुन्दन बरण तन	२२८	८	३५
काम की कमान तेरी भृकुटी कुटिल आली	१७६	११	१
करत कलोल श्रुति दीरघ अमोल लोल	१५६	७	१५
कोमल अमल कर कमल बिलासनि के	८२	२०	१
बदन सरोरुह के संगही जनम जाको	१४२	३	८
अंजन सुरंग जीते खंजर कुरंग मीन	१५६	१०	४
		(टोटल ६)	

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
१५५ हनुमान कवि			
गोरी गोरी अँगुली हैं अंगना तिहारी प्यारी	१२	१७	५
गति मन्दयों जाकी मजाकी लखै	२६३	१	१८०
पलकाते पद भौन भूमिपै धरतु नेकु	२६४	५	१८५
प्रभा चपलाकी कहै को भली	२६५	१०	१९०
बाँकी चारु चन्द्रिका विराजै भाल बाँकी खौरि	२५४	१८	१४५
मदमैन सों यों अलसानी लसै	२५०	१९	१२८
मति मन्द यो जाकी मजाको लखै	२५०	२४	१२९
जाके अवदात कल कुन्दन से गात आगे	२३७	२३	७४
चमकै दशनावली की निकरै	२३२	२३	५४
सुखमा सदन भूरिभूषित बदन जाको	२२४	४	१८
आजुलखी ललना लवंग लतिकासी लोनी	१९३	२४	२
कैधौ सप्तऋषिन के मखन की सिद्धिपुंज	९६	९	८
कैधो पिये कालकूट बैठे शम्भुजटाजूट	६६	२	९
कंचन के घटनट वटहु युगलमठ	६२	२२	५६
करजोरे किन्नरी तिलोत्तमा तँबोर लीन्हे	१६	९	४
छला छाप मूँदरी बिराजै करकंज तामें	१२	२३	६
		(टोटल १६)	
१५६ हठीकवि			
कोऊ उमाराज रमाराज यमाराज	२	३	३
कल्पलता के कैधौ पल्लव नवीन दोऊ	२	९	४
कंचन फरस फैली मणिन मयूषै तन्यो	२२४	१०	१९
कंचन महल चौक चाँदनी बिछौना तामें	२१४	१६	२०
कोऊ छत्र लीन्हे कोऊ छाहगी कीने	२२४	२३	२१
केशरि सों अंगपट केशरि के रंग रँगे	२२५	४	२२
मखमल माखन से इन्दु की मयूषन से	४	१६	१४
मोतिन की तोरनी तमाशे दार द्वारे रैवा	२५१	२२	१३३
मखमली गिलम गलीचन की पाँति चारु	२५२	३	१३४
मणिन महल महँ महकै सुगंधै तैसी	२५२	९	१३५
मलिन ऊटापै ठाढ़ीपुरट पटापै प्यारी	२५२	१५	१३६
बैठी रंग भरी है रँगीली रंग रावटी में	२५५	६	१४७
बजत बधाय गाय मंगल सोहाय मग	२५५	१२	१४८
बैठी कुंज भौन गोरी कीरति किशोरी राधे	२५५	१८	१४९
फटिक शिलान के महल महरानी बैठी	२५७	११	१५६
गतिपै गयंद वारौ पग अरबिन्द वारौ	२६३	६	१८१
देखीभटू भावती प्रकाश भारे भानकैसो	२६५	२१	१९२
पैन्है श्वेत सारीं जरी मोतिन किनारी द्युति	२६४	१८	१८७

कवियों के नाम व विषय	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
पायजेब जेहर जराऊजरी जोरीहठी	९७	२	११
अतर पुतायो मढ़्यो महल सुगंधन सों	२२१	२	५
अतर पुतायो चौक चन्दन लिपायो	२२१	८	६
आजहौ गईती बीर सहज निकुंजन में	२२१	१४	७
चामीकर चौकीदर चम्पक बरणहठी	२३५	१२	६४
चन्दसो आनन कंचनसो तन	२३५	२५	६६
जातरूप तखत पर बैठी रूपराशि राधे	२४१	२३	९१
सारी जरतारी लगी मणिन किनारी द्युति	२४७	११	११४
सांझ हो गई थी बीर भौन वृषभानजी के	२४७	१७	११५
सारी जरतारी लगी मणिन किनारी त्योंही	२४७	२३	१६
		(टोटल २८)	

१५७ हरिसेवक कवि

त्रिबली तरिनी तटकी पुलि नाई	२७	१०	११
चुरियान हूँ में चपि चूर भयो	८४	१७	१
दिन रैनि में भावन के रचे गीत	९७	१९	१४
		(टोटल ३)	

१५८ हरिकेश कवि

लरकी लरक पर भौंह की फरक पर	३०	१०	५
		(टोटल १)	

१५९ हरीराम कवि

लागै लाल चौकी में बिराजे हरीराम कहै	४५	१	१
		(टोटल १)	

१६० हरिऔध कवि

सुन्दर सूधी सुगोल रची बिधि	८५	५	३
वर विद्रुम में कहाँ लाली इती	१२९	४	१६
		(टोटल २)	

(नीचे लिखे हुए कवित्तों में कवियों के नाम नहीं मालूम पड़ते हैं।)

कोमल विमल मंजु कंजसे अरुण सोहै	१	१३	२
करकंजन जावक दै रुचि सों	२	१५	५
कैसी सुढ़ार गढ़ी है सुनार	१०	१२	३
करैजी कहा तू वृग अंजन दै राधे	१९	१७	४
कदली दल है सुऊषम सहित इतो	२१	१४	२
कंचन के कमनीय किधौ	२३	२१	११
कीन्हों कमलासन कलानिधि बदन तेरो	२९	१६	२
क्यों मनमूढ़ छबीली के अंगनि	३५	९	८
कोमल अमल दल कमल नवल कैधौ	३५	२२	१

(टोटल १८९)

(कुल टोटल १०००)

इतिश्री नखशिख हजारा के कवियों का सूचीपत्र परमानन्द सुहाने संग्रहीत सम्पूर्णम् ।।"

टिप्पणियाँ

१। कालिदास कवि का हजारा (प्रा० सं० १७५५); भूषण हजारा; हफीजुल्ला खाँ के नवीन संग्रह (सन् १८८२); हजारा (सन् १८८६); षट्ऋतु काव्य-संग्रह (सन् १८८६); परमानंद सुहाने का नखशिख हजारा (सन् १८६२) तथा षट्ऋतु हजारा (सन् १८४६)।

किशोर संग्रह—किशोरकवि-कृत; सतकविगिराविलास—बलदेवकवि-कृत; हनूम्मान नखशिख—खुम्मानकवि-कृत; कृष्णानंद व्यास—रागसागरोद्भवरागकल्पद्रुम (इन पुस्तकों का उल्लेख सुहाने ने अपने संग्रह के 'इश्तिहार' में किया है, जो आगे उद्धृत है।) लाला गोकुलप्रसाद कवि सलिलापुरी-कृत दिग्विजय भूषण (सं० १६२५); तुलसीकवि-कृत कविमाला-नामसंग्रह (सं० १७१२); आदि मुक्तक-संग्रह ग्रंथ।

भूमिका

"विदित हो कि इस पुस्तक के रचने का यह कारण है कि एक दिवस मैं कुछ कबित्त अवलोकन कर रहा था उसी समय हमारे पिता बंगालीलाल सुहाने जोकि इस काव्य के कहने में में प्रसिद्ध थे, मुझसे कहा कि एक पुस्तक तुम ऐसी संग्रह करो कि जिस में नख से शिख तक के कबित्त एक सहस्र अनेकानेक कबियों के रहैं—

हे प्रिय पाठकगणो यह आज्ञा पिता की पाते ही उसी दिन से इस पुस्तक के रचने का उत्साह हुआ, परन्तु दैवगति से पिता का देहान्त जेठ सुदी ११ संवत् १९४७ तारीख ३० मई सन् १८६० को हो जाने के सबब से फिर यह कार्य्य वर्ष भर तक न हो सका इसके पश्चात् पुतलीघर की नौकरी छूट जाने के सबब से फिर मुझको राजनादगांवदी सेन्ट्रल प्राविन्सेज मिल्स लिमिटेड के सेक्रेटरी वा एजेण्ट पंडित गदाधर शुक्ल के पास जाना पड़ा वा उनके आश्रित वहां रहा लेकिन वहां भी यह ग्रंथ संग्रह न हो सका तदनन्तर तारीख ९ अक्टूबर सन् ९२ को उनकी मृत्यु हो जाने के सबब से वहां से नौकरी छोड़कर घर आया वा दो तीन महीना का अवकाश मिलने से फिर यह कार्य पूर्णरूप से हो सका अब मैं सब विद्यानुरागियों से प्रार्थना करता हूँ कि इस विषय का यह प्रथम ही संग्रह है इससे जैसा हो सका संग्रह किया जहां कहीं इसमें अशुद्ध वा अनुचित देखें क्षमा करेंगे ॥

(आपका शुभचिन्तक श्रीवल्लभकुलसेवक परमानन्द सुहाने)
जिला जबलपुर, मध्यप्रदेश"

इश्तिहार

"मैं सर्व काव्यानुरागियों के अवलोकनार्थ और भी तीन ग्रन्थ संग्रह कर रहा हूँ उनके नाम नीचे लिखे हैं, वा उक्त महाशय की कृपादृष्टि रहने से इसी प्रेस में प्रकाशित किये जायँगे ॥

(१) षट्ऋतुहजारा—इसमें एक हजार कवित्त सवैया हर एक कबि के अलग अलग रहैंगे और ऋतु भी अलग अलग रहैंगी सूचीपत्र में देखकर जिस कबि का कबित्त चाहो तुरन्त देख लो ॥ (इसकी एक जीर्ण-शीर्ण प्रति मेरे व्यक्तिगत संग्रह में है) ॥

(२) परमानन्द संग्रहीत कबित्त हजारा—इसमें भी एक हजार कवित्त सवैया प्राचीन कवियों के जुदे जुदे हरएक कवि के रहैंगे ॥

(३) नायका सर्वसंग्रह—इसमें नायकाभेद के प्रायः दो हजार कवित्त सवैया रहेंगे ॥

नीचे लिखे हुए ग्रन्थ प्राचीन कवियों के बनाये हुये जिन महाशयों के पास हस्तलिखित वा छपे हुये होवै और मुझे कृपापूर्वक देवैं तो मैं उनको उनकी इच्छानुसार पारितोषिक दे सक्ता हूं मिहरबानगी करके नीचे लिखे पते से पत्र भेजैं ॥

ग्रन्थों के नाम

(कालिदासहजारा—कालिदास कविकृत) (भूषणहजारा—भूषण कविकृत) (किशोरसंग्रह—किशोरकविकृत) (सतकविगिराबिलास—बलदेवकविकृत) (हनूमान नखशिख—खुमान कविकृत) (रागसागरोद्भवरागकल्पद्रुम—कृष्णनन्द व्यासदेवकविकृत यह कलकत्ता का छपा हुआ है) (रहीम कवि के दोहा) वा बिहारी कवि की सतसई के ऊपर करीब बीस टीका हुये हैं वह भी हमको चाहिये ॥

बाबू परमानन्द सुहाने बम्बई बीडीमरचन्ट
कोतवाली के पास जबलपुर सिटी, मध्यप्रदेश"

"नखशिख हजारा का सूचीपत्र

नम्बर	विषय	पृष्ठ	तादाद दोहा	तादाद क० व० स०
१	अथ चरण वर्णन	१	१	३४
२	अथ पग अंगुरी ब०	६	१	५
३	अथ पद अंगुरी भूषण सह ब०	११	६	६
४	अथ पद नख ब०	१३	३	५
५	अथ पग तल ब०	१४	८	५
६	अथ एड़ी ब०	१६	४	२
७	अथ मुरवा भूषण राहित ब०	१०	२	३
८	अथ गुलुफ ब०	१८	०	४
९	अथ पिंडुरी ब०	२०	०	३
१०	अथ जंघ ब०	२०	४	१३
११	अथ नितम्ब ब०	२४	४	१२
१२	अथ क्षुद्रघंटिका ब०	२०	०	३
१३	अथ कटि ब०	२८	६	१८
१४	अथ नाभी ब०	३३	०	९
१५	अथ उदर ब०	३५	०	५
१६	अथ त्रिवली ब०	३०	५	१२
१७	अथ रोमराजी ब०	४०	०	१३
१८	अथ रोमावली ब०	४४	६	१२
१९	अथ हृदय ब०	४०	०	२
२०	अथ कुच तरहटी ब०	४८	०	२
२१	अथ कुच ब०	४९	८	५०

नम्बर	विषय	पृष्ठ	तादाद दोहा	तादाद क०व०स०
२२	अथ कुच अग्र लालमा और श्यामता ब०	६३	५	६
२३	अथ कुच कंचुकी सहित ब०	६६	१३	१५
२४	अथ हार ब०	७१	०	३
२५	अथ भुज ब०	७१	४	१५
२६	अथ करतल ब०	७६	४	१६
२७	अथ कर अंगुरी ब०	८०	६	५
२८	अथ नख मेहँदी सहित ब०	८२	३	५
२९	अथ कलाई ब०	८४	४	४
३०	अथ पीठ ब०	८५	३	१३
३१	अथ ग्रीवा ब०	८६	७	१४
३२	अथ मुख ब०	९३	१४	३८
३३	अथ मुख सुबास ब०	१०४	१	५
३४	अथ शीतला दाग ब०	१०५	०	०
३५	अथ मुखराग ब०	१०७	१	४
३६	अथ दशन ब०	१०८	०	२०
३७	अथ रसना ब०	११३	१	१०
३८	अथ वाणी ब०	११६	१	१३
३९	अथ हासो वा मुसक्यान ब०	११९	६	१९
४०	अथ अधर ब०	१२५	६	१९
४१	अथ अधर गड़हा ब०	१३०	९	२
४२	अथ ठोढ़ी ब०	१३०	८	१४
४३	अथ कपोल ब०	१३४	४	१५
४४	अथ कपोल गड़हा ब०	१३८	०	४
४५	अथ कपोल तिल ब०	१३९	०	१०
४६	अथ श्रवण भूषण सहित ब०	१४०	८	८०
४७	अथ नासिका भूषण सहित ब०	१४८	०	२६
४८	अथ नेत्र ब०	१५४	४५	९०
४९	अथ मैन ब०	१७६	०	५
५०	अथ तारे ब०	१७८	०	५
५१	अथ कटाक्ष ब०	१७९	०	४
५२	अथ नेत्र तिल ब०	१८०	०	२
५३	अथ बरुणी ब०	१८१	०	८
५४	अथ पलक ब०	१८३	०	२
५५	अथ अंजन ब०	१८३	१	४
५६	अथ भृकुटी ब०	१८४	०	१४
५७	अथ भाल ब०	१८८	०	११

नम्बर	विषय	पृष्ठ	तादाद दोहा	तादाद क०व०स०
५८	अथ बेंदी ब०	१९१	८	२
५९	अथ अलक ब०	१९२	१३	२०
६०	अथ पाटी ब०	१९८	०	११
६१	अथ मांग ब०	२०१	५	१०
६२	अथ शीशफूल ब०	२०४	३	०
६३	अथ केश ब०	२०६	५	२३
६४	अथ बेनी ब०	२१२	६	२५
६५	अथ जूरा ब०	२१८	०	५
६६	अथ सर्बदेह उपमा व छबि ब०	२२०	०	२०२
		मीजान —	२३०	१०००"

२। परमानंद सुहाने का 'नखशिख हजारा' मुझे अपने छात्र, और अब सहयोगी, प्रो० अनंतलाल चौधरी, पटना कॉलेज से अवलोकनार्थ प्राप्त हुआ है, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

इस हजारा के प्रारंभ में निम्नोद्धृत पुस्तक-परिमाण आदि हैं—

"नखशिख हजारा"

परमानंद सुहाने संग्रहीत ।।

जिसमें

श्री जगजुननी राधिकाजी महारानी के नखशिख का वर्णन पद्माकर, पजनेस, परताप, प्रवीन, बेनी, बलदेव, बलभद्र, ब्रह्म, भूषण, भगवन्त, मतिराम, मुबारक, रघुराज, रघुनाथ, रसखानि, शम्भु, हठीदिवाकर, सेनापति, दूलहद्विजराज, ठाकुर, चिन्तामणि, शिवनाथ, गिरिधारी, ग्वाल, केशवदास, किशोर, कालिदास, कविन्द, श्रीपति इत्यादि कवियों के बनाये हुए २३७ दोहा व १००० सवैया कवित्तों में वर्णित हैं ।।

जिसको

श्री बल्लभ कुल सेवक वैश्यकुलोत्पन्न बंगालीलाल सुहाने के पुत्र परमानन्द सुहाने ने सर्वकाव्यानुरागियों के अवलोकनार्थ अतिपरिश्रम करके अनेकानेक मुद्रित व हस्तलिखित ग्रन्थों से चुनकर संग्रह किया ।।

प्रथम बार

लखनऊ

मुंशीनवलकिशोर (सी० आई० ई०) के छापेखाने में छपा दिसम्बर सन् १८९३ ई० ।।

नखशिख हजारा के कवियों का सूचीपत्र ।।

हे प्रिय काव्यरसिको ॥

आपने आजतक अनेकानेक इस विषय के ग्रन्थ अवलोकन किये होवैंगे परन्तु ऐसा सूचीपत्र दृष्टिगोचर न हुआ होगा इस सूचीपत्र में यह गुण है कि कबियों के कबित्त सवैया बहुत सरलता से देखने में आते हैं, इस ग्रन्थ में एकसौ साठ कबियों की कविता है वा जिन कबित्तों में कबियों के नाम ठीक ठीक नहीं मालूम होते वे जुदे लिखे गये हैं, इस ग्रन्थ को देखकर कोई कोई महाशय यह भी कहेंगे कि उक्त कबियों के जीवन चरित्र क्यों नहीं दिये सो जीवन न देने का यह कारण है कि एकएक नामके कई कबि हो गये हैं इससे उनकी काब्य अलग अलग लिखना वर्त्तमान समय के संग्रह कर्त्तों से नहीं हो सक्ता वा एक ग्रन्थ महान् परिश्रम से शिवसिंहजी ने (शिव सिंहसरोज) नाम संग्रह करके छपाया है इसमें एक हजार कबियों के जीवन चरित्रमय सन् सम्बत के दिये हैं और इसी प्रेस में छपा है अगर देखने की इच्छा होवै तो मँगाकर देखिये मेरी भूल से पांच कबियों के कबित इस ग्रंथ में नहीं दिये गये जिनके नाम कि ग्रंथ के आदि में हैं वा कई ऐसे कवित्त भी हैं कि जो दो दफे लिख गये है उन कवित्तों के ऊपर ऐसा * चिन्हन है आप सब महाशय कृपा करके इस मेरी भूल को क्षमा करैंगे ॥

आपका कृपाभिलाषी
पुस्तक संग्रह कर्त्ता
परमानन्द मुहाने
बम्बई बॉडी मरचण्ट
जबलपुर सिटी ॥

(१०)

परमानंद सुहाने तथा इनस भिन्न बहुसंख्याक कवियों की स्फुट रचनाएँ शिवसिंह सरोज में भी संगृहीत हैं। यह दुर्भाग्य का विषय है कि सरोजकार द्वारा उल्लिखित आकर-ग्रंथों में से प्रायः सभी आज अप्राप्य हैं। परमानंद सुहाने के हजारा में जिन कवियों के छंद संगृहीत हैं, उनके नामों और समय आदि को, सरोज पर अवलंबित आगे दी गई तालिका से मिलाकर हिंदी के गौण कवियों के अध्ययन के निमित्त आधार-भूमि तैयार की जा सकती है। इस तालिका में सरोज-कार द्वारा दिये गये नामों तथा समय के विषय में ग्रियर्सन तथा किशोरीलाल गोस्वामी की टिप्पणियों का भी उल्लेख है।

[१]

अकबर बादशाह

स०, दिल्ली; १५८४ वि०; ग्रि०, कि०, १५५६-१६०५।

[२]

अजबेस (प्राचीन)

स०, १५७० वि०; ग्रि०, कि०, इस नाम का कवि कोरी कल्पना।

[३]

अजबेस (नवीन भाट)

स०, १८९२ वि०; कि०, १८६८।

[४]

अयोध्याप्रसाद वाजपेयी

स०, सातनपुर वा रायबरेली, औध छाप; छंदानंद साहित्यसुधासागर, रामकवित्तावली विद्य०; कि०, १८८३ ई० में जीवित।

[५]

अवधेश ब्राह्मण

स०, चरखारी बुंदेलखंडी, १९०१ वि०; ग्रि०, १८४० ई० में उप०।

[६]

अवधेश ब्राह्मण

स०, भूपा के बुंदेलखंडी, १८३५ वि०; ग्रि०, जन्म १८३२ ई०। कि० के अनुसार दोनों अवधेश ब्राह्मण एक ही हैं; रचना-काल १८८६-१९१७ है; १८३८ ई० जन्मकाल नहीं है।

[७]

अवध बकस

स०, १९०४ वि०; ग्रि०, १८४७ ई०; कि०, नाम संदिग्ध।

[८]

औध कवि

स०, १८९६ वि०, 'शायद जो कवित्त हमने इनके नाम लिखा है वह वाजपेयी अयोध्या प्रसाद का न होवै।'

[९]

अयोध्या प्रसाद शुक्ल

सं०, गोलागोकरननाथ, खीरी, १९०२ वि०; कि० १८४५ ई० ।

[१०]

अनंद सिंह

स०, नाम दुर्गासिंह, अह्वन दिकोलिया, सीतापुर, विद्य० ।

[११]

अमरेश कवि

सं०, १६३५ वि०; ग्रि०, १५७८ ई०; कि०, १७५० सं० ।

[१२]

अंबुज कवि

सं०, १८७५ वि०; ग्रि०, १८१८ ई०; कि०, महाकवि पद्माकर के पुत्र, १८१८ ई० (सं० १८७५ वि०) ।

[१३]

आजम कवि

सं०, १८६६ वि०, नखशिख, षट्ऋतु; कि०, १७८६ सं०, शृंगारदर्पण ।

[१४]

अहमद कवि

सं०, १६७० वि०; कि०, उपनाम 'ताहिर', आगरा के रहनेवाले, उप० १६१८–१६ ७८ वि०, सामुद्रिक, कोकसार ।

[१५]

अनन्द कवि

स०, १७९० वि० ।

[१६]

आलम कवि

स०, १७१२ वि०; कि०, १६४०-१६८० वि० ।

[१७]

असकन्दगिरि

स०, बाँदा, बुंदेलखंडी, १९१६ वि०, अस्कंद बिनोद ।

[१८]

अनुपदास कवि

स०, १८०१ वि० ।

[१९]

ओलीराम कवि

स०, १६२१ वि०; कि०, १७५० वि० के पूर्व ।

[२०]

अभयराम कवि

स०, वृंदावनी, १६०२ वि० ।

[२१]

अमृत कवि

स०, १६०२ वि० ।

[२२]

आनंदघन कवि

स०, दिल्लीवाले, १७१५ वि०; ग्रि०, सुजानसागर।

[२३]

अभिमन्यु कवि

स०, १६८० वि० ।

[२४]

अनंत कवि

स०, १६६२ वि०, अनंतानंद ।

[२५]

आबिल कवि

स०, १७६२ वि० ।

[२६]

अलीमन कवि

स०; १६३३ वि० ।

[२७]

अनीश कवि

स०, १६११ वि०; कि०, १७६८ वि० ।

[२८]

अनुनैन कवि

स०, १८६६ वि०; ग्रि०, नखशिख ।

[२६]

अनाथदास

स०, १७१६ वि०; विचारमाला; कि०, १७२६ वि० में विचारमाला और १७२० वि० में प्रबोधचंद्रोदय का अनुवाद ।

[३०]

अक्षर अनन्य कवि

स०, १७१० वि० ।

[३१]

अनन्य कवि

कि०, १७३३ ई० ।

[३२]

अब्दुल रहिमान

स०, दिल्लीवाले, १७३८ वि०; यमक-शतक; कि०, १७६३–७६ वि० ।

[३३]

अमरदास कवि

स०, १७१२ वि० ।

[३४]

अगर कवि

सं०, १६२६ वि० ।

[३५]

अग्रदास

स०, गलता जयपुर-राज्य, १६९५ वि०; ग्रि० १५७५ ई० ।

[३६]

अनन्यदास

स०, चकेदवा, गोंडा, १५२५ वि०, अनन्ययोग ।

[३७]

आशकरनदास

स०, नखदगढ़वाले, १६१५ वि०; ग्रि०, उप० प्राय: १५५० ई० ।

[३८]

अमरसिंह हाड़ा

स०, जोधपुर के राजा, १६२१ वि०; ग्रि०, उप० १६३४ ई० ।

[३९]

आनंद कवि

स०, १७११ वि०, कोकसार, सामुद्रिक ।

[४०]

अंबर भाट

स०, चौजीतपुर, बुंदेलखंडी, १६१० वि० ।

[४१]

अनूप कवि

स०, १७९८ वि० ।

[४२]

आकूब खाँ

स०, १७७५ वि०, रसिकप्रिया का तिलक ।

[४३]

अनवर खाँ

स०, १७८० वि०, अनवर चंद्रिका—सतसई टीका; कि०, बिहारी सतसई की टीका का नाम अनवरचंद्रिका ।

[४४]

आसिफ खाँ

स०, १७३८ वि० ।

[४५]

आछेलाल बाट

स०, कन्नौज, १८८६ वि० ।

[४६]

अमरजी कवि

स०, राजपूतानावाले ।

[४७]

अजीतसिंह राठौर

स०, उदयपुर के राजा, १७८७ वि०, राजरूप का ख्यात; ग्रि०, ज० १६८२ ई०, मृ० १७२४ ई०; कि०, ज० १७३५ वि०, मृ० १७८१ वि० ।

[४८]

इच्छाराम अवस्थी

स०, पचरुवा, हैदरगढ़, १८५५ वि०, ब्रह्मविलास ।

[४९]

ईश्वर कवि

स०, १७३० वि० ।

[५०]

इन्द कवि

स०, १७७६ वि०; ग्रि०, ज० १७१९ ई० ।

[५१]

ईश्वरीप्रसाद त्रिपाठी

स०, विद्य०, पीरनगर, सीतापुर, रामविलास; ग्रि० १८८३ ई० में जीवित, रामविलास (वाल्मीकि-रामायण का भाषानुवाद) ।

[५२]

ईश कवि

स०, १७९६ वि०

[५३]

इंद्रजीत त्रिपाठी

स०, वनपुरा, अंतरबेदवाले, १७३९ वि० ।

[५४]

ईसुफ खाँ

स०, १७९१ वि०, सतसई और रसिकप्रिया की टीका ।

[५५]

उदयसिंह

स०, महाराजै मारवार, १५१२ वि०; ग्रि०, उप० १५८४ ।

[५६]

उदयनाथ बंदीजन

स०, काशीवासी, १५१२ वि०; ग्रि०, उप० १५८४ ई० ।

[५७]

उदेश भाट

स०, बुंदेलखंडी, १८१५ वि० ।

[५८]

ऊधोराम कवि

स०, १६१० वि०; कि०, उप० १७५० वि० के पूर्व ।

[५९]

ऊधो कवि

स०, १८५३ वि० ।

[६०]

उमेद कवि

स०, १८५३ वि०, अंतरबेद या शाहजहाँपुर के निकट के (?); ग्रि०, १७९५ ई०, नखशिख ।

[६१]

उमराव सिंह

स०, सैदगाँव, सीतापुर, विद्य०; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित ।

[६२]

उनियारे के राजा कछवाहे

स०, 'नाम हमारी किताब से जाता रहा, उनियारा एक रियासत का नाम है जो जयपुर में है', भाषाभूषण और बलभद्र के नखशिख का तिलक ।

[६३]

केशवदास

स०, सनाढ्य मिश्र, बुंदेलखंडी, १६२४ वि०, विज्ञानगीता, कविप्रिया, रामचंद्रिका, रसिकप्रिया, राम अलंकृत मंजरी और पिंगल ।

[६४]

केशवदास

ग्रि०, १५४१ ई० में उपस्थित; कि०, सं० १५८४ वि० से पूर्व जीवित ।

[६५]

केशवराइ बाबू

स०, बुंदेलखंडी, १७३९ वि०, कि० १७५३ वि० में जैमुन की कथा की रचना ।

[६६]

केशवराम

स०, भ्रमरगीत; कि०, गार्सां द तासी के अनुसार कृष्णदास के द्वारा लिखा गया ।

[६७]

कुमार मनिभट्ट

स०, १८०३ वि०, रसिकरसाल, कि०, १७७६ वि० ।

[६८]

करनेस कवि

सं०, बन्दीजन, असनीवाले १६११ ई०, कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण।

[६९]

कर्ण ब्राह्मण

स०, पन्नानिवासी, १७९४ वि०, साहित्य-चन्द्रिका—बिहारी सतसई की टीका।

[७०]

कर्ण भट्ट

सं०, बुन्देलखण्डी, १८५७ वि०, साहित्य-रस और रसकल्लोल, कि०, १७८८ वि०।

[७१]

करन कवि

स०, बन्दीजन, जोधपुरवाले; ग्रि०—१७३० ई०, सूर्यप्रकाश की रचना; कि०, १७८७ वि०।

(७२)

कुमारपाल महाराज

स०, अनहलवाले, १२२० वि०; ग्रि०, ११५० ई० में उपस्थित; कि०, ११९९—१२३० वि०।

(७३)

कालिदास त्रिवेदी

स०, बनपुरानिवासी, १७४९ वि०; ग्रि०, १७०० ई० के लगभग उपस्थित, 'वधू विनोद' और 'कालिदास हजारा' प्रसिद्ध कृतियाँ; 'जंजीराबाद' नामक एक अन्य रचना का उल्लेख; पुत्र उदयनाथ कवीन्द्र और पौत्र दूलह भी कवि।

[७४]

कवीन्द्र उदयनाथ त्रिवेदी

स०, कालिदास के पुत्र, १८०४ वि०।

[७५]

कवीन्द्र २ सखीसुख

स०, ब्राह्मण, १८५४ वि०।

[७६]

कवीन्द्र ३ सरस्वती

स०, ब्राह्मण, काशीनिवासी, १६२२ वि०, भाषाकाव्य, कवीन्द्र कल्पलता; ग्रि०, १६५० ई० में उपस्थित।

[७७]

युगलकिशोर (किशोर)

स०, बन्दीजन, दिल्लीवाले, १८०१ वि०, किशोर संग्रह।

[७८]

कादिरबख्श (कादिर)

स०, मुसलमान, १६३५ वि०।

[७९]

कृष्णकवि

स०, १७४० वि० ।

[८०]

कृष्णलाल कवि

स०, १८१४ वि० ।

[८१]

कृष्णकवि २

स०, जयपुरवाले, १६७५ वि०, बिहारी सतसई का तिलक; ग्रि०, १७२० ई० में उपस्थित; उपस्थित; कि०, १७८२ वि० ।

[८२]

कृष्णकवि ३

स०, १८८८ वि० ।

[८३]

कुंजलाल कवि

स०, बंदीजन, मऊ, रानीपुरा, १९१२ वि० ।

[८४]

कुंदन कवि

स०, बुंदेलखंडी, १७५२ वि०, नायिकाभेद ।

[८५]

कमलेश कवि

स०, १८७० वि०, नायिकाभेद ।

[८६]

कान्ह कवि

स०, प्राचीन २, १८५२ वि०, नायिकाभेद; कि०, १८०४ वि०, 'रसरंग' नामक ग्रंथ की रचना।

[८७]

कान्ह कवि २

स०, कन्हईलाल कायस्थ, राजनगर, बुंदेलखंडी, १९१४ वि०, नखशिख; कि०, १८९८ ।

[८८]

कन्हैयाबख्श (कान्ह)

स०, बैस, बैसवारे के ।

[८९]

कमलनयन

स०, बुंदेलखंडी, १७८४ वि०; कि०, १७८४ वि० ।

[९०]

कविराज कवि

स०, बंदीजन, १८८१ वि०; ग्रि०, १८२४ ई०, कि०, सुन्दरीतिलक में सुखदेवमिश्र उपनाम कविराज की ही रचनाएँ हैं ।

[६१]

कविराय कवि

स०, १८७५ वि०; कि०, १७६० वि० में उपस्थित ।

[६२]

कविराम कवि

स०, १८६८ वि० ।

[६३]

कविराम २

स०, रामनाथ कायस्थ; ग्रि०, १६४० वि०; कि०, कविराम कवि और कविराम २—दोनों एक ही ।

[६४]

कविदत्त

स०, १८३६ वि० ।

[६५]

काशीनाथ कवि

स०, १७५२ वि०; कि०, काशीनाथ त्रिपाठी; बलभद्र त्रिपाठी के पुत्र ।

[६६]

काशीराम कवि

स०, १७१५ वि० ।

[६७]

कामताप्रसाद

स०, १६११ वि०, नखशिख ।

[६८]

कबीर

स०, १६१० वि० ।

[६६]

किंकरगोविन्द

स०, १८१० वि० ।

[१००]

कालीराम

स०, १८२६ वि० ।

[१०१]

कल्यान कवि

स०, १७२६ वि०; ग्रि०, १५७५ ई० में उपस्थित ।

[१०२]

कमाल कवि

स०, १६२२ वि० ।

[१०३]

कलानिधि कवि

स०, १८०७ वि०, नखशिख।

[१०४]

कलानिधि कवि २

स०, प्राचीन, १६७२ वि०।

[१०५]

कुलपति मिश्र

स०, १७१४ वि०; कि०, १७२७ वि० में रसरहस्य की रचना।

[१०६]

कारेबग फकीर

स०, १७५६ वि०; कि०, १७१७ वि० रचनाकाल।

[१०७]

केहरी कवि

स०, १६१० वि०।

[१०८]

कृष्णसिंह बिसेन

स०, राजा भिनगे, बहराइच, १६०६ वि०।

[१०९]

कालिका कवि

स०, बंदीजन, काशीवासी।

[११०]

काशीराज कवि

स०, श्री महान कुमार बलवान सिंहजू काशी-नरेश चेतसिंह महाराज के पुत्र, १८७९ वि०, चित्रचंद्रिका।

[१११]

कोविद श्री पं० उमापति त्रिपाठी

स०, अयोध्यानिवासी, १६३२ वि०, दोहावली, रत्नावली।

[११२]

कृपाराम कवि

स०, जयपुरनिवासी १७७२ वि०; ग्रि०, १७२० ई० में उपस्थित; ज्यौतिष-सम्बन्धी एक ग्रंथ 'समयबोध' (समय ओघ ?) भाषा में लिखा; कि०, ग्रंथ का नाम 'समयबोध' ही है, जिसकी रचना १७७२ वि० में हुई थी।

[११३]

कृपाराम २

स०, ब्राह्मण, नरैनपुर, जिला गोंडा।

[१२६]

कृपाराम कवि ४

स०, हिततरंगिणी ।

[१२७]

कुंजगोपी

स०, गौड़ ब्राह्मण, जयपुर राज्य के वासी ।

[१२८]

कृपाल कवि

[१२९]

कनक कवि

स०, १७४० वि० ।

[१३०]

कुंभकर्ण राजा

स०, चित्तौड़, मीराबाई के पति, १३५७ वि०, गीतगोविन्द का तिलक ।

[१३१]

कल्याण सिंह भट्ट

[१३२]

कामताप्रसाद २

स०, ब्राह्मण, लखपुरा, जिला फतेपुर, १९११ वि० ।

[१३३]

कृष्ण कवि

स०, प्राचीन ।

[१३४]

खुमान

स०, बंदीजन, चरखारी, बुंदेलखंड, १८४० वि०, लक्ष्मणशतक, हनुमन, नखशिख; कि०, रचनाकाल १८३०—१८८० वि० ।

[१३५]

खुमान कवि

स०, एक कांड अमरकोश ।

[१३६]

खुमानसिंह

स०, महाराजै खुमान राउत, गुहलौत, सिसोत या चित्तौरगढ़ के प्राचीन राजा, १८१२ वि०, खुमानरायसा ।

[१३७]

खानखाना नबाब अब्दुल रहीम

स०, खानखाना बैरम खाँ के पुत्र, १५८० वि०, शृंगारसोरठा भाषा ।

[१३८]

खूबचन्द कवि

स०, मारवाड़-देशवासी ।

[१३९]

खानकवि

[१४०]

खानसुलतान कवि

[१४१]

खंडन कवि

स०, बुंदेल खंडी, १८८४ वि०, भूषणदाम; कि०, रचनाकाल——१७८१-१८१९ वि० है। इनके अलंकार-ग्रंथ 'भूषणदाम' का रचनाकाल १७८७ वि० है।

[१४२]

खेतल कवि

[१४३]

खुसाल पाठक

स०, रायबरेलीवाले ।

[१४४]

खेम कवि

स०, बुंदेलखंडी ।

[१४५]

खम कवि २

स०, व्रजवासी, १६३० वि०; ग्रि०, नायिकाभेद ।

[१४६]

खड्गसेन

स०, कायस्थ, ग्वालियर-निवासी, १६६० वि०, दानलीला, दीपमालिका ।

[१४७]

गंग कवि

स०, गंगाप्रसाद ब्राह्मण, एकनौर, जिला इटावाँ अथवा बंदीजन दिल्लीवाले, १५९५ वि०।

[१४८]

गंग कवि २

स०, गंगाप्रसाद ब्राह्मण, सपौली, जिले सीतापुर, १८९० वि०, दूनीविलास ।

[१४९]

गंगाधर कवि

स०, बुंदेलखण्डी ।

[१५०]

गंगाधर कवि २

स०, उपसतसैया (सतसई का तिलक)

[१५१]

गंगापति कवि

स०, १८४४ वि०; ग्रि०, १७१९ ई० में उपस्थित, १७७५ वि० में 'विज्ञानविलास' की रचना ।

[१५२]

गंगादयाल दुबे

स०, निसगर, जिले रायबरेली ।

[१५३]

गंगाराम कवि

स०, बुंदेलखडी, १८९४ वि० ।

[१५४]

गदाधर भट्ट

स०, बाँदावाले कवि, पद्‌माकर के पौत्र, १९१२ वि०; कि०, जन्म १८६० वि० के लगभग, मृत्यु १९५५ वि० क लगभग ।

[१५५]

गदाधर कवि

[१५६]

गदाधर राम

[१५७]

गदाधर मिश्र

स०, ब्रजबासी ४, १५८० वि०; कि०, मिश्र नही, भट्ट; दाक्षिणात्य ब्राह्मण; मृत्यु १६७० वि० के लगभग ।

[१५८]

गिरधारी

स०, ब्राह्मण, बैसवारा गाँव, सातनपुरवाले, १९०४ वि० ।

[१५९]

गिरिधारी कवि

ग्रि०, ब्राह्मण, सातनपुर के एक बैसवाड़ा, जन्म १८४७ ई० ।

[१६०]

गिरिधर कवि

स०, बन्दीजन, होलपुरवाले, १८४४ वि० ।

[१६१]

गिरिधर कबिराइ

स०, अंतरबदवाले, १७७० वि० ।

[१६२]

गिरधर बनारसी

स०, बाबू गोपालचन्द्र साहु, बाबू कालेहर्षचन्द्र के पुत्र, १८९९ वि०, दशावतार, भारती-भूषण ।

[१६३]

गोपाल कवि २

स०, प्राचीन, १७१५ वि०; ग्रि०, मित्रजित सिंह के पुत्र और कल्याणसिंह के आश्रित ।

[१६४]

गोपाल कवि

स०, कायस्थ, रीवाँ, बघेलखंडवासी, १६०१ वि०, गोपालपचीसी ।

[१६५]

गोपाल बंदीजन

स०, चरखारी, बुंदेलखंडी, १८८४ वि० ।

[१६६]

गोपाललाल कवि

स०, १८५२ वि० ।

[१६७]

गोपालराय कवि

कि०, रचनाकाल १८८५-१६०७ वि० ।

[१६८]

गोपालशरन राजा

स०, १७४८ वि०, विमबंध घटना नामक सतसई की टीका ।

[१६९]

गोपालदास

स०, ब्रजवासी; ग्रि०, जन्म १६७६ ई०; कि०, १७५५ वि०, रासपंचाध्यायी की रचना ।

[१७०]

गोपा कवि

स०, १५६० वि०, रागभूषण, अलंकारचन्द्रिका; कि०, कवि का नाम गोप है, गोपा नहीं, पूरा नाम संभवत· गोपालभट्ट; ओरछा के राजा पृथ्वीसिंह के दरबारी कवि (१७६३-१८०६ वि० ।)

[१७१]

गोकुलनाथ

स०, बंदीजन, बनारसी कवि रघुनाथ के पुत्र, १८३४ वि०, चेतचंद्रिका, गोविंद सुखद विहार, भारत अष्टादश पर्व—हरिवंश पर्यन्त ।

[१७२]

गोपीनाथ

स०, बन्दीजन, बनारसी गोकुलनाथ के पुत्र, १८५० वि०; ग्रि०, १८२० ई० के लगभग उपस्थित ।

[१७३]

गोकुल बिहारी

स०, १६६० वि०; कि०, अस्तित्व संदिग्ध ।

[१७४]

गोपनाथ कवि

स०, १६७० वि० ।

[१७५]

गुरुगोविन्द सिंह

स०, १७३८ वि०; ग्रि०, जन्म—१६६६-१७२३ वि० ।

[१७६]

गोविन्द अटल कवि

स०, १६७० वि०; कि०, अस्तित्व संदिग्ध ।

[१७७]

गोविन्दजी कवि

स०, १७५० वि०।

[१७८]

गोविन्ददास

स०, ब्रजवासी, १६१५ वि०; ग्रि०, १५६७ ई० में उपस्थित ।

[१७९]

गोविन्द कवि

स०, १७९१ वि०, करणाभरण ।

[१८०]

गुरदीन पांडे

स०, १८९१ वि०, वाक् मनोहर पिंगल; कि०, रचनाकाल १८०३ ई० ।

[१८१]

गुरुदीन राइ

स०, बंदीजन, पैंतेया, जिला सीतापुर; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित; कि०, पैंतेया नहीं, पैंतेपुर, यह जाँगेर के शाह या राजा थे ।

[१८२]

गुरुदत्त शुक्ल

स०, मकरन्दपुर, अंतरबेदवाले, १८६४ वि०, पक्षीविलास ।

[१८३]

गुरुदत्त कवि

स०, प्राचीन, १८८७ वि०; कि०, मकरन्दपुर वाले गुरुदत्त शुक्ल से अभिन्न प्रतीत होते हैं

[१८४]

गुमानजी मिश्र

स०, सांडीवाले, १८०५ वि०, काव्यकलानिधि; ग्रि०, १७४० ई० में उपस्थित ।

[१८५]

गुमान कवि २

स०, १७८८ वि०, कृष्णचन्द्रिका ।

[१८६]

गुलाल कवि

स०, १८७५ वि०, शालिहोत्र ।

[१८७]

ग्वाल कवि

स०, बंदीजन, मथुरानिवासी, १८७९ वि०, नखशिख, गोपीपचीसी, यमुनालहरी, साहित्य-दूषन, साहित्यदर्पण, भक्तिभाव, शृंगारदोहा और शृंगारकवित्त । ग्रि०, १८१५ ई० में उपस्थित, कि०, जन्म १८४८ वि०, मृत्यु १९२८ वि० ।

[१८८]

गुणदेव

स०, बुंदेलखंडी, १८५२ वि० ।

[१८९]

गुणाकर त्रिपाठी

स०, कांथा, जिला उन्नाव ।

[१९०]

गजराज उपाध्याय

स०, काशीवासी, १८७४ वि०, वृत्तहार रामायण ।

[१९१]

गुलामराम कवि

कि०, संभवतः मिरजापुर के प्रसिद्ध रामायणी रामगुलाम द्विवेदी और १८७४ वि० में विद्यमान ।

[१९२]

गुलामी कवि

कि०, उपरिवर्णित गुलामराम कवि से भिन्न नहीं ।

[१९३]

गुणसिन्धु कवि

स०, बुंदेलखंडी, १८८२ वि० ।

[१९४]

गोसाईं कवि

स०, राजपूतानेवाले; कि०, १८८२ वि० में उपस्थित ।

[१९५]

गणेश कवि

स०, बंदीजन, बनारसी ।

[१९६]

गोधकवि

[१९७]

गडु कवि

स०, राजपूतानेवाले, १७७० वि० ।

[१६८]

गिरिधारी भाट

स०, मऊरानीपुरा, बुंदेलखंडी ।

[१६६]

गुलाबसिंह

स०, पंजाबी, १८४६ वि०, चंद्रप्रबोधनाटक, मोक्षपंथ, भांवर सांवर ।

[२००]

गोधू कवि

स०, १७५५ वि०, ग्रि०, गोध कवि ।

[२०१]

गणेशजी मिश्र

स०, १६१५ वि० ।

[२०२]

गुलालसिंह

स०, १७८० वि० ।

[२०३]

गजसिंह

स०, गजसिंहविलास; कि०, विनोद के अनुसार गजसिंह का रचनाकाल १८०८-४४ वि० ।

[२०४]

ज्ञानचन्द्र यती

स०, राजपूतानेवाले, १८७० वि० ।

[२०५]

गोविन्दराम

स०, बंदीजन, राजपूतानेवाले, हारावती ।

[२०६]

गोपालसिंह

स०, ब्रजवासी, तुलसी-शब्दार्थप्रकाश; कि०, १८७४ वि० ।

[२०७]

गदाधर कवि

[२०८]

घनश्याम शुक्ल

स०, असनीवाले, १६३५ वि०; कि०, १७३७ वि० के लगभग उत्पन्न, १८३५ वि० तक वर्त्तमान ।

[२०६]

घनआनन्दकवि

स०, १६१५ वि० ।

[२१०]

घासीराम कवि

स०, १६८० वि० ।

[२११]

घनराय कवि

स०, १६६२ वि० ।

[२१२]

घाघ

स०, कान्यकुब्ज, अंतरबेदवाले, १७५३ वि०, ग्रि०, जन्म--१६३३ ई० ।

[२१३]

घासी भट्ट

[२१४]

चन्द्रकवि

स०, प्राचीन, बन्दीजन, संभलनिवासी, ११६८ वि० ।

[२१५]

चन्द्रकवि २

स०, १७४६ वि० ।

[२१६]

चन्द्रकवि ३

[२१७]

चन्द्रकवि ४

[२१८]

चिन्तामणि त्रिपाठी

स०, टिकमापुर, जिला कानपुरवाले, १७२६ वि०, छन्दविचार, काव्यविवेक, कविकुलकल्पतरु, काव्यप्रकाश, रामायण; ग्रि०, १६५० ई० में उपस्थित ।

[२१९]

चिन्तामणि २

[२२०]

चूड़ामणि कवि

स०, १८६१ वि० ।

[२२१]

चन्दनराय कवि

स०, बन्दीजन, नाहिल पुवांवा, जिले शाहजहाँपुरवाले, १८३० वि०, केशरीप्रकाश, शृंगाररस, कल्लोल-तरंगिणी, काव्याभरण, चन्दन सतसई, पथिकबोध ।

[२२२]

चोखेकवि

[२२३]

चतुर बिहारी कवि

स०, व्रजवासी, १६०५ वि० ।

[२२४]

चतुरसिंह राना

स०, १७०१ वि० ।

[२२५]

चतुर कवि

[२२६]

चतुरबिहारी

ग्रि०, व्रजवासी, जन्मकाल १५४८ ई० ।

[२२७]

चतुरभुज

[२२८]

चतुरभुजदास

स०, १६०१ वि०, ग्रि०, १५६७ ई० में उपस्थित ।

[२२९]

चैन कवि

[२३०]

चैनसिंह खत्री

स०, लखनऊवाले, १९१० वि०, भारतदीपिका, शृंगारसारावली ।

[२३१]

चण्डीदत्त कवि

स०, १८९८ वि० ।

[२३२]

चरणदास

स०, ब्राह्मण, पण्डितपुर, जिला फैजाबाद, १५३७ वि०, कि०, अलवर राज्यान्तर्गत दहरा ग्रामनिवासी, १७६० वि० में उत्पन्न ।

[२३३]

चतनचन्द्र कवि

स०, १६१६ वि०; कि०, १६१६ वि० में अश्वविनोद की रचना ।

[२३४]

चिरंजीव

स०, ब्राह्मण, बैसवारे के, १८७० वि०; ग्रि०, कहा जाता है कि इन्होंने महाभारत का भाषानुवाद किया था ।

[२३५]

चन्द्रसखी

स०, व्रजवासी, १६३८ वि० ।

[२३६]

चोब कवि

स०, हरिप्रसाद, बंदीजन, डलमऊवाले ।

[२३७]

छत्रसाल बुन्देला

स०, महाराज पन्ना, बुंदेलखण्ड, १६६० वि०; ग्रि०, १६५८ ई० में मारे गये; कि०, जन्मकाल १७०५ वि०, मृत्युकाल १७८२ वि० मारे नहीं गये ।

[२३८]

क्षितिपाल

स०, राजा माधवसिंह, बंधलगोत्री, अमेठी, जिला सुल्ताँपुर ।

[२३९]

क्षमकरण

स०, ब्राह्मण कवि, धनौली, जिला बाराबांकी, १८७५ वि०, रामरत्नाकर, रामास्पद, गुरु-कथा, आह्निक, रामगीतमाला, कृष्णचरितामृत, पदविलास, वृत्तभास्कर, रघुराजघनाक्षरी ।

[२४०]

क्षेमकरन

स०, अंतरबेदवाले ।

[२४१]

छत्तन कवि

[२४२]

छत्रपति कवि

[२४३]

क्षेम कवि

स०, १७५५ वि०; ग्रि०, संभवतः शिवसिंह द्वारा उल्लिखित दोआब के क्षेमकरन; कि०, छेम या क्षे .निधि पद्माकर के चाचा, अंतरबेदी क्षेमकरन छेम से भिन्न ।

[२४४]

छबील कवि

स०, ब्रजवासी ।

[२४५]

छैल कवि

स०, १७५५ वि० ।

[२४६]

छीत कवि

स०, १७०५ वि० ।

[२४७]

छीतस्वामी

स०, १६०१ वि०; ग्रि०, १५६७ ई० में उपस्थित; कि०, अष्टछापी से भिन्न ।

[२४८]

छेदीराम कवि

स०, १८६४ वि०, कविनेहनाम ।

[२४९]

छत्रकवि

स०, १६२५ वि०, विजय मुक्तावली; कि०, १७५७ वि० ।

[२५०]

क्षेमकवि २

स०, वंदीजन, डलमऊ के, १५८२ वि० ।

[२५१]

जगतसिंह बिसेन

स०, राजा गोंडा के भाईबन्द, १७६८ वि०, छन्द शृंगारग्रंथ, साहित्य सुधानिधि, अलंकार-निधि; ग्रि०, १७७० ई० के आसपास उपस्थित ।

[२५२]

युगलकिशोर भट्ट

स०, कैथलवासी, १७६५ वि०,

[२५३]

युगलकिशोर कवि

[२५४]

युगराज कवि

[२५५]

युगलप्रसाद चौबे

[२५६]

युगुल कवि

स०, १७५५ वि०; ग्रि०, बिना तिथि दिये हुये 'जुगुलदास कवि' नाम से शिवसिंह द्वारा उल्लिखित कवि भी संभवत: ये ही; कि०, इन्होंने १८२१ वि० में 'हितचौरासी' की टीका की थी ।

[२५७]

जानकीप्रसाद

स०, पंवार, जोहवेनकटी, जिले रायबरेली, रघुवीरध्यानावली, राम नवरत्न, भगवती विनय, रामनिवास रामायण, रामानन्द विहार, नीतिविलास; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित ।

[२५८]

जानकीप्रसाद २

[२५९]

जानकीप्रसाद कवि

स०, बनारसी ३, १८६० वि०, रामचंद्रिका-टीका, युक्ति रामायण; ग्रि०, १८१४ ई० में उपस्थित ।

[२६०]

जनकेश

स०, बंदीजन, मऊ, बुंदेलखंडी, १९१२ वि० ।

[२६१]

यशवन्त सिंह

स०, बघेले, राजा तिखा, जिला कन्नौज, १८५५ वि०, शृंगार शिरोमणि, भाषाभूषण, शालिहोत्र ।

[२६२]

यशवन्त कवि

स०, १७६२ वि० ।

[२६३]

जवाहिर कवि

स०, बंदीजन, बिलग्रामी, १८४५ वि०, जवाहिर रत्नाकर ।

[२६४]

जवाहिर कवि २

स०, बंदीजन, श्रीनगर, बुंदेलखंडी, १९१४ वि० ।

[२६५]

जैनदीन अहमद

स०, १७३६ वि०; चिन्तामणि त्रिपाठी इनके आश्रित ।

[२६६]

जयदेव कवि

स०, कपिलावासी, १७२८ वि०; ग्रि०, १७०० ई० के आसपास उपस्थित ।

[२६७]

जयदेव कवि २

स०, १८१५ वि० ।

[२६८]

जैतराम कवि

कि०, १७९५ वि० ।

[२६९]

जैत कवि

स०, १६०१ वि०; कि०, जैतराम से भिन्न ।

[२७०]

जयकृष्ण कवि

स०, भवानीदास कवि के पुत्र, छन्दसार ।

[२७१]

जय कवि

स०, बन्दीजन, लखनऊवाले, १९०२ वि० ।

[२७२]

जयसिंह कवि

[२७३]

जगन कवि

स०, १६५२ वि० ।

[२७४]

जनार्दन कवि

ग्रि०, जन्म १६६१ ई०, शृंगारी कवि; कि०, जनार्दन पद्माकर के पितामह और मोहन-लाल के पिता, १७४३ वि० में उपस्थित, इसी वर्ष मोहनलाल का जन्म हुआ, १६६१ ई० इनका प्रारंभिक रचनाकाल ।

[२७५]

जनार्दन भट्ट

[२७६]

जमाल कवि

स०, १६०२ वि० ।

[२७७]

जीवनाथ

स०, बंदीजन, नवलगंज, जिला उन्नाव के, १८७२ वि०, वसंतपचीसी ।

[२७८]

जीवन कवि

[२७९]

जगदेव कवि

[२८०]

जगन्नाथ कवि

स०, प्राचीन ।

[२८१]

जगन्नाथ कवि अवस्थी

स०, सुमेरपुर, जिला उन्नाव; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित ।

[२८२]

जगन्नाथदास

[२८३]

जलालुद्दीन कवि

स०, १६१५ वि०; कि०, १७५० वि० के पहले ।

[२८४]

यशोवानन्द कवि

स०, १८२८ वि०, बरवै नायिकाभेद ।

[२८५]

जगनन्द कवि

स०, वृन्दावनवासी. १६५८ वि० ।

[२८६]

जोयसी कवि

स०, १६५८ वि० ।

[२८७]

जीवन कवि

स०, १६०८ वि० ।

[२८८]

जगजीवन कवि

स०, १७०५ वि० ।

[२८९]

यदुनाथ कवि

स०, १६८१ वि० ।

[२९०]

जगदीश कवि

स०, १५८८ वि० ।

[२९१]

जयसिंह

स०, कछवाहे, महाराज आमेर, १७५५ वि०, जयसिंह कल्पद्रुम; ग्रि०, शासनकाल १६९९-१७४३ ई० ।

[२९२]

जयसिंह राठौर

स०, महाराजा उदयपुर, १६८१ वि०, जयदेव विलास ।

[२९३]

जलील—अब्दुल जलील

स०, बिलग्रामी, १७३९ वि० ।

[२९४]

जमालुद्दीन

स०, पिहानीवाले, १६२५ वि०; कि०, यह उपस्थिति-काल है, जमाल और जमालुद्दीन ग्रियर्सन के मतानुसार संभवतः भिन्न नहीं ।

[२९५]

जगनेश कवि

[२९६]

जोधकवि

स०, १५९० वि० ।

[२९७]

जगन्नज

ग्रि०, (?) १५७५ ई० में उपस्थित; कि०, अकबरी दरबार के कवि, उपस्थिति काल— १५५६-१६०५ वि० के बीच ।

[२९८]

जगामग

ग्रि०, (?) १५७५ ई० में उपस्थित; कि०, अकबरी दरबार के कवि, उपस्थिति-काल— १५५६-१६०५ वि० के बीच ।

[२९९]

युगलदास कबि

[३००]

जगजीवनदास

स०, चंदेल कोटवा, जिला बाराबांकी, १८४१ वि०; ग्रि०, १७६१ ई० (१८१८ वि०) में उपस्थित; ज्ञानप्रकाश महापल्लै, और परम ग्रंथ; कि०, जन्मकाल सं० १७२७ वि०; मृत्युकाल १८१७ वि० ।

[३०१]

जुल्फेकार कवि

स०, १७८२ वि०, बिहारी सतसई का तिलक ।

[३०२]

जगनिक

स०, बंदीजन, महोबा, बुंदेलखंडी, ११२४ वि०; ग्रि०, ११९१ ई० में उपस्थित ।

[३०३]

जबरेश

स०, बंदीजन, बुंदेलखंडी ।

[३०४]

टोडर—राजा टोडरमल

स०, खत्री, पंजाबी, १५८० वि० ।

[३०५]

टेर कवि

स०, मैनपुरी जिला के वासी, १८८२ वि० ।

[३०६]

टहकन कवि

स०, पंजाबी ।

[३०७]

ठाकुर कवि

स०, प्राचीन, १७०० वि० ।

[३०८]

ठाकुरप्रसाद त्रिपाठी

स०, किशुनदासपुर, जिला रायबरेली, १८८२ वि०; ग्रि०, १८८३ ई० में उपस्थित; कि०, मृत्यु १८६७ ई० (१६२४ वि०) में हुई थी।

[३०६]

ठाकुरराम कवि

[३१०]

ठाकुरप्रसाद त्रिवेदी

स०, अलीगंज, जिला खीरी; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित।

[३११]

ढाकन कवि

[३१२]

श्रीगोस्वामी तुलसीदास २

स०, १६०१ वि०; ग्रि०, १६०० ई० में उपस्थित, मृत्यु १६२४ ई०।

[३१३]

तुलसी ३

स०, श्रीओझाजी, जोधपुरवाले।

[३१४]

तुलसी ४

स०, कवि यदुराय के पुत्र, १७१२ वि०; ग्रि०, 'कविमाला' नामक काव्य-संग्रह, जिसमें ७५० कवियों की रचनाएँ संकलित हैं, जो १५०० वि० (१४४३ ई०) और १७०० वि० (१६४३ ई०) के बीच हुए।

[३१५]

तुलसी ५

[३१६]

तानसेन कवि

स०, ग्वालियर-निवासी, १५८८ वि०; ग्रि०, १५६० ई० में उपस्थित; कि०, जन्म १५७८ वि०, मृत्यु १६४६ वि०।

[३१७]

तारापति कवि

स०, १७६० वि०।

[३१८]

तारा कवि

स०, १८३६ वि०।

[३१६]

तत्त्ववेत्ता कवि

स०, १६८० वि०; कि०, १५५० वि० के लगभग। राजस्थान-निवासी, ब्राह्मण।

[३२०]

तेगयानि कवि

स०, १७०८ वि० ।

[३२१]

ताज कवि

स०, १६५२ वि० ।

[३२२]

तालिब शाह

स०, १६६८ वि० ।

[३२३]

तीर्थराज

स०, ब्राह्मण, वैसवारे के, १८०० वि०, सगरसारभाषा ।

[३२४]

तीखी कवि

[३२५]

तैंही कवि

[३२६]

तोष कवि

ग्रि०, १६४८ ई०; कि०, सुधानिधि का रचना काल १६६१ वि० में ।

[३२७]

तोषनिधि

स०, ब्राह्मण, कपिला नगरवासी; १७९८ वि०, सुधानिधि, व्यंग्यशतक, नखशिख ।

[३२८]

राजा दलसिंह

स०, बुंदेलखण्डी, १७८१ वि०, प्रेमपयोनिधि ।

[३२९]

दलपतिराय

स०, वंशीधर ब्राह्मण, अमदाबादवासी, १८८५ वि०, 'भाषा-भूषण' का तिलक ।

[३३०]

दयाराम कवि

[३३१]

दयाराम कवि त्रिपाठी

[३३२]

दयानिधि कवि

स०, १७६९ वि० ।

[३३३]

दयानिधि

स०, ब्राह्मण, पटना-निवासी २ ।

[३३४]

दयानिधि कवि

स०, बैसवारे के ३, १८११ वि० ।

[३३५]

दयानाथ दुबे

स०, १८८९ वि०, आनन्द रस ।

[३३६]

दयादेव कवि

[३३७]

दत्तप्राचीन कवि

स०, देवदत्त ब्राह्मण, कुसमड़ा, जिला कन्नौज, १७०३ वि० ।

[३३८]

दत्त २ देवदत्त

स०, ब्राह्मण, साढ़, जिला कानपुर, १८३६ वि० ।

[३३९]

दास—भिखारीदास

स०, कायस्थ, अरवल, बुंदेलखंडी, १७८० वि०, छन्दोर्णव, काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय, बाग-बहार ।

[३४०]

दास २ बेणीमाधव दास

स०, पसका, जिला गोंडा, १६५५ वि० ।

[३४१]

दान कवि

[३४२]

दामोदर दास

स०, ब्रजवासी, १६२२ वि० ।

[३४३]

दामोदर कवि

[३४४]

द्विजदेव

स०, महाराज मानसिंह, शाकद्वीपी, अवध-नरेश, शृंगारलतिका ।

[३४५]

द्विजकवि

स०, पंडित मन्नाल बनारसी ।

[३४६]

द्विजनन्द कवि

[३४७]

द्विजचन्द कवि

स०, १७५५ वि० ।

[३४८]

दिलदार कवि

स०, १६५० वि०; कि०, १७५० वि० के पूर्व उपस्थित ।

[३४९]

द्विजराम कवि

[३५०]

दिलाराम कवि

[३५१]

दिनेश कवि

स०, नखशिख; ग्रि०, टिकारी, जिला गया के, १८०७ ई० में उपस्थित, रस-रहस्य; कि०, रस-रहस्य का रचनाकाल १८८३ वि०, काव्य कदंब की रचना १८९१ वि० में ।

[३५२]

दीनदयाल गिरि

स०, बनारसी, १९१२ वि०, अन्योक्तिकल्पद्रुम, अनुरागबाग, बाग बहार; कि० 'बाग-बहार' नामक ग्रंथ नहीं लिखा ।

[३५३]

दीनानाथ कवि

स०, बुंदेलखंडी, १९११ वि०; कि०, अस्तित्व संदिग्ध, है भी तो १८५४ ई० (१९११ वि०) जन्मकाल न होकर उपस्थिति-काल ।

[३५४]

दुर्गाकवि

स०, १८६० वि० ।

[३५५]

दुलह त्रिवेदी

स०, बनपुरावाले कवीन्द्र जी के पुत्र, १८०३ वि०, कविकुलकंठाभरण ।

[३५६]

देव कवि

स०, देवदत्त, ब्राह्मण, समान गाँव, जिला मैनपुरी के, १६६१ वि०, प्रेम तरङ्ग, भाव-विलास, रस-विलास, रसानन्द लहरी, सुजान-विनोद, काव्य रसायनपिंगल, अष्टयाम, देवमाया-प्रपंचनाटक, प्रमदापिका, सुमिलविनोद, राधिका-विलास; कि०, जन्म १७३० वि०, १७४६ वि० में भाव-विलास की रचना, जन्म—इटावा, घोसरिहा में ।

[३५७]

देव २

स०, काष्ठजिह्वा स्वामी, काशीस्थ, ग्रि०, १८५० ई० के लगभग उपस्थित ।

[३५८]

देवदत्त कवि

सं०, १७०५ वि० ।

[३५९]

देवीदास कवि

स०, बुंदेलखंडी, १७१२ वि०; ग्रि०, १६८५ ई० में उपस्थित, रचना प्रेमरत्नाकर ।

[३६०]

देवकीनन्दन शुक्ल

स०, मकरन्दपुर, जिला कानपुर, १८७० वि०; कि०, ज्ञात रचनाकाल सं० १८४०-५६ वि० ।

[३६१]

देवदत्त कवि २

[३६२]

देवीदत्त कवि

स०, १७५२ वि० ।

[३६३]

देवी कवि

[३६४]

देवी बन्दीजन

स०, १७५० वि०; ग्रि०, हास्यरस का एक ग्रन्थ 'सूरसागर' लिखा है; कि०, ग्रंथ का नाम 'सूमसागर', रचना १७६४ वि० (१७५१ ई०) में हुई ।

[३६५]

देवीराम कवि

स०, १७५० वि० ।

[३६६]

देवा कवि

स०, राजपूतानेवाले, १८५५ वि०; ग्रि०, १५७५ ई० में उपस्थित ।

[३६७]

दौलत कवि

स०, १६५१ वि० ।

[३६८]

दील्हकवि

स०, १६२५ वि० ।

[३६९]

देवनाथ कवि

[३७०]

देवमणि कवि

[३७१]

दास ब्रजवासी

[३७२ [

दिलीप कवि

[३७३]

दीनानाथ

स०, अध्वर्यु, मोहार, जिला फतेपुर, १८७६ वि० ।

[३७४]

देवीदीन

स०, बन्दीजन, बिलग्रामी; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित, 'नखशिख' और 'रस-दर्पण' ।

[३७५]

देवीसिंह कवि

[३७६]

धनसिंह कवि

स०, १७६१ वि० ।

[३७७]

धनीराम कवि

स०, बनारसी, १८८८ वि०, काव्य-प्रकाश और रामचंद्रिका का तिलक ।

[३७८]

धीर कवि

स०, १८२२ वि० ।

[३७९]

धुरंधर कवि

[३८०]

धीरज नरिन्द

स०, महाराज इन्द्रजीतसिंह, बुंदेला, उड़छावाले १६१५ वि० ।

[३८१]

धोंधेदास

स०, ब्रजवासी ।

[३८२]

धौकल सिंह

स०, बैसन्यावां, जिला रायबरेली, १८६० वि०; ग्रि०, कई छोटे ग्रंथ लिखे, सबसे अधिक प्रसिद्ध 'रमल प्रश्न'; कि०, १८६४ वि० में 'रमल प्रश्न' की रचना ।

[३८३]

नरहरि सहाय

स०, बन्दीजन, असमीवाले १८६८ वि०; ग्रि०, १५५० ई० में उपस्थित; कि० 'रागकल्प-द्रुमवाले' नरहरि से भिन्न ।

[३८४]

निपटनिरंजन स्वामी

स०, १६५० वि०, शांतसरसा, निरंजन-संग्रह; कि०, १७१५-६४ वि० ।

[३८५]

निहाल ब्राह्मण

स०, निगोहाँ, जिला कानपुर, १८२० वि०

[३८६]

नानकजी वेदी

स०, खत्री, तिलवड़ी गाँव, पंजाब-वासी, १५२६ वि० ।

[३८७]

नेही कवि

[३८८]

नैन कवि

[३८९]

नोने कवि

स०, बंदीजन बांदा, बुंदेलखंडवासी, कवि हरिलालजू के पुत्र, १९०१ वि०; कि० इनके पिता हरिदास का रचनाकाल सं० १८११ वि० है, अतः १८४४ ई० (१९०१ वि०) इनका जन्म-काल नहीं हो सकता ।

[३९०]

नैसुक कवि

स०, बुंदेलखंडी, १९०४ वि० ।

[३९१]

नायक कवि

[३९२]

नवी कवि

स०, नखशिख ।

[३९३]

नागर कवि

[३९४]

नरेश कवि

स०, नायिकाभेद

[३९५]

नवीन कवि

[३९६]

नवनिधि कवि

[३६७]

नाभादास कवि

स०, नाम नारायणदास महाराज, दक्षिणी, १५४० वि०; ग्रि०, १६०० ई० में उपस्थित; कि०, रचनाकाल १७०० वि० के आसपास ।

[३६८]

नरवाहनजी कवि

स०, भौगाँव-निवासी, १६०० वि०; ग्रि० १५६० ई० में उपस्थित ।

[३६९]

नरसिया कवि

स०, नरसी, जूनागढ़-निवासी, १५६०; कि०, नरसिया नहीं, नरसिया ।

[४००]

नवखान कवि

स०, बुंदेलखंडी, १७६२ वि० ।

[४०१]

नारायणभट्ट कवि

स०, गोकुलस्थ ऊँच गाँव, बरसाने के समीप के निवासी, १६२० वि०; ग्रि०, १५६३ ई० ।

[४०२]

नन्दाराम कवि

[४०३]

नन्ददास

स०, ब्राह्मण, रामपुरनिवासी, १५८५ वि० ।

[४०४]

नन्दकिशोर कवि

स०, रामकृष्ण गुणमाल ।

[४०५]

नाथ कवि

ग्रि०, जन्मकाल १५८४ ई०, गोपालभट्ट के पुत्र ।

[४०६]

नाथ २

स०, १७३० वि० ।

[४०७]

नाथ ३

स०, १८०३ वि० ।

[४०८]

नाथ ४

स०, १८११ वि० ।

[४०९]

नाथ ५

स०, हरिनाथ गुजराती, काशीवासी, १८२६ वि० ।

[४१०]

नाथ ६

[४११]

नाथ कवि

स०, ब्रजवासी, गोपाल भट्ट ऊँच गाँव वाले के पुत्र, १६४१ वि० ।

[४१२]

नवलकिशोर कवि

[४१३]

नवलकवि

[४१४]

नवलसिंह

स०, कायस्थ, झाँसी के निवासी, राजा संथर के नौकर, १९०८ वि०, नामरामायण और हरिनामावली के रचयिता ।

[४१५]

नवलदास

स०, क्षत्रिय, गूडगाँव, जिला बाराबंकी, १३१६ वि०, ज्ञानसरोवर; कि०, रचनाकाल १८७३—१९२६ वि० ।

[४१६]

नीलाधर कवि

स०, १७०५ वि०; कि०, वस्तुतः लीलाधर ।

[४१७]

निधि कवि

स०, १७५१ वि० ।

[४१८]

निहाल प्राचीन

स०, १६३५ वि० ।

[४१९]

नारायण

स०, बन्दीजन, काकूपुर, जिला कानपुर । १८०९ वि० ।

[४२०]

परसाद कवि

स०, १६८० वि०; कि०, पूरा नाम बेनीप्रसाद, १७९५ वि० में नायिकाभेद ग्रंथ 'रस-समुद्र' की रचना ।

[४२१]

पद्माकर भट्ट

स०, बाँदावाले, मोहनभट्ट के पुत्र, १८३८ वि०, ग्रि०, १८१५ ई० में उपस्थित; कि०, जन्म १८१० वि०, मृत्यु १८६० वि० ।

[४२२]

पजनेश कवि

स०, बुंदेलखंडी, १८७२ वि०, मधुप्रिया, नखशिख; ग्रि०, जन्म १८१६ ई० ।

[४२३]

परताप साहि

स०, बंदीजन, बुंदेलखंडी, रतनेश कवि के पुत्र, १७६० वि०, काव्य-विलास, भाषा-भूषण, नख-शिख, विज्ञार्थ कौमुदी; ग्रि०, १६३३ (?) में उपस्थित, कि०, रचनाकाल १८८२-६६ वि० भाषा-भूषण, जिनकी इन्होंने टीका की थी, जोधपुर नरेश जगवत सिंह की कृति है, 'विज्ञार्थ कौमुदी' का शुद्ध नाम 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' है ।

[४२४]

प्रवीणराय पातुरी

स०, उड़छा, बुंदेलखंड-वासिनी, १६८० वि० ।

[४२५]

प्रवीणकविराय २

स०, १६६२ वि० ।

[४२६]

परमेशकवि प्राचीन

स०, १६६८ वि० ।

[४२७]

परमेश

स०, बंदीजन, सतावाँ, जिला रायबरेली, १८६६ वि० ।

[४२८]

प्रेमसखी

स०, १७६१ वि० ।

[४२९]

परम कवि

स०, बंदीजन, महोवे के बुंदेलखण्डी, १८७१ वि०, नखशिख ।

[४३०]

प्रेमी यमन

स०, मुसलमान, दिल्लीवाले, १७६८ वि०, अनेकार्थ नाममालाकोष ।

[४३१]

परमानन्द

स०, लल्लापुराणीक, अजयगढ़, बुंदेलखंडी, १८६४ वि०, नखशिख ।

[४३२]

प्राणनाथ कवि

स०, ब्राह्मण, बैसवारे के, १८५१ वि०, चक्राव्यूह इतिहास।

[४३३]

परमानन्ददास

स०, ब्रजवासी, बल्लभाचार्य्य के शिष्य, १६०१ वि०; ग्रि०, १५५० ई० में उपस्थित, रचना रागकल्पद्रुम ।

[४३४]

प्रसिद्ध कवि

स०, प्राचीन, १५९० वि०; कि०, १५९० ई० उपस्थिति-काल।

[४३५]

प्रधान केशवराय कवि

स०, शालहोत्र-भाषा ।

[४३६]

प्रधान कवि

स०, १७७५ वि० ।

[४३७]

पंचम कवि

स०, प्राचीन, बंदीजन, बुंदेलखंडी, १७३५ वि०; ग्रि०, १६५० ई० में उपस्थित; कि०, १७२२-८८ वि० ।

[४३८]

पंचम कवि २

स०, नवीन, बंदीजन, अजयगढ़-निवासी, १९११ वि०; ग्रि०, अजयगढ़ के राजा गुमानसिंह के दरबारी कवि; कि०, गुमानसिंह का शासनकाल १८२२-३५ वि० ।

[४३९]

प्रियदास स्वामी

स०, बृन्दावनवासी, १८१६ वि०; ग्रि०, १७१२ ई० में उपस्थित ।

[४४०]

पुरुषोत्तम कवि

स०, बंदीजन, बुंदेलखंडी, १७३० वि०; ग्रि०, १६५० ई० में उपस्थित; कि०, १७३० वि० ।

[४४१]

प्रह्लाद कवि

स०, १७०१ वि०; कि०, १६६१ वि० के आसपास 'बैताल-पचीसी' नामक ग्रंथ अकबर के राज्यकाल (१६१३-६२ वि०) में लिखा।

[४४२]

पंडित प्रवीण ठाकुरप्रसाद

स०, पयासी मिश्र, अवधवाले, १९२८ वि० ।

[४४३]

पतिराम कवि

स०, १७०१ वि० ।

[४४४]

पृथ्वीराज कवि

स०. १६२४ वि० ।

[४४५]

परबत कवि

स०, १६२४ वि०, कि०, जन्मकाल १६८८ वि० और रचनाकाल १७१० वि० ।

[४४६]

परशुराम कवि

[४४७]

परशुराम २

स०, व्रजवासी, १६६० वि०; कि०, विप्रमती का रचनाकाल १६७७ वि० ।

[४४८]

पुडरीक कवि

सं०, बुंदेलखंडी, १७६६ वि० ।

[४४९]

पद्मेश कवि

स०, १८०३ वि० ।

[४५०]

पुखी कवि

स०, ब्राह्मण, मैनपुरी के समीप के निवासी, १८०३ वि० ।

[४५१]

पद्मनाभजी

स०, व्रजवासी, कृष्णदास पयअहारी, गलताजी के शिष्य, १५६० ई०; ग्रि०, १५७५ ई० में उपस्थित ।

[४५२]

पारस कवि

[४५३]

प्रेमकवि

[४५४]

पुरान कवि

[४५५]

परवाने कवि

[४५६]

पुष्कर कवि

स०, रसरत्न ।

[४५७]

पराग कवि

स०, बनारसी. १८८३वि०, तीनों काण्ड अमरकोश; ग्रि०, १८२६ ई० के आसपास उपस्थित ।

[४५८]

पहलाद

स०, बंदीजन, चरखारीवाले; ग्रि०, १८१० ई० में उपस्थित, चरखारी के राजा जगतसिंह के दरबारी कवि थे; कि०, रचनाकाल १७८८-१८१५ वि०।

[४५९]

पंचम कवि

स०, बंदीजन, डालमऊ, जिले रायबरेली, १९२४ वि० ।

[४६०]

प्रेमनाथ

स०, ब्राह्मण, कलुवा, जिला खीरी के, १८३५ वि० ।

[४६१]

प्रेमपरोहित कवि

[४६२]

पृथपूरनचन्द

स०, रामरहस्यरामायण ।

[४६३]

पुण्ड कवि

स०, उज्जैन के निवासी, ७७० वि० ।

[४६४]

फेरन कवि

[४६५]

फुलचन्द कवि

[४६६]

फुलचन्द

स०, ब्राह्मण, बैसवारेवाले, १९२८ वि०; ग्रि०, जन्म (? उपस्थिति) १८७७ ई०; कि०, १९३० वि० में 'अनिरुद्ध स्वयंवर' नामक ग्रंथ लिखा ।

[४६७]

फालका राव

स०, अनोबा, मरहरा, ग्वालियर-निवासी, १९०१ वि०, कविप्रिया का तिलक ।

[४६८]

फैजीशेख

स०, अबुल फैज, नागौरी, शेख मुबारक के पुत्र, १५८० वि०; ग्रि०, १५४७ ई० ।

[४६९]

फहीम

स०, शेख अबुल फजल फैजी के कनिष्ठ सहोदर, १५८० वि०; ग्रि०, १५५० ई० ।

[४७०]

ब्रह्म कवि

स०, राजा बीरबर, ब्राह्मण, अन्तरवेदवाले, १५८५ वि० ।

[४७१]

बुद्धराव

स०, रावबुद्ध, हाडा, बूँदीवाले, १७५५ वि०; ग्रि०, १७१०–१७४० ई० में उपस्थित; कि०, जन्म १७४२ वि०, देहावसान १७६६ वि० ।

[४७२]

बलदेव कवि

स०, बघेलखंडी, १८०९ वि०, सतकविगिराविलास, इस में १७ कवियों की रचनाएँ संकलित।

[४७३]

बलदेव कवि

स०, चरखारीवाले, १८९६ वि०; ग्रि०, १८२० ई० में उपस्थित; कि०, चरखारीवाले बलदेव जयसिंह (शासनकाल १९१७–३७) के दरबारी कवि ।

[४७४]

बलदेव क्षत्रि

स०, अवध के निवासी, १९११ वि० ।

[४७५]

बलदेव कवि

स०, प्राचीन ४, १७०४ वि० ।

[४७६]

बलदेव कवि ५

स०, अवस्थी, दासापुर, जिला सीतापुर, श्रृंगारसुधाकर; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित; कि०, श्रृंगार सुधाकर की रचना १९३० वि० में ।

[४७७]

बलदेवदास कवि ६

स०, जौहरी, हाथरसवाले, १९०३ वि०; कि०, विचित्र रामायण की रचना की ।

[४७८]

बिजय

स०, राजा बिजय बहादुर, बुंदेला, टेहरीवाले, १८७८ वि० ।

[४७९]

बिक्रम

स०, राजा बिजय बहादुर, बुंदेला, चरखारीवाले, १८८० वि०, बिक्रम विरुदावली, बिक्रम-सतसई ।

[४८०]

बेनी कवि

स०, प्राचीन, असनी जिला, फतेपुरवाले, १६९० वि०, नायिकाभेद; कि०, १८१७ वि० में 'रसमय' नामक नायिकाभेद का ग्रंथ रचा ।

[४८१]

बेनी कवि २

स०, बंदीजन, बैंती, जिला रायबरेली के निवासी, १८४४ वि० ।

[४८२]

बनीप्रवीन ३

स०, वाजपेयी, लखनऊ के निवासी, १८७४ वि०, नायिकाभेद; ग्रि०, जन्म १८१९ ई०; कि०, बेनी प्रवीण के नायिकाभेद के ग्रंथ 'नवरसतरङ्ग' का रचनाकाल १८७४ वि० ।

[४८३]

बेनीप्रगट ४

स०, ब्राह्मण, कबिंदकवि, नरवलनिवासी, के पुत्र, १८८० वि० ।

[४८४]

बीर कवि

स०, दाऊदादा बाजपेयी, मंडिलानिवासी, १८९१ वि०, प्रेमदीपिका; ग्रि०, १८२० ई० में उपस्थित ।

[४८५]

बीर २

स०, बीरवर कायस्थ, दिल्ली निवासी, १७७७ वि०, कृष्णचन्द्रिका ।

[४८६]

बलिभद्र

स०, सनाढ्य, ओड़छावाले, केशवदास कवि के भाई, १६४२ वि०, भागवतपुराण टीका, नखशिख ।

[४८७]

ब्यासजी कवि

स०, १६८५ वि०; कि०, १६२८ ई० अशुद्ध है, ब्यासजी कवि, प्रसिद्ध हरीराम ब्यास (ग्रियर्सन ५४) हैं ।

[४८८]

ब्यास स्वामी

स०, हरीराम शुक्ल, उड़छावाले, १५९० वि० ।

[४८९]

बल्लभरसिक कवि

स०, १६८१ वि०; कि०, वल्लभ कवि वल्लभरसिक से भिन्न हैं।

[४९०]

बल्लभ कवि २

स०, १६८९ वि०।

[४९१]

बल्लभाचार्य्य ३

स०, ब्रजवासी, गोकुलस्थ, १६०१ वि०; ग्रि०, जन्म १४७८ ई०।

[४९२]

बिट्ठलनाथ

स०, गोकुलस्थ, गोस्वामी वल्लभाचार्य्य के पुत्र, १६२४ वि०; ग्रि०, १५५० ई० में उपस्थित; कि०, जन्म १५७२ वि०, मृत्यु १६४२ वि०।

[४९३]

बिपुलबिट्ठल

स०, गोकुलस्थ, श्रीस्वामी हरिदास के शिष्य, १५८० वि०।

[४९४]

बीठल कवि

[४९५]

बलि कवि

[४९६]

बलरामदास ब्रजवासी

[४९७]

बंशीधर

[४९८]

बंशीधर मिश्र

स०, संदीलेवाले, १६७२ वि०।

[४९९]

बिष्णुदास

[५००]

बिष्णुदास

[५०१]

बंशीधर कवि

[५०२]

ब्रजेश कवि

स०, बुंदेलखंडी।

[५०३]

ब्रजचन्द कवि

स०, १७६० वि० ।

[५०४]

ब्रजनाथ कवि

स०, १७८० वि०, रागमाला ।

[५०५]

ब्रजमोहन कवि

[५०६]

ब्रज

स०, लाला गोकुलप्रसाद कायस्थ, बलिरामपुरी, दिग्विजय-भूषण, अष्टयाम, चित्रकलाधर, दूतीदर्पण ।

[५०७]

ब्रजवासीदास कवि

स०, प्रबोधचंद्रोदय नाटक ।

[५०८]

ब्रजवासीदास

स०, प्राचीन, १७५५ वि० ।

[५०९]

ब्रजलाल कवि

[५१०]

ब्रजवासीदास २

स०, वृन्दावन-निवासी, १८१० वि०, व्रजविलास ।

[५११]

ब्रजराजकवि

स०, बुंदेलखण्डी, १७७५ वि० ।

[५१२]

ब्रजपति कवि

स०, १६८० वि० ।

[५१३]

विजयाभिनन्दन

स०, बुंदेलखंडी, १७४० वि०; ग्रि०, १६५० ई० में उपस्थित; कि०, १७४० वि० ।

[५१४]

बंशरूप कवि

स०, बनारसी, १६०१ वि० ।

[५१५]

बंशगोपाल कवि

स०, बंदीजन ।

[५१६]

बोधा कवि

स०, १८०४ वि० ।

[५१७]

बोध कवि

स०, बुंदेलखंडी, १८५५ वि० ।

[५१८]

बलभद्र

स०, कायस्थ, पन्ना निवासी, १९०१ वि० ।

[५१९]

बिश्वनाथ कवि १

स०, १९०१ वि० ।

[५२०]

बिश्वनाथ २

स०, बंदीजन, टिकई, जिला रायबरेली; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित ।

[५२१]

बिश्वनाथ ३

स०, महाराज बिश्वनाथसिंह बघेले, बांधवनरेश, १८९१ वि०, कबीर के बीजक और विनय-पत्रिका के तिलक तथा रामचंद्र की सवारी ।

[५२२]

बिश्वनाथ अताई ४

स०, बघेलखंडनिवासी, १७८७ वि० ।

[५२३]

बिश्वनाथ कवि ५

स०, प्राचीन, १६५५ वि० ।

[५२४]

बिहारीलाल चौबे

स०, ब्रजवासी, १९०२ वि०; ग्रि०, १६५० ई० में उपस्थित ।

[५२५]

बिहारी कवि २

स०, १७३८ वि० ।

[५२६]

बिहारी कवि ३

स०, बुंदेलखंडी, १७८६ वि० ।

[५२७]

बिहारीदास कवि ४

स०, ब्रजवासी, १६७० वि० ।

[५२८]

बालकृष्ण त्रिपाठी

स०, बलभद्र जू के पुत्र और काशिनाथकवि के भाई, १७८८ वि०, रसचन्द्रिका; ग्रि०, १६०० ई० में उपस्थित ।

[५२९]

बालकृष्ण कवि

[५३०]

बोधीराम कवि

[५३१]

बुधसेन कवि

[५३२]

बिन्दादत्त कवि

[५३३]

बन्दन कवि

[५३४]

बंदन पाठक

स०, काशीवासी, मानसशंकावली; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित ।

[५३५]

बृन्दाबन कवि

[५३६]

बिशेश्वर कवि

[५३७]

बिबुध कवि

[५३८]

बारन कवि

स०, भोपालवाले, १७४० वि०, रसिकविलास; कि०, रसिकविलास की रचना १७३७ वि० में और एक अन्य ग्रंथ-रत्नाकर की १७१२ वि० ।

[५३९]

बृन्दा कवि

[५४०]

बजीदा कवि

स०, १७०८ वि०; कि०, दादूजी के शिष्य ।

[५४१]

बुधराम कवि

स०, १७२२ वि० ।

[५४२]

बलिजू कवि

स०, १७२२ वि० ।

[५४३]

बनबारी कवि

स०, १७२२ वि० ।

[५४४]

बिश्वंभर कवि

[५४५]

बैताल कवि

स०, वदीजन, १७३४ वि० ।

[५४६]

बचू कवि

स०, १७८० वि० ।

[५४७]

बजरंग कवि

[५४८]

बकसी कवि

[५४६]

बाजेश कवि

स०, बुंदेलखंडी, १८३१ वि० ।

[५५०]

बालनदास कवि

स०, १८५० वि०, रमलभाषा ।

[५५१]

बृन्दावन दास २

स०, ब्रजवासी, १६७० वि० ।

[५५२]

बिद्यादास

स०, ब्रजवासी, १६५० वि० ।

[५५३]

बारक कवि

स०, १६५५ वि० ।

[५५४]

बनमालीदास गोसाईं

स०, १७१६ बि०; ग्रि०, वेदांत-सम्बन्धी दोहे प्रसिद्ध हैं; कि०, दारा के मुंशी, दारा और औरंगजेब में उत्तराधिकार के लिए १७१५ वि० में युद्ध हुआ था।।

[५५५]

बंशीधर बाजपेयी

स०, चिन्ताखेरा, जिला रायबरेली, १९०१ वि० ।

[५५६]

बंशीधर कवि

स०, बनारसी, गणेश बंदीजन कवीन्द्र के पुत्र, १९०१ वि०, साहित्य बंशीधर, भाषा राजनीति, विदुरप्रजागर, मित्रमनोहर; कि०, १९०७ वि० में 'साहित्य-तरंगिणी' नामक ग्रंथ लिखा ।

[५५७]

बंश गोपाल

स०, बंदीजन, जालवननिवासी, १९०२ वि० ।

[५५८]

बृन्दाबन

स०, ब्राह्मण, सेमरौता, जिला रायबरेली; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित ।

[५५९]

बुधसिंह

स०, पंजाबी, माधवानल की कथा ।

[५६०]

बाबूभट्ट कवि

[५६१]

ब्रह्म

स०, श्रीराजा बीरबर ।

[५६२]

बिद्यानाथ कवि

स०, अन्तरबेदवाले, १७३० वि० ।

[५६३]

बैन कवि

[५६४]

बिजयसिंह

स०, उदयपुर के राना, १७८७ वि०, विजयविलास ।

[५६५]

बरबै सीता कवि

स०, राठौर, कन्नौज के राजा, १२४९ वि० ।

[५६६]

बारदर बेण्य कवि

स०, बंदीजन, राठौरों का प्राचीन कवि, ११४२ वि० ।

[५६७]

बेनीदास कवि

स०, बंदीजन, मेवाड़-देश के निवासी, १८९२ वि०; ग्रि०, मेवाड़ के इतिहास-लेखकों में थे ।

[५६८]

बाबेराय कवि

स०, बंदीजन, डलमऊवाले, १८४२ वि० ।

[५६९]

भूषण त्रिपाठी

स०, टिकमापुर, जिला कानपुर, १७३८ वि०, शिवराजभूषण, भूषणहजारा, भूषण-उल्लास, दूषण-उल्लास ।

[५७०]

भगवतरसिक

स०, वृन्दावन-निवासी, माधवदासजी के पुत्र, हरिदासजी के शिष्य; कि० १७३०-५० वि० ।

[५७१]

भगवन्तराय कवि

स०, सातों काण्ड रामायण कवित्तो में; ग्रि०, १७५० ई० में उपस्थित; कि०, भगवन्त राय खीची और भगवन्त कवि एक ही कवि, भगवन्त कवि इन मे भिन्न है ।

[५७२]

भगवन्त कवि

[५७३]

भगवान कवि

[५७४]

भगवतीदास

स०, ब्राह्मण, १६८२ वि०, नासिकेतोपाख्यान, भर्तृहरिशतक कवित्तों में ।

[५७५]

भगवानदास निरंजनी

[५७६]

भगवानहित रामराय

[५७७]

भगवानदास

स०, मथुरानिवासी, १५९० वि०;

[५७८]

भोज कवि

स०, प्राचीन, १८७२ वि० ।

[५९२]

भोलासिंह कवि

स०, पन्ना, बुंदेलखंडी, १८९६ वि० ।

[५९३]

भूपतिकवि

स०, राजा गुरुदत्तसिंह, बंधलगोती, अमेठी, १८०३ वि० ।

[५९४]

भृंगकवि

स०, १७०८ वि०; कि०, भंग नामक कोई कवि नहीं हुआ ।

[५९५]

भरमी कवि

स०, १७०८ वि० ।

[५९६]

भीषम कवि २

स०, १७०८ वि० ।

[५९७]

भूपनारायण

स०, बन्दीजन, काकूपुर, जिला कानपुर, १८५९ वि०; ग्रि०, शिवराजपुर के चन्देल क्षत्रिय राजाओं की पद्यबद्ध वंशावली लिखी है ।

[५९८]

भोलानाथ

स०, ब्राह्मण, कन्नौजनिवासी, वैतालपच्चीसी ।

[५९९]

भूधर कवि

स०, असोथरवाले, १८०३ वि०; ग्रि०, १७५० ई० के आसपास उपस्थित, असोथर, फतहपुर के भगवन्तराय खीचीं (मृत्यु १७६० ई०) के दरबार में थे; कि०, रचनाकाल १८१७-६३ वि०, ग्रंथ का नाम—रामकूटबिस्तार ।

[६००]

मानदास कवि २

स०, ब्रजवासी, १६८० वि०, वाल्मीकि रामायण, हनुमान नाटक ।

[६०१]

मानकवि १

[६०२]

मानकवि २

स०, ब्राह्मण, बैसवारे के, १८१८ वि०, कृष्णकल्लोल ।

[६०३]

मोहनभट्ट

स०, बाँदानिवासी, कवि पद्माकर के पिता, १८०३ वि०; ग्रि०, १८०० ई० के आसपास उपस्थित; कि०, जन्म १७४३ वि०, १८४० वि० के लगभग जयपुर गये थे ।

[६०४]

मोहन कवि २

स०, १८७५ वि० ।

[६०५]

मोहन कवि ३

स०, १७१५ वि० ।

[६०६]

मुकुन्दलाल कवि

स०, बनारसी, रघुनाथ कवीश्वर के गुरु के शिष्य, १८०३ वि० ।

[६०७]

मुकुन्दसिंह

स०, हाड़ा महाराज, कोटा, १६३५ वि०; कि०, जन्मकाल १६२५ ई०, रचनाकाल—१६५८ ई० के आसपास ।

[६०८]

मुकुन्दकवि

स०, प्राचीन, १७०५ वि०; कि०, मुकुन्द ने रहीम की प्रशस्ति लिखी है, अतः यह सं० १६८४ वि० के आसपास उपस्थित थे ।

[६०९]

माखन कवि

स०, १८७० वि० ।

[६१०]

माखन

स०, लखेरा, पन्नावाले, १९११ वि०; कि०, कवि का नाम माखन है, लखेरा स्थान-सूचक है ।

[६११]

मनसा कवि

[६१२]

मनसाराम कवि

स०, नायिकाभेद ।

[६१३]

मून

स०, ब्राह्मण, असोथर, गाजीपुर के निवासी, १८६० वि०, राम-रावण का युद्ध ।

[६१४]

मणिदेव

स०, बंदीजन, बनारसी, १८९६ वि०, ग्रि०, १८२० ई० के आसपास उपस्थित ।

[६१५]

मकरन्द कवि

[६१६]

मकरन्द राय

स०, बन्दीजन, पुवाँवाँ, जिला शाहजहाँपुर, १८८० वि०; कि०, सं० १८२१ वि० में 'हंसाभरण' नामक ग्रंथ की रचना ।

[६१७]

मंचित कवि

स०, १७८५ वि० ।

[६१८]

मुबारक

स०, सय्यद मुबारक अली बिलग्रामी, १६४० वि०; कि०, मुबारक नाम से प्रसिद्ध ।

[६१९]

मातादीन शुक्ल

स०, अजगरा, जिला परतापगढ़; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित, 'ज्ञान-दोहावली' नाम से इनके कुछ छन्द साहिबप्रसादसिंह के 'भाषा-सार' में ।

[६२०]

मानिकदास कवि

स०, मथुरानिवासी, मानिकबोध ।

[६२१]

मुरारिदास

स०, व्रजवासी ।

[६२२]

मन्यकवि

[६२३]

मननिधि कवि

[६२४]

मणिकण्ठ कवि

[६२५]

मोतीलाल कवि

ग्रि०, बाँसी-राज्यवासी, जन्म १५३३ ई०; कि०, नौबस्ता, नागनगर परगना, जिला इलाहाबाद-निवासो, सं० १८६२ वि० के पूर्व विद्यमान ।

[६२६]

मुरली कवि

[६२७]

मोतीराम कवि

स०, १७४० वि०; ग्रि०, माधोनल की आख्यायिका का व्रजभाषा में अनुवाद करनेवाले ।

[६२८]

मनसुख कवि

स०, १७४० वि० ।

[६२९]

मिश्रकवि

स०, १७४० वि० ।

[६३०]

मुरलीधर कवि

स०, १७४० वि०; कि०, श्रीधर इनसे भिन्न नहीं, १७६६ वि० में 'जगनामा' की रचना की थी ।

[६३१]

मलुकदास

स०, ब्राह्मण, कड़ामनिपुर, १६८५ वि०; कि०, ब्राह्मण नहीं, खत्री, ज० १६३१ वि०, मृ० १७३९ वि० ।

[६३२]

मीररुस्तम कवि

स०, १७३५ वि० ।

[६३३]

महम्मद कवि

स०, १७३५ वि०; ग्रि०, जन्म १७०४ ई० ।

[६३४]

मीरीमाधव कवि

स०, १७३५ वि० ।

[६३५]

मदनकिशोर कवि

स०, १८०७ वि० ।

[६३६]

मखजातक

स०, वाजपेयी जालियाप्रसाद, तारगाँव, जिला उन्नाव ।

[६३७]

महाराज कवि

[६३८]

मुरलीधर कवि

[६३९]

मोतीलाल कवि २

स०, बाँसी-राज्य के निवासी, १५६७ वि०, गणेश-पुराण-भाषा ।

[६४०]

महेशदत्त

स०, ब्राह्मण, धनौली, बाराबाँकी; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित, 'काव्य-संग्रह' ।

[६४१]

मनभावन

स०, ब्राह्मण, मुंडिया, जिला शाहजहाँपुर, १८३० वि०, शृंगार-रत्नावली ।

[६४२]

मनियारसिंह

स०, क्षत्रिय, काशीनिवासी, १८६१ वि०, हनुमत् छब्बीसी, भाषा सौन्दर्य्य-लहरी; कि०, सं० १८४६ वि० में 'महिम्नकवित्त' की रचना ।

[६४३]

मधसूदन कवि

स०, १६६१ वि०; कि०, 'अस्तित्वहीन' ।

[६४४]

मधसूदन दास

स०, माथुर ब्राह्मण, इष्टकापुरी के, १८३९ वि०, रामाश्वमेध ।

[६४५]

मनीराम कवि

स०, मिश्र, कन्नौजवाले, १८३९ वि०, छंदछप्पनी ।

[६४६]

मनीराय कवि

[६४७]

मदनगोपाल शुक्ल

स०, फतूहाबादवाले, १८७६ वि०, अर्जुनविलास, वैद्यरत्न ।

[६४८]

मदनगोपाल २

[६४९]

मदनगोपाल कवि ३

स०, चरखारीवाले ।

[६५०]

मदनमोहन कवि

स०, चरखारीवाले, बुंदेलखंडी ३, १८८२ वि०; ग्रि०, जन्म १८२३ ई० ।

[६५१]

मनोहर कवि

स०, राजा मनोहरदास कछवाहा, १५९२ वि०; ग्रि०, १५७७ ई० में उपस्थित ।

[६५२]

मनोहर २

स०, काशीराम, रिसालदार, भरतपुरवाले, मनोहरशतक ।

[६५३]

मनोहर कवि ३

स०, १७८० वि० ।

[६५४]

माधवानन्द भारती

स०, काशीस्थ, १६०२ वि०, शंकरदिग्विजय-भाषा; कि०, सं० १६२६ वि० में कैलाश-मार्ग की रचना।

[६५५]

महेश कवि

स०, १८६० वि०।

[६५६]

मदनमोहन

स०, १६६२ वि०; कि०, संभवतः सूरदास मदनमोहन, अतः १६३५ ई० (१६६२ वि०) जन्मकाल नहीं, अधिक-से-अधिक अन्तिम जीवनकाल हो सकता है।

[६५७]

मंगद कवि

[६५८]

माधवदास

स०, ब्राह्मण, १५८० वि०; कि०, १५२३ ई० उपस्थिति-काल।

[६५६]

महाकवि

स०, १७८० वि०।

[६६०]

महताब कवि

स०, नखशिख।

[६६१]

मीरन कवि

[६६२]

मल्लकवि

स०, १८०३ वि०; ग्रि०, असोथर, जिला फतहपुर के, १७५० ई० के आसपास उपस्थित।

[६६३]

मानिकचंद्र कवि

स०, १६०८ वि०।

[६६४]

मानिकचंद

स०, कायस्थ, १६३० वि०।

[६६५]

मुनिलाल कवि

[६६६]

मतिराम त्रिपाठी

स०, टिकमापुर, जिला कानपुर, १७३८ वि०, ललितललाम, छन्दसारपिंगल, रसराज।

[६६७]

मण्डन कवि

स०, जैतपुर, बुन्देलखण्डी, १७१६ वि०, रसरत्नावली, रसविलास, नयनपचासा; कि०, सं० १६८२ वि० के आसपास उपस्थित।

[६६८]

मेधा कवि

[६६९]

महबूब कवि

स०, १८६७ वि०, चित्रभूषण।

[६७०]

महानन्द वाजपेयी

स०, बैसवारे के, १९०१ वि०, बृहच्छिवपुराण-भाषा।

[६७१]

मीराबाई

स०, १४७५ वि०।

[६७२]

मनीराम मिश्र

स०, साढ़, जिला कानपुर, १८९६ वि०।

[६७३]

मानकवि

स०, बन्दीजन, चरखारीवाले; ग्रि०, १८२० ई० में उपस्थित; कि०, ये मानकवि खुमान और ज्ञानरस के मान से भिन्न नहीं।

[६७४]

मधुनाथ कवि

स०, १७८० वि०।

[६७५]

मानराय

स०, बन्दीजन, असनीवाले, १५८० वि०।

[६७६]

मीतूदास

स०, गौतम, हरधौरपुर, जिला फतेपुर, १९०१ वि०; ग्रि०, वेदान्त-सम्बन्धी ग्रंथ।

[६७७]

मदनकिशोर कवि

स०, १७०८ वि०।

[६७८]

मीरामदनायक

स०, मीर अहमद विलग्रामी, १८०० वि०।

[६७९]

मलिक मोहम्मद जायसी

सं०, १६८० वि०; ग्रि०, १५४० ई० में उपस्थित; कि०, १६०० वि० के कुछ पूर्व ।

[६८०]

मलिन्द

स०, मिहींलाल बन्दीजन, डलमऊवाले, १९०२ वि० ।

[६८१]

मुसाहेब

स०, राजा बिजाउर, विनयपत्रिका, रसराज-टीका ।

[६८२]

मनोहरदास निरंजनी

[६८३]

मातादीन मिश्र

स०, सरायमीरा, कवित्तरत्नाकर ।

[६८४]

मूकजी कवि

स०, बंदीजन, राजपुतानेवाले, १७५० वि० ।

[६८५]

मार्नासह

स०, महाराजा कछवाहा, आमेरवाले, १५९२ वि०, मानचरित्र ।

[६८६]

रामकवि

स०, रामबख्श, रससागर ।

[६८७]

रामसिंह कवि

स०, बुंदेलखंडी, १८३४ वि० ।

[६८८]

रामजी कवि

स०, १६९२ वि० ।

[६८९]

रामदास कवि

स०, १८३९ वि० ।

[६९०]

रामसहाय

स०, कायस्थ, बनारसी, १९०१ वि०, वृत्ततरंगिनी; ग्रि०, १८२० ई० के आसपास उप-स्थित ।

[६६१]

रामदीन त्रिपाठी

स०, टिकमापुर, जिला कानपुर, १६०१ वि० ।

[६६२]

रामदीन

स०, बंदीजन, अलीगंजवाले, १८६० वि० ।

[६६३]

रामलाल कवि

[६६४]

रामनाथ प्रधान

स०, अवध-निवासी, १६०२ वि०, रामकलेवा ।

[६६५]

रामदेवसिंह

स०, सूर्यवंशी क्षत्रिय, खण्डासावाले ।

[६६६]

रामनारायण

स०, कायस्थ, मुंशी महाराजा मानसिंह; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित ।

[६६७]

रामकृष्ण चौबे

स०, कालिंजर-निवासी, १८८६ वि०, विनयपचीसी ।

[६६८]

रामसखे कवि

स०, ब्राह्मण, नृत्यराघवमिलन ।

[६६९]

रामकिशुन कवि

ग्रि०, रामकिशुन चौबे, कालिंजर, जिला बाँदा के, जन्म १८२६ ई०, विनयपचीसी नामक शांतरस के ग्रंथ के रचयिता । कि०, रचनाकाल—सं० १८१७—६० वि० ।

[७००]

रामदया कवि

स०, रागमाला ।

[७०१]

रामराई राठौर

स०, राजा खेत्रपाल के पुत्र ।

[७०२]

रामचरण

स०, ब्राह्मण, गणेशपुर, जिला बाराबंकी ।

[७०३]

रामदासबाबा

स०, सूरजी के पिता, १७८८ वि०; ग्रि०, १५५० ई० में उपस्थित; कि०, सूर के पिता से भिन्न ।

[७०४]

रघुराई कवि

स०, बुन्देलखंडी भाट, १७६० वि०, यमुनाशतक ।

[७०५]

रघुराई कवि २

स०, १८३० वि० ।

[७०६]

रघुलाल कवि

[७०७]

रघुराज कवि

स०, श्री बांधवनरेश बघेले, राजा रघुराजसिंह बहादुर, आनन्दाम्बुनिधि, सुन्दरशतक, रसिकमोहन, जगमोहन, काव्यकलाधर, इश्क-महोत्सव, सतसई की टीका; ग्रि०, जन्म १८२४ ई०, सिंहासनारोहणकाल १८३४ ई०, १८८३ ई० में जीवित; कि०, जन्मकाल १८८० वि०, सिंहासनारोहणकाल १९११ वि०, मृत्युकाल १९३६ वि० ।

[७०८]

रघुनाथ कवि

स०, अरसेला, बंदीजन, बनारसी, १८०२ वि० ।

[७०९]

रघुनाथ २

स०, पण्डित शिवदीन ब्राह्मण, रसूलाबादी, भाषामहिम्न ।

[७१०]

रघुनाथ प्राचीन

स०, १७१० वि० ।

[७११]

रघुनाथराय कवि

स०, १६३५ वि० ।

[७१२]

रघुनाथदास महंत

स०, अयोध्यावासी; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित ।

[७१३]

रघुनाथ उपाध्याय

स०, जौनपुर-निवासी, १९२१ वि०, निर्णयमंजरी; ग्रि०, जन्म १८४४ ई० ।

[७१४]

रसराज कवि

स०, १७८० वि०, नखशिख ।

[७१५]

रसखान कवि

स०, सय्यद इब्राहीम, पिहानीवाले, १६३० वि० ।

[७१६]

रसाल कवि

स०, अंगनलाल, बन्दीजन, बिलग्रामी, १८८० वि०, बरवै अलकार ।

[७१७]

रसिक दास

स०, ब्रजवानी ।

[७१८]

रसिया कवि

स०, नजीब खाँ. सभासद, महाराज पटियाला ।

[७१९]

रसिकशिरोमणि कवि

स०, १७१५ वि०; ग्रि०, जन्म १६४८ ई०; कि०, गोस्वामी हरिराय का नाम रसिकशिरोमणि भी, ज० सं० १६४७ वि०; मृ० सं० १७७२ वि० ।

[७२०]

रसराज कवि

स०, १७१५ वि० ।

[७२१]

रसरूप कवि

[७२२]

रसरंग कवि

स०, लखनऊवाले, १९०१ वि० ।

[७२३]

रसिकलाल कवि

स०, बाँदावाले, १८८० वि० ।

[७२४]

रसपुंजदास

स०, दादूपंथी, प्रस्तारप्रभाकर, वृत्तविनोद ।

[७२५]

रसलीन कवि

स०, सय्यद गुलाम नबी, बिलग्रामी, १७९८ वि०, रसप्रबोध, पाँच-सौ जिल्द भाषा-काव्य ।

[७२६]

रसलाल कवि

स०, बुंदेलखण्डी, १७६३ वि० ।

[७२७]

ऋषिजूकवि

स०, १८७२ वि० ।

[७२८]

ऋषिराम मिश्र

स०, पट्टीवाले, १६०१ वि०, वंशीकल्पलता; ग्रि०, यह अवध के दीवान बालकृष्ण के दरबारी कबि और 'वंशीकल्पलता' नामक ग्रंथ के रचयिता थे; कि०, बालकृष्ण अवध के नवाब आसफुद्दौला के दीवान, जिनका शासन-काल १८३४-५४ वि० है ।

[७२९]

ऋषिनाथ कवि

[७३०]

रविनाथ कवि

स०, बुंदेलखण्डी, १७६१ वि० ।

[७३१]

रविदत्त कवि

स०, १७४२ वि० ।

[७३२]

रतनेशकवि

स०, बंदीजन, बुंदेलखण्डी, प्रतापकवि के पिता, १७८८ वि०; ग्रि०, (?) १६२० ई० में उपस्थित; कि०, सं० १८५०-८० वि० के आसपास ।

[७३३]

रत्नकुँवरि

स०, बाबू शिवप्रसाद सितारेहिन्द की प्रपितामही, बनारसी, १८०८ वि०, प्रेमरत्न ।

[७३४]

रतनकवि

स०, ब्राह्मण, बनारसी, १६०५ वि०, प्रेमरत्न ।

[७३५]

रतनकवि

स०, श्रीनगर, बुंदेलखण्डवासी, १७६८ वि०, फत्तेशाहभूषण, फतेहप्रकाश; ग्रि०, १६८१ ई०, कि०, रचनाकाल १८१७ वि० ।

[७३६]

रतनकवि २

[७३७]

रतनपाल कवि

स०, १७३८ वि० ।

[७३८]

रावराना कवि

स०, वंदीजन, चरखारी क निवासी, १८९१ वि०

[७३९]

रनछोर कवि

स०, १७५० वि०; ग्रि०, १६८० ई० में उपस्थित, 'राजपट्टन' के रचयिता ।

[७४०]

रूपकवि

[७४१]

रूपनारायण कवि

स०, १७०५ वि०; ग्रि०, शिवसिंह द्वारा विना किसी विवरण के 'रूपकवि' नाम से उल्लिखित कवि भी संभवतः ये ही; कि०, रूपनारायण ने वीरबल की प्रशस्ति की है, अतः यह स० १६४५ वि० के आसपास उपस्थित रहे होंगे. रूपकवि ने भिन्न ।

[७४२]

रूपसाहि

स०, कायस्थ, बागमहल, परनासमीप के निवासी, १८१३ वि०, रूपविलास; ग्रि०, १८०० ई० के आसपास उपस्थित; कि०, रूपविलास की रचना सं० १८१३ वि० में ।

[७४३]

राजाराम कवि

स०, १६८० वि० ।

[७४४]

राजाराम कवि २

स०, १७८८ वि० ।

[७४५]

राजा रणधीरसिंह

स०, शिरमौर, सिंगरामउवाले, भूषणकौमुदी, काव्यरत्नाकर ।

[७४६]

रज्जब कवि

[७४७]

रायकवि

[७४८]

रायजू कवि

[७४९]

रामचन्द्र कवि

स०, नागर, गुजरात-निवासी, गीतगोविन्दादर्श. लीलावती ।

[७५०]

रंगलाल कवि

स०, १७०५ वि० ।

[७५१]

रामशरण

स०, ब्राह्मण, हमीरपुर, जिला इटावावाले, १८३२ वि० ।

[७५२]

रामभट्ट

स०, फर्रुखाबादी, १८०३ वि०, शृंगारसौरभ, बरवै नायिका-भेद ।

[७५३]

रामसेवक कवि

स०, ध्यानचिन्तामणि ।

[७५४]

रामदत्त कवि

[७५५]

रामप्रसाद

स०, बन्दीजन, बिलग्रामी, १८०३ वि० ।

[७५६]

रघुराम

स०, गुजराती, अहमदाबादवासी, माधव-विलास ।

[७५७]

रामनाथ मिश्र

स०, आजमगढ़वाले ।

[७५८]

रुद्रमणि

स०, ब्राह्मण, १८०३ वि० ।

[७५९]

रुद्रमणि चौहान

स०, १७८० वि० ।

[७६०]

राजा रणजीतसिंह

स०, जांगरे, ईसानगर, जिला खीरी, हरिवंशपुराण-भाषा ।

[७६१]

रसरूप कवि

स०, १७८८ वि० ।

[७६२]

राधेलाल

स०, कायस्थ, राजगढ़, बुंदेलखंडी, १९११ वि० ।

[७६३]

रसधाम कवि

स०, १८२५ वि०, अलंकारचन्द्रिका।

[७६४]

रसिकबिहारी

स०, १७८० वि०।

[७६५]

रावरतन राठौर

स०, प्रपौत्र, राजा उदयसिंह, रतलामवाले, रायसरावरतन; ग्रि०, १६५० ई० में उपस्थित।

[७६६]

राना राजसिंह

स०, राजकुमार भीमपुत्र, १७८७ वि०, राजविलास।

[७६७]

रहीम कवि

[७६८]

रामप्रसाद अगरवाल

स०, मीरापुरवाले तुलसीदास के पिता, १६०१ वि०।

[७६९]

लालकवि

स०, प्राचीन, १७३८ वि०, विष्णुविलास; ग्रि०, १६५८ ई० में उपस्थित; कि०, १७६४ वि० में 'छत्रप्रकाश' की रचना।

[७७०]

लालकवि २

स०, बंदीजन, बनारसी, १८४७ वि०, आनन्दरस, लालचन्द्रिका (सतसईटीका); ग्रि०, १७७५ ई० के आसपास उपस्थित।

[७७१]

लालकवि ३

स०, बिहारीलाल त्रिपाठी, टिकमापुरवाले, १८८५ वि०।

[७७२]

लालकवि ४

[७७३]

(लाल कवि) लल्लूलालजी

स०, गुजराती, आगरेवाले, १८९२ वि०, सभा-विलास, माधव-विलास, वार्त्तिक-राजनीति।

[७७४]

लालगिरधर

स०, बैसवारेवाले, १८०७ वि०, नायिकाभेद।

[७७५]

लालमुकुन्द कवि

[७७६]

लालचन्द कवि

स०, १७४४ वि० ।

[७७७]

लालनदास

स०, ब्राह्मण, डलमऊवाले, १६५२ वि०; कि०, १५८५, १५८७ या १५६५ वि० ।

[७७८]

लालपाठक कवि

स०, रुकुमनगरवाले, १८३१ वि०, शालिहोत्र ।

[७७९]

लोनेकवि

स०, बन्दीजन, बुन्देलखंडी, १८७६ वि० ।

[७८०]

लोने सिंह

स०, बाछिल मितौली, जिला खीरीवाले, १८६२ वि०, भागवत दशमस्कन्धभाषा ।

[७८१]

लीलाधर कवि

स०, १६१५ वि०; ग्रि०, १६२० ई० में उपस्थित ।

[७८२]

लक्ष्मणदास कवि

[७८३]

लक्ष्मण सिंह

स० १८१० वि० ।

[७८४]

लच्छू कवि

स०, १८२८ वि० ।

[७८५]

लछिराम कवि

स०, होलपुर के बन्दीजन; ग्रि०, होलपुर जिला बाराबँकी के भाट और कवि, १८८३ ई० में जीवित, शिवसिंह 'सरोज के रचयिता' के नाम पर नायिकाभेद का एक ग्रंथ रचा ।

[७८६]

लछिराम कवि २

[७८७]

लक्ष्मणशरणदास

कि०, "इस कवि का अस्तित्व ही नहीं है, सरोज में उद्धृत पद में 'दास सरन लछिमन सुत भूप' का अर्थ है—यह दास लछिमन सुत अर्थात्, वल्लभाचार्य की शरण में है ।"

[७८८]

लोधे कवि

स०, १७७० वि०; कि०, सरोज में इस कवि को सं० १७७० में उ० कहा गया है, हजारा में इनकी कविता होने का भी उल्लेख है ।

[७८९]

लोकनाथ कवि

स०, १७८० वि०; ग्रि०, रागकल्पद्रुम में भी; कि०, "सरोज में लोकनाथजी को 'सं० १७८० में उ०' कहा गया है," इसी के लगभग मृत्यु ।

[७९०]

लतीफ कवि

स०, १८३४ वि०; ग्रि०, जन्म १७७७ ई०, शृंगारी कवि ।

[७९१]

लेखराज कवि

स०, नन्दकिशोरमिश्र, गंधोली, जिला सीतापुर, रसरत्नाकर, लघुभूषण अलंकार, गङ्गाभूषण ।

[७९२]

लोकनाथ कवि २

स०, बनारसीनाथ भोग ।

[७९३]

ललितराम कवि

[७९४]

लक्ष्मीनारायण

स०, मैथिल, १५८० वि०; ग्रि०, १६०० ई० में उपस्थित ।

[७९५]

लक्ष्मण कवि

स०, शालिहोत्र; ग्रि०, लछुमनकवि, शालिहोत्र नामक ग्रंथ लिखा; कि०, रचना-काल १९००-०७ वि० है ।

[७९६]

लाजब कवि

[७९७]

लोकमणि कवि

ग्रि०, शिवसिंह का कहना है कि सूदन ने इनका उल्लेख किया है; कि०, समय संभवत: सं० १८१० वि० के पूर्व या आसपास ।

[७९८]

लक्ष्मी कवि

ग्रि०, शिवसिंह के अनुसार इनका नामोल्लेख सूदन ने किया है; कि०, 'अत: लक्ष्मी कवि सं० १८१० वि० के आसपास या उसके कुछ पूर्व उपस्थित थे' ।

[७९९]

लालबिहारी कवि

स०, १७३० वि०; ग्रि०, जन्म १६७३ ई० ।

[८००]

वाहिद कवि

ग्रि०, श्रृंगारी कवि ।

[८०१]

वजहन

ग्रि०, शांत-रस के वेदांत-संबंधी दोहों के रचयिता ।

[८०२]

वहाब

स०, बारामासा ।

[८०३]

सुखदेवमिश्र

स०, कंपिलावासी, १७२८ वि०, वृत्तविचार, छंदविचार, फाजिलअलीप्रकाश, अध्यात्म-प्रकाश और दशरथराय; ग्रि०, कविराज, कंपिला के, १७०० ई० के आसपास उपस्थित; काव्य-निर्णय, सत्कविगिराविलास, सुन्दरीतिलक ।

[८०४]

सुखदेवमिश्र कवि २

स०, दौलतपुर, जिला रायबरेलीवाले, १८०३ वि०, रसार्णव; ग्रि०, दौलतपुर जिला राय-बरेली के, १७४० वि० में उपस्थित; कि०, ग्रियर्सन के १६०, ३३५ और ३५६ संख्यक तीनों सुखदेव एक ही ।

[८०५]

सुखदेव कवि ३

स०, अन्तरबेदवाले, १७६१ वि०; ग्रि०, दोआब के, १७५० ई० में उपस्थित, ये ही संभवतः दौलतपुर के सुखदेव मिसर अथवा इसी नाम के कम्पिला के दूसरे कवि भी है । कि०, ग्रि०. के १६०, ३३५, ३५६ संख्यक सुखदेव एक ही हैं ।

[८०६]

शम्भु कवि

स०, राजा शम्भुनाथसिंह सुलंकी, सितारागढ़वाले १, १७३८ वि०, नायिकाभेद; ग्रि०, सितारा के राजा शंभुनाथसिंह सुलंकी, उर्फ शंभुकवि, उर्फ नाथकवि, उर्फ नृपशंभु, १६५० ई० के आसपास उपस्थित, सुंदरीतिलक, सत्कविगिराविलास, कवियों के आश्रयदाता ही नहीं, स्वयं एक प्रसिद्ध ग्रंथ के रचयिता, यह श्रृंगार-रस में है और इसका नाम 'काव्य निराली' (?), कि०, शंभुनाथ सोलंकी क्षत्रिय नहीं, मराठे, सरोज में इस कवि के सम्बन्ध में लिखा है— "श्रृंगार की इनकी काव्य निरालो है । नायिकाभेद का इनका ग्रंथ सर्वोपरि है ।' इसी का भ्रष्ट अँगरेजी अनुवाद ग्रियर्सन ने किया है और इनके काव्य-ग्रंथ का नाम 'काव्य निराली, ढूंढ़ निकाला है । इनका नखशिख रत्नाकर जी द्वारा सम्पादित होकर भारतजीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हो चुका है ।"

[८०७]

शम्भुनाथमिश्र कवि २

स०, १८०३ वि०, रसकल्लोल, रसतरंगिणी, अलंकारदीपक; ग्रि०, असोथर, जिला फतहपुर के, १७५० ई० के आसपास उपस्थित; सत्कविगिराविलास, यह असोथर, फतहपुर के भगवन्तराय खींची (मृत्यु १७६० ई०) के दरबार में थे। रसकल्लोल, रसतरंगिणी और अलंकारदीपक के रचयिता।

[८०८]

शम्भुनाथ कवि ३

स०, बन्दीजन, १७९८ वि०, रामविलास; ग्रि०, कवि और बंदीजन, १७५० ई० में उपस्थित।

[८०९]

शम्भुनाथ कवि ४

स०, त्रिपाठी, डोंड़ियावाले, १८०९ वि०, बैतालपचीसी, मुहूर्त्तचिन्तामणि-भाषा; ग्रि०, १७५२ ई० में उपस्थित; रागकल्पद्रुम, यह संभवतः रामविलास के रचयिता शंभुनाथ ही हैं; कि०, १७५२ ई० (सं० १८०९ वि०) बैतालपचीसी ही का रचनाकाल है।

[८१०]

शम्भुनाथमिश्र कवि ५

स०, बैसवारेवाले, १९०१ वि०; ग्रि०, संभुनाथ मिसर कवि—बैसवाड़ा के, जन्म १८४४ ई०, शिवपुराण के चतुर्थ खंड का भाषानुवाद; कि०, १८४४ ई० (सं० १९०१ वि०) में शिवपुराण चतुर्थ खंड का अनुवाद, इसी कारण यही इनका जन्मकाल भी नहीं हो सकता, यह उपस्थिति-काल है।

[८११]

शम्भुप्रसाद कवि

ग्रि०, श्रृंगारी कवि।

[८१२]

शिवकवि

स०, अरसेला, बंदीजन, देउतहा, जिला गोंडा के निवासी, १७९६ वि०, रसिकविलास, अलंकारभूषण, पिंगल; ग्रि० सिव अरसेला कवि—देउतहाँ जिला गोंडा के भाट और कवि, १७७० ई० के आसपास उपस्थित, रसिकविलास नामक साहित्य-ग्रंथ के रचयिता, अलंकारभूषण और एक पिङ्गल भी लिखा; कि०, इनके पिंगल का नाम 'पिंगल छन्दोबोध' है।

[८१३]

शिवकवि २

स०, बन्दीजन, बिलग्रामी, १७९५ वि०, रसनिधि; ग्रि०, सिवकवि, बिलग्राम, जिला हरदोई के कवि और भाट, ज० १७३९ ई०, सुंदरीतिलक, रसनिधि।

[८१४]

शिवप्रसाद सितारेहिन्द

स०, बनारसी; ग्रि०, राजा शिवप्रसाद, सी० एस्० आई०, बनारसवाले, जन्म १८२३ ई०, १८८७ ई० में जीवित; वर्णमाला, बालबोध, विद्यांकुर, वामामनरंजन, हिंदी-व्याकरण, भूगोलहस्तामलक भाग १ एशिया, छोटा भूगोलहस्तामलक, इतिहासतिमिरनाशक (तीनों भागों में), गुटका, मानवधर्मसार १, मानवधर्मसार २, सैंडफर्ड और मर्टन की कहानी, सिक्खों का उदय·

अस्त, स्वयंबोध उर्दू, अँगरजी अक्षरों के सीखने का उपाय, बच्चों का इनाम, राजा भोज का सपना, वीरसिंह का वृत्तान्त; उर्दू—सर्फ-व-नह्व-ए उर्दू, जाम-ए-जहाननुमा, मज़ामीन, कुछ बयान अपनी ज़ुबान का, दिलबहलाव (तीन भागों में), किस्सए सैंडफर्ड-व-मर्टन, दुन्नलन, गुलाब और चमेली का किस्सा, सच्ची बहादुरी, मिफ्राबुल काहिलीन, शहादते कुरानी बर कुतुबे ख्वानी, तारीखें कलीं-सा, फ़ारसी सर्फ़-व-नह्व, छोटा जाम-ए-जहाननुमा।

[८१५]

शिवनाथ कवि

स०, बुंदेलखण्डी, १७६० वि० रसरञ्जन; ग्रि०, १६६० ई० में उपस्थित, परना (पन्ना) के राजा छत्रसाल (संख्या १६७) के पुत्र राजा जगतसिंह बुन्देला के दरबार में थे, रसरंजन नाम का एक काव्यग्रंथ लिखा था, टाड के अनुसार छत्रसाल बुन्देला के जगत नाम का कोई पुत्र नहीं था।

[८१६]

शिवराम कवि

ग्रि०, सिवरामकवि, जन्म १७३१ ई०; सूदन शृंगारी कवि; कि०, १७३१ ई० (सं० १७८८ वि०) कवि का प्रारंभिक रचनाकाल।

[८१७]

शिवदास कवि

स०, १७८८ वि०; ग्रि०, सिवदास कवि गार्सां द तासी ने (भाग १, पृ० ४७४) इस नाम के एक कवि का उल्लेख किया है, जो जयपुर का निवासी था, जिसका एक ग्रंथ शिव चौपाई है। वार्ड ने अपने 'हिस्ट्री ऑफ् द हिंदूज' (भाग २, पृ० ४८१) में इससे एक उद्धरण दिया है। ये एक और भी ग्रथ के रचयिता, जिसका नाम गार्सां द ता तासी ने 'पोथी लोक उक्ति रस जुक्ति' दिया है; कि०, 'लोक उक्ति रस जुक्ति' का दूसरा नाम 'लोकोक्ति रस-कौमुदी' है, यह लोकोक्तियों में नायिका-भेद है; रचना सं० १८०६ वि० में।

[८१८]

शिवदत्त कवि

ग्रि०, ब्राह्मण, बनारसी, जन्म १८५४ ई०, सभवतः वे ही, जिनका उल्लेख 'शिवसिंह' ने विना विवरण दिए 'शिवदत्त कवि' नाम से किया है; कि०, इन्होंने सं० १६२६ वि० में उत्पलारण्य-माहात्म्य और १६२३ वि० में ज्ञानप्राप्ति-बारहमासी की रचना की।

[८१९]

शिवलाल दूबे

स०, डौंड़ियाखेरेवाले, १८३६ वि०; ग्रि०, सिवलाल दूबे डौंड़ियाखेरा, जिला उन्नाव के, जन्म १७८२ ई०, अनेक ग्रंथों के रचयिता, जिनमें नखशिख और षट्ऋतु (रागकल्पद्रुम) उल्लेख्य।

[८२०]

शिवराज कवि

ग्रि०, सिवराज जयपुर के।

[८२१]

शिवदीन कवि

[८२२]

शिवसिंह

स०, प्राचीन १७८८ वि०; ग्रि०, सिवसिङ्घ, जन्म १७३१ ई०; कि०, शिवसिंह का रचनाकाल सं० १८५०–७५ है, १७३१ ई० (सं० १७८८) के बाद, सभवत: १८२५ के आसपास इनका जन्म हुआ होगा

[८२३]

शिवसिंह सेंगर

स०, कांथा, जिला उन्नाव के निवासी, १८७८ वि०; ग्रि०, जन्म १८२१ ई०, 'शिवसिंह-सरोज' के रचयिता, बृहच्छिवपुराण का भाषा और उर्दू दोनों में तथा ब्रह्मोत्तर खंड का केवल भाषा में अनुवाद किया था; कि०, "सरोज में इन्होंने अपने को 'स० १८७८ में उ०' लिखा है। यह १८७८ ई० सन् है। इसी वर्ष इनका देहान्त भी हो गया था। यह ४५ वर्ष पूर्व १८३३ ई० में पैदा हुए थे। बृहच्छिवपुराण का भाषानुवाद इन्होंने नहीं किया था। अनुवाद करनेवाले महानंद वाजपेयी थे, शिवसिंह को सम्पादक कहा जा सकता है।'

[८२४]

शिवनाथ शुक्ल

स०, मकरन्दपुरवाले देवकीनन्दन कवि के भाई, १८७० वि०; ग्रि०, सिवनाथ सुकल उपनाम संभोगनाथ, मकरंदपुर जिला कान्हपुर के, जन्म १८१३ ई०; कि०, "शिवनाथ का उपनाम 'नाथ' था, न कि 'संभोगनाथ'। १८१३ ई०, (सं० १८७० वि०) न तो इनका जन्मकाल है और न इस संवत् तक इनके जीवित रहने की ही संभावना है। इनका रचनाकाल सं० १८४० वि० के पूर्व होना चाहिए, अतः ग्रियर्सन का समय भ्रांत है।"

[८२५]

शिवप्रकाशसिंह

स०, बाबू डुमराँव के, १९०१ वि०, रामतत्त्वबोधिनी; ग्रि०, सिवपरकाससिंह, डुमराँव, जिला शाहाबाद के बाबू, जन्म १८४४ ई०, तुलसीकृत विनयपत्रिका की 'रामतत्त्वबोधिनी' नामक टीका के रचयिता।

[८२६]

शिवदीन कवि

स०, भिनगा, जिला बहरायचवाले, १९१५ वि०, कृष्णदत्तभूषण; ग्रि०, सिवदीन कवि—भिनगा जिला बहराइच के, जन्म १८५८ ई०, ये भिनगा के राजा कृष्णदत्तसिंह के दरबारी कवि थे और उनके नाम पर एक ग्रंथ 'कृष्णदत्तभूषण' नामक लिखा था; कि०, १८५८ ई० (सं० १९१५ वि०) शिवदीन का उपस्थिति-काल, जन्मकाल नहीं, ये बिलग्रामी थे, इनके लिखे 'कृष्णदत्तरासा' में, सं० १९०१ के एक युद्ध का वर्णन है।

[८२७]

शिवप्रसन्न कवि

स० ब्राह्मण, शाकद्वीपी, रामनगर, जिला बाराबाँकीवाले; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित।

[८२८]

शंकर कवि

[८२९]

शंकर कवि २

[८३०]

शंकर कवि ३

स०, त्रिपाठी, बिसवाँवाले, १८६१ वि०; ग्रि०, संकरकवि त्रिपाठी, बिसवाँ, जिला सीतापुर के, जन्म १८३४ ई०, अपने पुत्र कवि सालिक के साथ मिलकर इन्होंने कवित्त छंद में एक रामायण लिखी थी। ये संभवतः वेही शृंगारी शंकर हैं, जिनका उल्लेख शिवसिंह ने बिना तिथि दिये हुए किया है; कि०, इस संभावना का कोई प्रमाण नही है।

[८३१]

शंकरसिंह कवि ४

स० चंडरा जिला सीतापुर के तालुकेदार।

[८३२]

श्रीगोविन्द कवि

स०, १७३०; ग्रि०, जन्म (? उपस्थिति देखिए सं० १४५) १६७३ ई०, ये सितारा के शिवराज सुलंकी के दरबार में थे; कि०, १६७३ ई० उपस्थिति-काल है, जन्मकाल नही।

[८३३]

श्रीभट्ट कवि

स०, १६०१ वि०; ग्रि०, जन्म १५४४ ई०; रागकल्पद्रुम, संभवतः नीमादित्य के शिष्य केशवभट्ट ही हैं; कि०, श्रीभट्ट और केशवभट्ट एक ही व्यक्ति नहीं है, श्रीभट्ट केशवभट्ट के शिष्य हैं, १५४४ ई० जन्मकाल नहीं है, उपस्थिति-काल है।

[८३४]

श्रीपति कवि

स०, पयागपुर, जिला बहरायच-निवासी, १७०० वि०, काव्यकल्पद्रुम, काव्यसरोज, श्रीपति-सरोज; ग्रि०, जन्म १६४३ ई०, काव्यकल्पतरु, काव्यसरोज, श्रीपतिसरोज; कि०, "श्रीपति कालपी के रहनेवाले थे, श्रीपतिसरोज और काव्यसरोज एक ही ग्रंथ के दो विभिन्न नाम है। इस ग्रंथ का रचनाकाल सं० १७७७ वि० है, अतः ग्रियर्सन का दिया समय भ्रष्ट है। सरोज में इनके ग्रंथ का नाम 'काव्यकल्पद्रुम' दिया गया है, न कि काव्यकल्पतरु।"

[८३५]

श्रीधर कवि

स०, प्राचीन, १७६६ वि०; ग्रि०, (?) १६८३ ई० में उपस्थित; सुंदरीतिलक; कवि-विनोद नामक पिंगल ग्रंथ के, मुरलीधर के साथ मिलकर, लिखनेवाले; कि०, श्रीधर और मुरलीधर एक ही, १६८३ ई० उपस्थिति-काल।

[८३६]

श्रीधर कवि २

स०, राजा सुब्बासिंह चौहान, ओयल, जिला खीरोवाले, १८७४ वि०, विद्वन्मोदतरंगिणी।

[८३७]

श्रीधरमुरलीधर कवि ३

स०, कविविनोद।

[८३८]

श्रीधर कवि ४

स०, राजपुतानेवाले, १६८० वि०, भवानी छन्द; ग्रि०, जन्म १६२३ ई०; कि०, सं० १४५७ में 'रणमल्ल छन्द' की रचना की, सरोज और ग्रियर्सन दोनों के संवत् अशुद्ध, कवि दो सौ वर्ष और पुराना ।

[८३९]

सन्तन कवि

स०, बिंदुकी, जिला फतेपुर के ब्राह्मण, १८३४ वि०; ग्रि०, बिन्दकी, जिला फतहपुर के ब्राह्मण, जन्म १७७७ ई०, शृंगार-संग्रह; कि०, १७७७ ई० अशुद्ध, रचनाकाल सं० १७६० वि० के आसपास ।

[८४०]

सन्तन कवि २

स०, ब्राह्मण, जाजमऊ, जिला कानपुर के, १८३४ वि०; ग्रि०, जाजमऊ, जिला उन्नाव के ब्राह्मण, जन्म १७७७ ई०; कि०, १७७७ ई० अशुद्ध, इनका रचनाकाल भी सं० १७६० वि०, दोनों सन्तन समकालीन ।

[८४१]

सन्तबकस

स०, बंदीजन, होलपुरवाले; ग्रि०, होलपुर, जिला बाराबंकी के भाट, १८८३ ई० में जीवित।

[८४२]

सन्तकवि

[८४३]

सन्तदास कवि

स०, निवरी, बिमलानन्दवाले, १६८० वि०; ग्रि०, व्रजवासी, १६२३ ई० में उपस्थित; रागकल्पद्रुम, "इनके नाम पर दी हुई सारी कविताएँ सूरदास की कविताओं से शब्दशः मेल खाती हैं ।"

[८४४]

सन्तकवि २

स०, प्राचीन, १७५९ वि०; ग्रि०, जन्म १७०२ ई०, शृंगारी कवि; कि०, "संत ने रहीम की प्रशंसा की है, अतः यह सं० १६८३ वि० के आस-पास उपस्थित थे और १७०२ ई० अधिक-से-अधिक इनके जीवन का अंतिम समय हो सकता है ।"

[८४५]

सुन्दर कवि

स०, ब्राह्मण, ग्वालियर-निवासी, १६८८ वि०; ग्रि०, ग्वालियर के ब्राह्मण १६३१ ई० में उपस्थित, काव्यनिर्णय, सुंदरीतिलक, बादशाह शाहजहाँ के दरबार में थे । प्रमुख ग्रंथ सुन्दर-शृंगार सिंहासनबत्तीसी (रागकल्पद्रुम) का व्रजभाषा अनुवाद भी, ज्ञानसमुद्र नामक एक दार्शनिक ग्रंथ भी, गार्सां द तासी (भाग १, पृष्ठ ४८२) के अनुसार 'सुन्दरविद्या' नामक एक और ग्रंथ के भी रचयिता हो सकते हैं; कि०, "सिंहासनबत्तीसी का वह व्रजभाषानुवाद, जिसका

संहारा लल्लूजी लाल ने लिया है, संभवतः इन्हीं सुन्दरदास का किया हुआ है। 'ज्ञानसमुद्र' दादू के शिष्य संत सुदरदास की रचना है। तासी द्वारा उल्लिखित 'सुंदरविद्या' के सम्बन्ध में कुछ कहना संभव नहीं।"

[८४६]

सुन्दर कवि २

स०, दादूजी के शिष्य, मेवाड़ देश के निवासी; ग्रि०, १६२० ई० के आसपास उपस्थित, ये दादू के शिष्य थे और 'सुन्दर सांख्य' नामक शांतरस का ग्रंथ लिखा; कि०, "इनका सम्बन्ध जयपुर से है, न कि मेवाड़ से, जयपुर-राज्य के अन्तर्गत धौसा नगरी में इनका जन्म सं० १६५३ वि० और मृत्यु सं० १७४६ वि० में, 'सुंदर सांख्य' नाम का इनका कोई ग्रंथ नहीं।"

[८४७]

सखीसुख

स०, ब्राह्मण, नखरिवाले कविंद के पिता, १८०७ वि०।

[८४८]

सुखराम कवि

स०, १९०१ वि०; ग्रि०, चौहत्तरी जिला उन्नाव के ब्राह्मण, १८८३ ई० में जीवित, संभवत वे ही 'सुखराम कवि', जिन्हें शिवसिंह ने श्रृंगारी कवि कहा है और जिन्हें १८४४ ई० में उत्पन्न (? उपस्थित) माना है; कि०, चौहत्तरी नहीं, चहोत्तर।

[८४९]

सुखदीन कवि

ग्रि०, जन्म १८४४ ई०, श्रृंगारी कवि।

[८५०]

सुखन कवि

स०, १९०१ वि०; ग्रि०, जन्म १८४४ ई०, श्रृंगारी कवि।

[८५१]

सेख कवि

स०, १६८० वि०; ग्रि०,जन्म १६२३ ई०, हजारा, सूदन।

[८५२]

सेवक कवि

स०, १८९७ वि०; ग्रि०, १८४० ई० में उपस्थित।

[८५३]

सेवक कवि

स०, बन्दीजन, बनारसी; ग्रि०, १८८३ ई० म जीवित। कि०, "सेवक १८८३ ई० (सं० १९४० वि०) में जीवित नहीं थे, इनकी मृत्यु दो साल पहले सं० १९३८ में ही हो गई थी, दोनों सेवक एक ही हैं।"

[८५४]

शीतल त्रिपाठी

स०, टिकमापुरवाले, लालकवि के पिता, १८९१ वि०; ग्रि०, १८४० ई० में उपस्थित।

[८५५]

शीतलराय

स०, बन्दीजन, बौड़ी, जिला बहरायच, १८९४ वि०; ग्रि०, जन्म १८३७ ई०, यह एकौना जिला बहराइच के राजा गुमानसिंह जनवार के दरबार में थे ।

[८५६]

सुलतान पठान

स०, नब्बाब सुलतान मोहम्मद खाँ, राजगढ़ भूपालवाले, १७६१ वि०, सतसई की टीका; ग्रि०, जन्म १७०४ ई०, कवियों के आश्रयदाता, कविचंद ने इनके नाम पर बिहारी की सतसई पर कुंडलिया छंदों में एक टीका लिखी; कि०, १७०४ ई० उपस्थिति-काल है ।

[८५७]

सुलतान कवि

ग्रि०, श्रृंगारी कवि ।

[८५८]

सहजराम

स०, बनियाँ, पैंतेपुर, जिला सीतापुर, १८६१ वि०, रामायण सातों काण्ड, हनुमन्नाटक, रघुवंश-भाषा; ग्रि०, पैंतेपुर जिला सीतापुर के बनिया, जन्म १८०४ ई०, इन्होंने एक रामायण लिखी है, जो रघुवंश और हनुमन्नाटक का अनुवाद है; कि०, सहजराम की रामायण का नाम रघुवंशदीपक है, रचनाकाल सं० १७८९ वि० है, अतः १८०४ ई० (सं० १८६१ वि०) इनका जन्मकाल नहीं ।

[८५९]

सहजराम २

स०, सनाका, बँधुवावाले, १९०५ वि०, प्रहलाद-चरित्र; ग्रि०, सहजराम सनाढ्य-बँधुआ के, जन्म १८४८ ई०, प्रहलाद-चरित्र के रचयिता; कि०, सहजराम बनिया से अभिन्न ।

[८६०]

श्यामदास कवि

स०, १७५५ वि०; ग्रि०, जन्म १६९८ ई० ।

[८६१]

श्याममनोहर कवि

कि०, "इस कवि का भी अस्तित्व नहीं, सरोज में उद्धृत पद में 'श्याममनोहर' शब्द कृष्ण का सूचक है ।"

[८६२]

श्यामशरण कवि

स०, १७५३ वि०, भाषा-स्वरोदय; ग्रि०, जन्म १६९६ ई०, स्वरोदय (रागकल्पद्रुम) नामक ग्रंथ के रचयिता; कि०, "श्यामशरणजी चरणदास (सं० १७६०–१८३८ वि०) के शिष्य थे, इनका रचनाकाल सं० १८०० वि० के आसपास होना चाहिए, ग्रियर्सन में दिया गया संवत् अशुद्ध है, इनका जन्म सं० १७६० वि० के पश्चात् होना जाहिए ।"

[८६३]

श्यामलाल कवि

स०, १७७५ वि०; ग्रि०, जन्म १६४८ ई०; सूदन, संभवतः हजारा के 'श्यामकवि' भी ये ही हैं; कि०, "सरोज में इन्हें 'सं० १७७५ में उ०' कहा गया है, न कि सं० १७०५ वि० में, सं० १७०५ वि० में श्यामकवि को 'उ०' कहा गया है। दोनों की अभिन्नता के कोई प्रमाण सुलभ नहीं।"

[८६४]

सबल श्यामकवि

कि०, इनका जन्म सं० १६८८ वि० म।

[८६५]

श्यामकवि

स०, १७०५ वि०; ग्रि०, जहानाबाद के, १७५० ई० के आसपास उपस्थित।

[८६६]

शोभकवि

ग्रि०, शृंगारी कवि; कि०, "इस कवि का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता।"

[८६७]

शोभनाथ कवि

ग्रि०, ये प्रसिद्ध सोमनाथ चतुर्वेदी ही हैं, रचनाकाल सं० १७६४–१८१२ वि०, इन्हीं का उल्लेख पीछे ससिनाथ नाम से भी।

[८६८]

शिरोमणि कवि

स०, १७०३ वि०; ग्रि०, जन्म १६४६ ई०, कि०, "शिरोमणि ने सं० १६८० वि० में 'उर्वशी' नामक कोश-ग्रंथ बनाया था, अतः १६४६ ई० से बहुत पहले इनका जन्म हुआ रहा होगा। यह उनका उपस्थिति-काल है। ये शाहजहाँ (शासनकाल सं० १६८५–१७१५ वि०) के आश्रित थे।"

[८६९]

सिंहकवि

स०, १८३५ वि०; ग्रि०, जन्म १७७८ ई०, 'सिंह' नामान्त संभवतः कोई अन्य कवि हैं; कि०, कवि का पूरा नाम महासिंह है। इन्होंने सं० १८५३ वि० में छन्दशृंगार नामक पिंगलग्रन्थ लिखा था। अतः १७७८ ई० (सं० १८३५ वि०) इनका उपस्थिति-काल है, न कि जन्मकाल।"

[८७०]

संगम कवि

स०, १८४० वि०; ग्रि०, जन्म १७८३ ई०; कि०, संगम का रचनाकाल सं० १९००वि० के आसपास।

[८७१]

सम्मन कवि

स०, ब्राह्मण, मलावाँ, जिला हरदोई, १८३४ वि०; ग्रि०, जन्म १७७७ ई०, नीति-सम्बन्धी प्रसिद्ध दोहों के रचयिता; कि०, "सम्मन का रचनाकाल सं० १७२० वि० है, अतः १७७७ ई० (सं० १८३४ वि०) इनका जन्मकाल नहीं हो सकता और अशुद्ध है।"

[८७२]

सवितादत्त बाबू

स०, १८०३ वि० ।

[८७३]

साधर कवि

सं०, १८५५ वि०; ग्रि०, जन्म १७९८ ई० ।

[८७४]

संपति कवि

ग्रि०, जन्म १८१३ ई० ।

[८७५]

सिरताज कवि

स०, बरसानेवाले. १८२५ वि०; ग्रि०, बरधाना के, जन्म १७६८ ई०; कि०, बरसाना के, न कि बरधाना के ।

[८७६]

सुमेर कवि

[८७७]

सुमेरसिंह साहबजादे

ग्रि०, सुंदरीतिलक म भी; कि०, "सूदन ने 'सुमेर' कवि का उल्लेख किया है, न कि सुमेर सिंह साहेबजादे का (सुमेरसिंह साहेबजादे भारतेन्दुयुगीन कवि हैं। इनकी रचना सुंदरीतिलक में है। ये निजामावाद, जिला आजमगढ़ के रहनेवाले थे और हरिऔधजी को काव्य और साहित्य की प्रेरणा देनेवाले थे।"

[८७८]

सागर कवि

स०, ब्राह्मण, १८४३ वि०, बामामनरंजन; ग्रि०, जन्म १७८६ ई० 'बामामनरंजन' नामक श्रृंगारी ग्रंथ के रचयिता, कि०, "नवाब आसफुद्दौला का शासनकाल सं० १८३२–५४ वि० है। इन्हीं के मंत्री ठिकैतराय थे। यही समय सागर का भी हुआ। अतः १७८६ ई० (सं० १८४३ वि०) इनका जन्मकाल नहीं है, उपस्थिति-काल है।"

[८७९]

सुखलाल कवि

स०, १८५५ वि०; ग्रि०, १७४० ई० में उपस्थित, जुगलकिशोरभट्ट के दरबार में।

[८८०]

सुजान कवि

ग्रि०, शृंगारी कवि; कि० घनानंद-प्रिया सुजानराय, सं० १८०० के आसपास उपस्थित ।

[८८१]

सबलसिंह कवि

स०, १७२७ वि०; ग्रि०, जन्म १६७० ई०, महाभारत के २४००० श्लोकों का संक्षिप्त पद्यबद्ध अनुवाद, षट्ऋतु और भाषा-ऋतुसंहार के रचयिता सबलसिंह कवि भी संभवतः ये ही;

कि०, "सबलसिंह का रचनाकाल सं० १७१२ वि० से १७८१ वि० तक है, षट्ऋतु और भाषा-ऋतुसंहार दोनों एक ही ग्रंथ है, ग्रियर्सन का दोनों सबल सिंहों के अभिन्न होने का अनुमान ठीक है।"

[८८२]

शेखर कवि

ग्रि०, शृंगारी कवि; कि०, इनका पूरा नाम चंद्रशेखर वाजपेयी, ज० १८५५ वि०, मृ० १९३२ वि०।

[८८३]

शशिशेखर कवि

स०, १७०५ वि०; ग्रि०, ज० १६४२ ई०।

[८८४]

सोमनाथ कवि

स०, १८८० वि०; ग्रि०, भोग, साँड़ी, जिला हरदोई के, ज० (? उपस्थिति) १७४६ ई०; सूदन; शिवसिंह द्वारा ब्राह्मणनाथ (सं० ४४३) के प्रसंग में उल्लिखित; कि०, इनका विवरण निम्नांकित शब्दों में सरोज में दिया गया है, "सोमनाथ ब्राह्मण, नाथ उपनाम, साँड़ीवाले। सं० १८०३ में उ०। इस एक कवि सोमनाथ से ही ग्रियर्सन ने एक और कवि ब्राह्मणनाथ की कल्पना कर ली है। ब्राह्मण के बाद अर्द्ध-विराम है। सोमनाथ जाति के ब्राह्मण हैं और इनका उपनाम नाथ है। ब्राह्मणनाथ (ग्रियर्सन ४४३) नाम का कोई कवि नहीं हुआ। यह साँड़ी के रहनेवाले थे। साँड़ी के पहले भोग न जाने कहाँ से लग गया। संभवतः 'उपनाम' का अर्थ किसी पंडित ने 'भोग' बता दिया होगा अथवा सरोज के दूसरे संस्करण में उपनाम के स्थान पर 'भोग' ही छपा रहा होगा और इसे ग्रियर्सन ने साँड़ी के साथ जोड़ लिया। विनोद के अनुसार (८३६) सं० १८०९ वि० इनका रचनाकाल है, अतः सं० १८०३ वि० इनका उपस्थिति-काल है, न कि जन्मकाल।"

[८८५]

शशिनाथ कवि

ग्रि०, ससिनाथ कवि—शृंगारी कवि; कि०, प्रसिद्ध सोमनाथ चतुर्वेदी, रचनाकाल सं० १७९४–१८१२ वि०।

[८८६]

सहीराम कवि

स०, १७०८ वि०; ग्रि०, जन्म १६५१ ई०।

[८८७]

सदानन्द कवि

स०, १६८० वि०; ग्रि०, जन्म १६२३ ई०।

[८८८]

सकल कवि

स०, १६९० वि०; ग्रि०, जन्म १६३३ ई०।

[८८९]

सामन्त कवि

स०, १७३८ वि०, ग्रि०, जन्म १६८१ ई०; औरंगजेब (१६५८–१७०७ वि०) के दरबार में थे; कि०, १६८१ ई० उपस्थिति-काल।

[८९०]

सेनकवि

स०, नापित बान्धवगढ़ के, १५६० वि०; ग्रि०, बाधववाले, १४०० ई० के आसपास उपस्थित।

[८९१]

सीताराम दास

स०, बनिया, बीरापुर, जिला बाराबाँकी, ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित।

[८९२]

सुकवि कवि

स०, १८५५ वि०; ग्रि०, जन्म १७९८ ई०, शृंगारी कवि।

[८९३]

सगुणदास कवि

कि०, वल्लभाचार्य के शिष्य, रचनाकाल सं० १६०० वि० के आसपास।

[८९४]

सुवंश शुक्ल

स०, बिगहपुर, जिला उन्नाववाले, १८३४ वि०, अमरकोश, रसतरंगिणी, रसमंजरी, विद्वन्मोदतरङ्गिणी; ग्रि०, बिगहपुर, जिला उन्नाव के, जन्म १७७७ ई०। कि०, "सुवंश शुक्ल का रचनाकाल सं० १८६१–८४ है, १७७७ ई० (स० १८३४ वि०) इनका जन्मकाल हो सकता है। रसतरंगिणी का रचनाकाल सं० १८६१ वि०, अमरकोश का सं० १८६२ वि० और रसमंजरी का सं० १८६५ वि० है। अमेठी सुलतानपुर जिले में है, न कि फर्रूखाबाद जिले में। साथ ही उमरावसिंह अमेठी के नहीं थे, यह बिसवाँ जिला सीतापुर के कायस्थ थे।"

[८९५]

सरदार कवि

स०, बन्दीजन, बनारसी, साहित्यसरसी, हनुमत्भूषण, तुलसीभूषण, मानसभूषण, कविप्रिया को तिलक, रसिकप्रिया को तिलक, सतसई को तिलक, शृंगारसंग्रह, सूरदास के तीन सौ अस्सी कूटों का संग्रह; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित; कि०, १८८३ ई० (सं० १९४० वि०) सरदार का मृत्युकाल।

[८९६]

सूरदास

स०, ब्राह्मण, व्रजवासी, बाबा रामदास के पुत्र, वल्लभाचार्य के शिष्य, १६४० वि०; ग्रि०, व्रजवासी भाट, १५५० ई० में उपस्थित, परम्परा के अनुसार संवत् १५४० वि० (१४८३ ई०) में उत्पन्न; कि०, "सूरदास न तो अकबरी दरबार के गवैये थे और न अकबरी दरबार के गायक रामदास इनके पिता ही थे।"

[८९७]

सूदन कवि

स०, १८१० वि०; ग्रि०, जन्म १७५३ ई०; कि०, "सूदन ने सुजानचरित की रचना सं० १८१० वि० के आसपास की थी, अतः यही इनका जन्मकाल नहीं है ।"

[८९८]

सेनापति कवि

स०, वृन्दावन-निवासी, १६८० वि०, काव्य-कल्पद्रुम; ग्रि०, जन्म १६२३ ई०; कि०, "१६२३ ई० (सं० १६८०) सेनापति का उपस्थिति-काल है, न कि उत्पत्ति-काल । इनके उपलब्ध ग्रंथ का नाम 'कवित्त रत्नाकर' है । संभवतः काव्यकल्पद्रुम भी इसी का एक अन्य नाम है । इसकी रचना सं० १७०६ में हुई थी ।"

[८९९]

सूरति मिश्र

स०, आगरेवाले, १७६६ वि०, सतसई की टीका, सरस-रस, नखशिख, रसिकप्रिया का तिलक अलंकारमाला; ग्रि०, १७२० ई० में उपस्थित; कि०, सूरति मिश्र का रचनाकाल सं० १७६६–१८०० वि० ।

[९००]

शारंगधर कवि

स०, बंदीजन, चन्द्रकवीश्वरवंशी, १३३० वि०, हम्मीररायसा, हम्मीरकाव्य; ग्रि०, रणथंभौर-निवासी, १३६३ ई० में उपस्थित, कि०, "बीसलदेव चंद के पूर्वज नहीं थे, बीसलदेव के दरबारी कवि चंद के पूर्वज थे, सारंगधर चंद के वंशज थे, इसका कोई प्रमाण सुलभ नहीं, सारंगधर के पिता का नाम दामोदर और पितामह का राघवदेव (रघुनाथ नहीं, जैसा कि ग्रियर्सन में कहा गया है) था, जो हम्मीर के दरबारी थे ।"

[९०१]

सदाशिव कवि

सं०, बंदीजन, १७३४ वि०, राजरत्नगढ़; ग्रि०, चारण और कवि १६६० ई० में उपस्थित ।

[९०२]

शिवकवि

स०, प्राचीन, १६३१ वि०; ग्रि०, जन्म १५७४ ई०; हजारा; सुन्दरीतिलक; कि०, "इनको सं० १७५० वि० के पूर्व उपस्थित माना जा सकता है । इससे अधिक इनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता ।"

[९०३]

सुखलाल कवि

स०, १८०३ वि०; ग्रि०, १७४० ई० में उपस्थित ।

[९०४]

सन्तजीव कवि

स०, १८०३ वि०; ग्रि०, १७४० ई० में उपस्थित ।

[९०५]

सुदर्शनसिंह

स०, राजकुमार, राजा चन्दापुर, १९३० वि०; ग्रि०, चंदापुर के राजा जन्म (? उपस्थिति) १८७३ ई०; कि०, "१८७३ ई० (स० १९३० वि०) निश्चय ही कवि का उपस्थिति-काल है; क्योंकि इसके ४ ही वर्ष बाद सरोज की रचना हुई।"

[९०६]

शंखकवि

ग्रि०, १९२५ ई० के पहले उपस्थित।

[९०७]

साहब कवि

ग्रि०, १६२५ ई० के पहले उपस्थित।

[९०८]

सुबुद्धि कवि

ग्रि०, १६२५ ई० के पहले उपस्थित।

[९०९]

सुन्दर कवि

स०, बन्दीजन, असनीवाले, रसप्रबोध, ग्रि०, असनी, जिला फतेहपुर के भाट और कवि, रसप्रबोध नामक ग्रन्थ के रचयिता।

[९१०]

सोमनाथ

स०, ब्राह्मणनाथ, भोग साँड़ीवाले, १८०३ वि०।

[९११]

सुखराम

स०, ब्राह्मण, चौहत्तरि, जिला उन्नाव के; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित; संभवतः वेही सुखराम कवि, जिन्हें शिवसिंह ने १८४४ ई० में उत्पन्न (? उपस्थित) माना है; कि०, चौहत्तरी नहीं चहोत्तर, सरोज के दोनों सुखराम एक हो सकते हैं।

[९१२]

समनेश कवि

स०, कायस्थ, रीवाँ, बघेलखण्डवासी, १८८१ वि०, काव्यभूषण; ग्रि०, बाँधो के कायस्थ, १८१० ई० में उपस्थित। ये रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह के पिता महाराज जयसिंह (सिंहासनारोहण-काल १८०९ ई०, सिंहासन-परित्याग-काल १८१३ ई०) के दरबारी कवि थे, काव्यभूषण नामक ग्रंथ के रचयिता; कि०, "बख्शी समनसिंह उपनाम समनेश ने स० १८४७ में रसिकविलास और सं० १८७९ में पिंगलकाव्यविभूषण की रचना की थी। महाराज जयसिंह ने सं० १८९२ (१८३५ ई०) वि० म सिंहासन-त्याग किया था, न कि १८७० वि० म।"

[९१३]

शत्रुजीतसिंह

स०, बुंदेला, दतिया के राजा, रसराज-टीका; ग्रि०, बुंदेलखंड के अंतर्गत दतिया के बुन्देला राजा, रसराज की टीका के रूप में एक अलंकार-ग्रन्थ के रचयिता; कि०, रसराज की टीका

[९१४]

शिवदत्त

स०, ब्राह्मण, काशीस्थ, १९११ वि०; ग्रि०, जन्म १८५४ ई०, शृंगार-संग्रह, संभवत: वह भी, जिनका उल्लेख शिवसिंह ने बिना विवरण दिये 'शिवदत्त कवि' नाम से किया है; कि०, "१८५४ ई० (सं० १९११ वि०) इनका जन्मकाल न होकर, उपस्थिति-काल है। इन्होंने सं० १९२६ ई० में उत्पलारण्य-माहात्म्य और १९२३ में ज्ञानप्राप्ति-बारहमासी की रचना की थी।"

[९१५]

श्रीकर कवि

ग्रि०, १६२५ ई० के पहले उपस्थित।

[९१६]

सनेही कवि

ग्रि०, कवि सूदन द्वारा उल्लिखित, अतः १७५३ ई० के पूर्व उपस्थित।

[९१७]

सूरज कवि

ग्रि०, कवि सूदन द्वारा उल्लिखित, अतः १७५३ ई० के पूर्व उपस्थित।

[९१८]

सुखानन्द कवि

स०, बन्दीजन, चचेड़ीवाले, १८०३ वि०; ग्रि०, चचेरी के कवि और भाट, जन्म १७४६ ई०।

[९१९]

सर्वसुख लाल

स०, १७९१ वि०; ग्रि०, जन्म १७३४ ई०; सूदन।

[९२०]

श्रीलाल

स०, गुजराती, भांड़ेर, राजपूतानेवाले, १८५० वि०, भाषा-चंद्रोदय; ग्रि०, जन्म १७९३ ई०, भाषा-चंद्रोदय और अन्य ग्रंथों के रचयिता।

[९२१]

शंभुनाथमिश्र

स०, गंजमुरादाबादवाले; ग्रि०, संभुनाथ मिसर, मुरादाबाद जिला उन्नाव के; कि०, "सरोज में इन्हें गंजमुरादाबादवाले कहा गया है। विनोद (११९७) के अनुसार इनका रचना-काल सं० १८६७ है।

[९२२]

समरसिंह

स०, क्षत्री, हड़हा, जिला बाराबँकी; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित, एक रामायण के रचयिता।

[६२३]

श्यामलाल कवि

स०, कोड़ा, जहानाबादवाले, १८०४ वि०; ग्रि०, १७५० ई० के आसपास उपस्थित; सूदन; (?) यह असोथर, फतहपुर के भगवतराय खीची (स० ३३३) (मृ० १७६० ई०) के दरबार में ।

[६२४]

श्रीहठ कवि

स०, १७६० वि०; ग्रि०, तुलसी की कविमाला में उद्धृत, अतः १६२५ ई० के पहले उपस्थित ।

[६२५]

सिद्धकवि

स०, १७८५ वि०; ग्रि०, तुलसी की कविमाला में उद्धृत, अतः १६२५ ई० के पहले उपस्थित ।

[६२६]

शारंग कवि

स०, असोथरवाले, १७६३ वि०; ग्रि०, असोथर, जिला फतहपुर के, १७५० ई० के आसपास उपस्थित, ये असोथर, फतहपुर के भगवंतराय खीची (मृ० १७६० ई०) के भतीजे भवानीसिंह खीची के दरबार में थे ।

[६२७]

हरिनाथ कवि

स०, महापात्र, बंदीजन, असनीवाले, १६४४ वि०, ग्रि०, १५८७ ई० में उपस्थित; कि०, १५८७ ई० हरिनाथ का जन्मकाल है ।

[६२८]

हरिदास कवि

स०, कायस्थ, परना के निवासी, १६०१ वि०, रसकौमुदी; ग्रि०, परना, बुंदेलखंड के कायस्थ, जन्म १८४४ ई०, भाषा-साहित्य के रसकौमुदी नामक ग्रंथ के रचयिता, इन्होंने इसी ढंग के और भी १२ ग्रंथ लिखे हैं; कि० "हरिदास (मूलनाम हरिप्रसाद) का जन्म सं० १८७६ वि० में एवं देहान्त २४ वर्ष की अल्प आयु में सं० १६०० वि० में हुआ । अतः १८४४ ई० (सं० १६०१ वि०) इनका न तो जन्मकाल है, न उपस्थिति-काल ही, रसकौमुदी की रचना सं० १८६७ वि० में हुई थी ।"

[६२९]

हरिदास कवि २

स०, बंदीजन, बाँदावाले, नोनेकवि के पिता, १८६१ वि०; राधाभूषण; ग्रि०, बुन्देलखंडी, जन्म १८३४ ई०, नोने कवि के पिता, राधाभूषण नामक शृंगारी काव्य लिखा; कि०, "हरिदास ने सं० १८११ में ज्ञान सतसई और सं० १८१३ वि० में भाषा भागवत एकादश स्कंध की रचना की । अतः १८३४ ई० (सं० १८६१ वि०) न तो इनका जन्मकाल है और न उपस्थिति-काल ही ।"

[६३०]

हरिदास स्वामी

स०, वृन्दावननिवासी, १६४० वि०; ग्रि०, १५६० ई० में उपस्थित ।

[९३१]

हरिदेव कवि

स०, बनिया, वृन्दावन-निवासी, छन्दपयोनिधि; ग्रि०, छंदपयोनिधि नामक पिंगल-ग्रंथ के रचयिता; कि०, इनका रचनाकाल सं० १८९२–१९१४ वि० है।

[९३२]

हरीराम कवि

ग्रि०, जन्म १६२३ ई०, नखशिख के रचयिता, संभवतः पिंगल (रागकल्पद्रुम) के भी रचयिता, ये वे ही हरीराम कवि, जिनका उल्लेख करते हुए शिवसिंह ने इन्हें १६५१ ई० में उत्पन्न (? उपस्थित) कहा है।

[९३३]

हरदयाल कवि

ग्रि०, शृंगारी कवि।

[९३४]

हिरदेश कवि

स०, बंदीजन, झाँसीवाले, १९०१ वि०, शृंगार-नवरस; ग्रि०, जन्म १८४४ ई०।

[९३५]

हरिहर कवि

स०, १७९४ वि०; ग्रि०, १७३७ ई०; सूदन।

[९३६]

हरिकेश कवि

स०, जहाँगीराबाद, सेहुडाँ, बुंदेलखंडवासी, १७६० वि०; ग्रि०, जहाँगीराबाद सेनुड़ा, बुन्देलखण्ड के, १६५० ई० में उपस्थित, सुंदरीतिलक; कि० "हरिकेश का सम्बन्ध महाराज छत्रसाल (शासनकाल सं० १७२२–८८ वि०) और उनके दो पुत्रों जगतराज (शासनकाल सं० १७८८–१८१५ वि०) और हृदयसाहि (शासनकाल सं० १७८८–९६ वि०) से था, इनका रचनाकाल सं० १७७६ वि० के इधर-उधर है।"

[९३७]

हरिवंशमिश्र

स०, बिलग्रामी, १७२९ वि०; ग्रि०, १६६२ ई० में उपस्थित, इनके हाथ की लिखी पद्मावत की एक पोथी के अनुसार ये अमेठी के राजा हनुमंतसिंह के दरबार में थे। ये सुप्रसिद्ध कवि हैं और अब्दुल जलील बिलग्रामी के भाषा-शिक्षक; कि०, "सरोज के लिखे अनुसार इनकी लिखी पद्मावत की पोथी से इनका अब्दुल जलील का भाषा-काव्यशिक्षक होना सिद्ध होता है, न कि इनका अमेठी-नरेश हनुमंतसिंह का दरबारी कवि होना, सरोज में इन्हें सं० १७२९ वि० में उ० कहा गया है।"

[९३८]

हितहरिवंश स्वामी

स०, गोसाईं, वृन्दावन-निवासी, व्यासस्वामी के पुत्र, १५५९ वि०, राधासुधानिधि, हित-चौरासीधाम; ग्रि०, १५६० ई० में उपस्थित; कि०, जन्म सं० १५५९ वि० वैशाख शुक्ल ११ को और देहावसान आश्विन शुक्ल पूर्णिमा सं० १६०९ वि०।

[९३९]

हरिकवि

स०, चमत्कारचन्द्रिका, भाषाभूषण-टीका, कविप्रियाभरण, तीनों काण्ड अमरकोश-भाषा; ग्रि०, भाषा-भूषण की चमत्कार-चन्द्रिका नामक टीका और कविप्रिया की 'कविप्रियाभरण' नामक छंदोबद्ध टीका के रचयिता। इन्होंने अमरकोश का भी भाषानुवाद किया है; कि०, "यह वस्तुतः बिहारनिवासी प्रसिद्ध टीकाकार हरिचरणदास हैं, इन्होंने कविप्रियाभरण की रचना सं० १८३५ वि० और चमत्कारचन्द्रिका की सं० १८३४ में की। सूदन ने इनका उल्लेख नहीं किया है। अमरकोश की टीका आजमगढ़ी हरजू ने सं० १७९२ वि० में की थी।"

[९४०]

हरिवल्लभ कवि

ग्रि०, शांतरस के कवि; कि०, हरिवल्लभजी ने स० १७०१ वि० माघ ११ को श्रीमद्भगवद्गीता की टीका प्रस्तुत की।

[९४१]

हरिलाल कवि

[९४२]

हठी कवि

स०, व्रजवासी, १८८७ वि०, राधाशतक; ग्रि०, जन्म १८३० ई०, राधाशतक की तिथि सं० १८४७ वि० (१७९० ई०) दी गई है।

[९४३]

हनुमान कवि

स०, बन्दीजन, बनारसी; कि०, ज० सं० १८९८ वि०, मृ० सं० १९३६ वि०।

[९४४]

हनुमन्त कवि

ग्रि०, राजा भानुप्रताप के दरबारी कवि; कि०, भानुप्रताप विजावर के राजा (शासनकाल १९०४–५६ वि०) थे, यही हनुमंत का भी समय।

[९४५]

होलराय कवि

स०, बन्दीजन, होलपुर, जिला बाराबंकी, १६४० वि०; ग्रि०, १५८३ ई० में उपस्थित।

[९४६]

हितनन्द कवि

ग्रि०, संभवतः वे ही, जिनका उल्लेख रागकल्पद्रुम की भूमिका में हितआनन्द नाम से है।

[९४७]

हरिभानु कवि

स०, नरिन्द भूषण; ग्रि०, नरिन्द्र भूखन नामक भाषा-साहित्य के एक ग्रंथ के रचयिता।

[९४८]

हुसैन कवि

स०, १७०८ वि०; ग्रि०, जन्म १६५१ ई०।

[९४९]

हेमगोपाल कवि

स०, १८८० वि०, ग्रि०, एक कूट छन्द के रचयिता ।

[९५०]

हेमनाथ कवि

स०, केहरी कल्यानसिंह के यहाँ; ग्रि०, केहरी के कल्यानसिंह के दरबारी कवि थे; कि०, "केहरी स्थान का सूचक नहीं है । हेमनाथ सं० १८७५ वि० पूर्व किसी समय वर्त्तमान थे ।"

[९५१]

हेमकवि

ग्रि०, श्रृंगार-संग्रह में भी, श्रृंगारी कवि ।

[९५२]

हरिश्चन्द्र बाबू

स०, बनारसी, गोपालचन्द्र शाह के पुत्र; ग्रि०, बाबू हरिश्चन्द्र बनारसी, जन्म ९ सितंबर, १८५० ई० ।

[९५३]

हरजीवन कवि

कि०, "१९३८ वि० के आसपास उपस्थित गुजराती कवि ।"

[९५४]

हरिजन कवि

स०, १६९० वि०; ग्रि०, जन्म १६३३ ई० ।

[९५५]

हरजू कवि

स०, १७०५ वि०; ग्रि०, जन्म १६४८ ई० ।

[९५६]

हीरामणि कवि

स०, १६८० वि०; ग्रि०, जन्म १६२३ ई०; कि०, १६२३ ई०, उपस्थिति-काल है ।

[९५७]

हरदेव कवि

स०, १८३० वि०; ग्रि०, १८०० ई०, रघुनाथराव (१८१६-१८१८) के दरबारी कवि थे ।

[९५८]

हरिलाल कवि

[९५९]

हीराराम

स०, प्राचीन, १६८० वि०, नखशिख; ग्रि०, संभवतः पिंगल के भी रचयिता ।

[९६०]

हिमाचलराम कवि

स०, ब्राह्मण, भटौली, जिला फैजाबाद; ग्रि०, १८४७ ई०; कि०, १९१५ वि० में मृत्यु ।

[९६१]

हीरालाल कवि

कि०, सं० १८३९ में राधाशतक नामक ग्रंथ रचा।

[९६२]

हुलास कवि

कि०, अस्तित्वहीन कवि।

[९६३]

हरचरणदास कवि

स०, बृहत्कविवल्लभ; ग्रि०, बृहत्कविवल्लभ नामक भाषा-साहित्य के एक ग्रंथ के रचयिता; कि०, बृहत्कविवल्लभ का रचनाकाल सं० १८३९ वि०।

[९६४]

हरिचन्द कवि

स०, बरसानेवाले, छन्दस्वरूपिणी; ग्रि०, ब्रज के अंतर्गत बरसाना के निवासी, छंद-स्वरूपिणी पिंगल-ग्रंथ के रचयिता।

[९६५]

हजारीलाल तिरवेदी

स०, अलीगंज, जिला खीरी; ग्रि०, १८८३ ई० में जीवित, नीति और शांत-रस के कवि।

[९६६]

हरिनाथ

स०, ब्राह्मण, काशीनिवासी, १८२६ वि०, अलंकारदर्पण।

[९६७]

हिम्मतिबहादुर नवाब

स०, १७६५ वि०; ग्रि०, गोसाईं, नवाब हिम्मतबहादुर, १८०० ई० में उपस्थित; सन्-कविगिराविलास, इनके दरबार में अनेक कवि, जिनमें ठाकुर और रामसरन भी; कि०, हिम्मत-बहादुर की मृत्यु सं० १८६१ वि० में।

[९६८]

हितराम कवि

कि०, "हितराम ने सं० १७२२ वि० में सिद्धांतसमुद्र या श्रीकृष्ण श्रुतिविरदावली की रचना की थी।"

[९६९]

हरिजन कवि

स०, ललितपुर-निवासी, १९११ वि०, रसिकप्रिया टीका; ग्रि०, जन्म (? उपस्थिति) १८५१ ई०, रसिकप्रिया की टीका बनारस के महाराज ईश्वरीनारायणसिंह के नाम पर की। ये कवि सरदार के पिता थे; कि०, "१८५१ ई० (सं० १९०८) इनका उपस्थिति-काल है; क्योंकि इसके तीन वर्ष पूर्व सं० १९०५ में इनके पुत्र सरदार ने शृंगार-संग्रह नामक काव्य-संग्रह संकलित किया था। रसिकप्रिया की टीका सरदार की बनाई हुई है, न कि इनके बाप हरिजन की। सरोज में यह उल्लेख प्रमाद से ही हो गया है।"

[९७०]

हरिचन्द कवि

स०, बन्दीजन, चरखारीवाले; ग्रि०, १६५० ई० में उपस्थित; कि०, "हरिचंद छत्रसाल (शासनकाल सं० १७२२-८८ वि०) के आश्रय में थे। ग्रियर्सन का दिया हुआ समय १६५० ई० एकांत भ्रष्ट है।"

[९७१]

हुलासराम कवि

स०, शालिहोत्र; ग्रि०, शालिहोत्र (रागकल्पद्रुम) नामक पशुचिकित्सा-सम्बन्धी ग्रंथ के लेखक।

टिप्पणियाँ

१। Modern Vernacular Literature of Hindustan.
अब्राहम जॉर्ज ग्रियर्सन, द एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १८८८ ई०।

२। हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास, उपर्युक्त का अनुवाद, किशोरीलाल गुप्त, वाराणसी, १९५७ ई०।

३। स०— शिवसिंह सरोज; सरोज में निर्दिष्ट विवरण तथा तिथियाँ जन्म की हैं।
विद्य०— विद्यमान (सरोजकार के समय में)।
ग्रि०— ग्रियर्सन।
कि०— किशोरीलाल गुप्त।

अध्याय १४

पाश्चात्य साहित्य का समानांतर विकास

संपूर्ण योरोपीय साहित्य के समानान्तर विकास के अध्ययन के लिए ऐसी तालिका आवश्यक है। पश्चिम के विद्वानों ने अपनी-अपनी भाषाओं के साहित्यों की तिथि-क्रम-तालिकाएं तो बनाई है, किन्तु उन्होंने भी इस प्रकार की पूर्ण समानान्तर तालिका नहीं बनाई है। इस दिशा में फोर्ड मैडाक्स फोर्ड ने अपनी पुस्तक 'द मार्च ऑव लिटरेचर' में कुछ कार्य किया है। उसकी पुस्तक से इस अध्याय में एक तालिका यथास्थान उद्धृत है। प्रस्तूयमान तालिका में अंगरेजी साहित्य का तिथि-क्रम, जो सहज प्राप्य है, छोड़ दिया गया है।

Francis Patrarch

इ

१३०४–१३७४

Giovanni Boccaccio

इ

१३१३–१३७५

Luigi Pubi

इ

१४३२–१४८४

Matteo Maria Boiardo

इ

१४३४–१४९४

Lacopa Sannazaro

इ

१४५८–१५३०

Desiderius Erasmus

ज

प्रा० १४६६–१५३६

Juan del Emina
स्पे
१४६६-१५२६

Nicolo Machiavelli
इ
१४६६-१५२७

Gil Vicente
स्पे
१४७०-१५३६

Ludovico Ariosto
इ
१४७४-१५३३

Baldassare Castiglione
इ
१४७८-१५२६

Martin Luther
ज
१४८३-१५४६

Francois Rabelais
फ्रे
प्रा० १४९४-१५५३

Hans Sachas
ज
१४९४-१५७६

Banvenuto Cellini
इ
१५००-१५७१

Garcilaso de la Vega
स्पे
१५०३-१५३६

John Calvin (या Jean Calvin)
फ्रे
१५०९-१५६४

Lope De Rueda
स्पे
प्रा० १५१०-१५६५

Santa Teresa de Jesùs
स्पे
१५१५-१५८२

Luis Vaz de Camoëns
स्पे
प्रा० १५२४-१५७९

Pierre De Ronsord
फ्रे
१५२४-१५८५

Joachim Du Bellay
फ्रे
१५२५-१५६०

Fray Luis de Leòn
स्पे
१५२७-१५९१

Bartolomé de Torres Naharro
स्पे
मृ० प्रा० १५३१

Michel Eyquem, Signeur de Montaigne
फ्रे
१५३३-१५९२

Alonco de Ercilla y Zùñiga
स्पे
१५३३-१५९४

Juan Boscàn Almogàver
स्पे
मृ० १५४२

San Juan de la Cruz
स्पे
१५४२-१५९१

Torquato Tasso
इ
१५४४-१५९५

Mateo Alemàn
स्पे
१५४७-१६१०

Miguel De Cervantes Saavedra
स्पे
१५४७-१६१६

Juan De La Cueva
स्पे
१५५०-१६२०

Lope Fèlix De Vega Carpio
स्पे
१५६२-१६३५

Giovanni Battista Marino
इ
१५६९-१६२५

Tirso De Molina
स्पे
प्रा० १५०१-१६४८

Giovanni Battista Andreini
इ
१५७८-१६५०

Luis Vèlez de Guevara
स्पे
१५७६–१६४४

Juan Ruiz De Alarcòn Y Meudoza
स्पे
प्रा० १५८०–१६३६

Alonso Jerònimo de Salas Barbadillo
स्पे
१५८१–१६३५

Francisco De Quevedo Y Villegas
स्पे
१५८०–१६४५

Martin Qpitz
ज
१५९७–१६३९

Pedro Calderòn De La Barca
स्पे
१६००–१६८१

Baltasar Graciàn
स्पे
१६०१–१६५८

Pierre Corneille
फ्रे
१६०६–१६८४

Andreas Gryphius
ज
१६१६–१६६४

Jean De La Fontaine
फ्रे
१६२१–१६९५

Moliere (Jean Baptiste Poquelin)
फ्रे
१६२२–१६७३

Hans Jacob Von Grimmel Shausea
ज
प्रा० १६२५–१६७६

Jean Racine
फ्रे
१६३९–१६९९

Voltaire
फ्रे
१६९४–१७७८

Vasily Gradiakovsky
र
१७०३–१७६९

Jośe Francisco de Isla Y Rojo
स्पे
१७०३–१७८१

Carlo Goldoni
इ
१७०७–१७९३

Prince Antioch Cantemir
र
१७०८–१७४४

Mikhail Lomonosov
र
प्रा० १७११–१७६५

Jean Jacques Rousseau
फ्रे
१७१२–१७७८

Alexander Sumarokov
र
१७१८–१७७७

Friedrich Gottlieb Klopstock
ज
१७२४–१८०३

Gotthold Ephraim Lessing
ज
१७२९–१७८१

Ramòn De La Cruz Cano Y Olmedilla
स्पे
१७३१–१७९४

Christoph Martin Wieland
ज
१७३३–१८१३

Gavriil Derzhavin
र
१७४३–१८१६

Gaspar Melchor De Jovellarros
स्पे
१७४४–१८११

Johann Gottfried Herder
ज
१७४४–१८०३

Denis Fonvizin
र
१७४५–१७९२

Vittorio Alfieri
इ
१७४९–१८०३

Johann Wolfgang Von Goethe
ज
१७४९–१८३२

Tomàs De Iriarte
स्पे
१७५०–१७९१

Juan Meléndez Valdés
स्पे
१७५४–१८१७

Johann Cristoph Friedrich Von Schiller
ज
१७५९–१८०५

Leandro Fernàndez De Moratin
स्पे
१७६०–१८२८

Johann Gottlieb Fichte
ज
१७६२–१८१४

Jean Paul (Friedrich Richter)
ज
१७६३–१८२५

Madame De Staël
फ्रें
१७६६–१८१७

Nikolay Karamzin
र
१७६६–१८२६

August Wilhelm Schlegel
ज
१७६७–१८४५

Ivan Krylov
र
१७६८–१८४४

Francois-Renè De Chateanbriand
फ्रे
१७६८–१८४८

George Wilhelm Friedrich Hegel
ज
१७७०–१८३१

Friedrich Hölderlin
ज
१७७०–१८४३

Novalis (Friedrich Von Hardenberg)
ज
१७७२–१८०१

Friedrich Schlegel
ज
१७७२–१८२९

Manuel José Quintana
स्पे
१७७२–१८५७

Johann Ludwig Tieck
ज
१७७३–१८५३

William Heirich Wackenroder
ज
१७७३–१७९८

Friedrich Wilhelm Joseph Von Schelling
ज
१७७५–१८५४

Ernst Theodor Amadeus Hoffmann
ज
१७७६–१८२२

Friedrich de La Motte-Fouquè
ज
१७७७–१७४३

Clemens Brentano
ज
१७७८–१८४२

Achim Von Arnim
ज
१७८१–१८३१

Vasily Zhukovsky
र
१७८३–१८५२

Jakob Grimm और Wilhelm Grimm
ज
१७८५–१८६३ और १७८६–१८६५

Heinrich Von Kleist
ज
१७७७–१८११

Adalbert Von Chamisso
ज
१७८१–१८३८

Stendhal
फ्रे
१७८३–१८४२

Allessandro Manzoni
इ
१७८५–१८७३

Joseph Von Eichendorff
ज
१७८८–१८५७

Arthur Schopenhauer
ज
१७८८–१८६

Francisco Martinez De La Rosa
स्पे
१७८९–१८६८

Alphonse Louis-Marie De Lamartine
फ्रे
१७९–१८६९

Sergey Aksakov
र
१७९१–१८५९

Engéne Scribe
फ्रे
१७९१–१८६१

Angel De Saavedra
स्पे
१७९१–१८६५

Franz Grillparzer
ज
१७९१–१८७२

Wilhelm Müller
ज
१७९४–१८२७

Alexander Griboedov
र
१७९५–१८२९

Karl Lebrecht Immermann
ज
१७९६–१८४०

Heinrich Heine
ज
१७९७–१८५६

Breton De Los Herreroz
स्पं
१७९६–१८७३

Cecilia Böhlvon Taber
स्पे
१७९६–१८७७

Johann Ludwig Uhland
ज
१७८७–१८६२

Alfred Victor, Comte De Vigny
फ्रे
१७९७–१८६३

Giacomo Leopardi
इ
१७९८–१८३७

Alexander Pushkin
र
१७९९–१८३७

Honoré De Balzac
फ्रे
१७९९–१८५०

Nikolaus Lenau
ज
१८०२–१८५०

Alexander Dumas, The Elder
फ्रे
१८०२–१८७०

Victor-Marie Hugo
फ्रे
१८०२–१८८५

Prosper Marimée
फ्रे
१८०३–१८७०

Fyodor Tyutchev
र
१८०३–१८७३

Sainte-Beuve
फ्रे
१८०४–१८६९

Eduard Mörike
ज
१८०४–१८७५

George Sand
फ्रे
१८०४–१८७६

Alexey Koltsov
र
१८०८–१८४२

José De Espronceda Y Delgado
स्पे
१८०८–१८४२

Nikolay Gogol
र
१८०९–१८५२

Alfred De Musset
फ्रे
१८१०–१८५७

Fritz Reuter
ज
१८१०–१८७४

Theophile Gautier
फ्रे
१८११–१८७२

Alexander Gonchorov
र
१८१२–१८६१

Christian Friedrich Hebbel
ज
१८१३–१८६३

Friedrich Hebbel
ज
१८१३–१८६३

Otto Ludwig
ज
१८१३–१८६५

Mikhail Lermontov
र
१८१४–१८४१

Gustav Freytag
ज
१८१६–१८९५

Alexey K. Tolstoy
र
१८१७–१८७५

Theodor Storm
ज
१८१७–१८८८

Ramòn De Campoamor
स्पे
१८१७–१६०१

José Zorilla Y Moral
स्पे
१८१७–१९१३

Karl Marx
ज
१८१८–१८८३

Ivan Turgenev
र
१८१८–१८८३

Charles Mary René Leconte de Lisle
फ्रे
१८१८–१८९४

Gottfried Keller
ज
१८१९–१८९०

Alexy Pisemsky
र
१८२०–१८८१

Émile Augier
फ्रे
१८२०–१८८९

Afanasy Fet
र
१८२०–१८९२

Nikolay Nekrasov
र
१८२१–१८७७

Gutave Flaubert
फ्रे
१८२१–१८८०

Charles Baudelaire
फ्रे
१८२१–१८६७

Fyodor Dostoevsky
र
१८२१–१८८१

Alexander Ostrovsky
र
१८२३–१८८६

Ernest Renan
फ्रे
१८२३–१८९२

Alexander Dumas the Younger
फ्रे
१८२४–१८९५

Juan Valera Y Alcalà Galiano
स्पे
१८२४–१९०५

Konrad Ferdinand Mayer
ज
१८२५–१८९८

Mikhail Salfykov Shchedrin
र
१८२६–१८८९

Herik Ibsen
ज (स्कैंडिनेविया—नारवे)
१८२८–१९०६

Lev (Leo) Tolstoy
र
१८२८–१९१०

Nikolay Leskov
र
१८३१–१८९५

Victorien Sardou
फ्रे
१८३१–१९०८

Gaspar Núñez De Arce
स्पे
१८३२–१९०३

Björnstjerne Björnson
ज (स्कैंडिनेविया—नारवे)
१८३२–१९१०

Antonio De Alarión Y Ariza
स्पे
१८३३–१८९१

José Marià De Pereda
स्पे
१८३३–१९०६

Giosué Carducci
इ
१८३५–१९०७

Gustavo Adolfo Bécquer
स्पे
१८३६–१८७०

Sully Prudhomme
फ्रे
१८३९–१९०७

Alphonse Daudet
फ्रे
१८४०–१८९७

Emile Zola
फ्रे
१८४०–१९०२

Stéphane Mallarmé
फ्रे
१८४२–१८९८

José-Maria de Hérédia
फ्रे
१८४२–१९०५

Benito Pérez Galdòs
स्पे
१८४३–१९२०

Anatole France
फ्रे
१८४४–१९२४

Georges Duhamel
फ्रे
१८४४–

Paul Verlaine
फ्रे
१८४४–१८९६

Friedrich Wilhelm Nietzsche
ज
१८४४–१९००

Jorius—Karl Huysman
फ्रे
१८४८–१९०७

August Strindberg
ज (स्कैंडिनेविया—स्वेडेन)
१८४९–१९१२

Guy De Maupassant
फ्रे
१८५०–१८९३

Pierre Loti
फ्रे
१८५०–१९२३

La Condesa Emilia Pardo Bazàn
स्पे
१८५२–१९२१

Paul Bourget
फ्रे
१८५२–१९३५

Vladimir Korolenko
र
१८५३–१९२१

Armando Palacio Valdés
स्पे
१८५३–१९३८

Arthur Rimband
फ्रे
१८५४–१८९१

Jean Moréas
फ्रे
१८५६–१९१०

Rainer Maria Rilke
ज
१८५७–१९२६

Hermann Sudermann
ज
१८५७–१९२८

Jules Laforgue
फ्रे
१८६०–१८८७

Anton Chekov
र
१८६०–१९०४

Arthur Schnitzler
ज
१८६२–१९३१

Gerhart Johana Hanptmann
ज
१८६२–१९४६

Maurice Maeterlinck
फ्रे
१८६२–१९४९

Loaquén Dicenta
स्पे
१८६३–१९१७

Richard Dehmel
ज
१८६३–१९२०

Gabriale d' Annunzio
इ
१८६३–१९३८

Frank Wedekind
ज
१८६४–१९१८

Henri De Réguier
फ्रे
१८६४–१९३६

Francois Vielè Griffin
फ्रे
१८६४–१९३७

Hermann Stehr
ज
१८६४–१९४०

Ricarda Huch
ज
१८६४–१९४७

Romain Rolland
फ्र
१८६६–१९४४

Vyacheslav Ivanov
र
१८६६–१९४५

Jacinto Benavente Y Martènez
स्पे
१८६६–

Vicente Blasco Ibàñez
स्पे
१८६७–१९२८

Ruben Darìo
स्पे
१८६७–१९१६

Luigi Pirandello
इ
१८६७–१९३६

Stefan George
ज
१८६८–१९३३

Maxim Gorky
र
१८६८–१९३६

Francois Jammes
फ्रे
१८६८–१९३८

Edmond Rostand
फ्रे
१८६८–१९१८

Paul Clendel
फ्रे
१८६८–

Andre Paul Guillame Gide
फ्रे
१८६९–१९५१

Marcel Boust
फ्रे
१८७१–१९२२

Ramòn Maria Del Valle-Inclàn
स्पे
१८७०–१९३६

Ivan Bunin
र
१८७०

Paul Valéry
फ्रे
१८७१–१९४५

Heinrich Mann
ज
१८७१

Erwin Guido Kalbenheyer
ज
१८७८

Paul Fort
फ्रे
१८७२–

Charles Péguy
फ्रे
१८७३–१९१४

Valery Bryusov
र
१८७३–१९२४

Jakob Wassermann
ज
१८७३–१९३४

Hugovon Hofmannethal
ज
१८७४–१९२९

Manuel Machado
स्पे
१८७४–

Thomas Mann
ज
१८७५–

Antonio Machado
स्पे
१८७५–१९३९

Hans Grimm
ज
१८७५–

Maximilian Voloshin
र
१८७७–१९३२

Hermann Hesse
ज
१८७७

Georg Kaiser
ज
१८७८

Eduardo Marquina
स्पे
१८७९–१९४६

Alexander Blok
र
१८८०–१९२१

Ramón Pérez De Ayala
स्पे
१८८०–

Juañ Ramòn Jiméresz
स्पे
१८८१–

Alexey N. Tolstoy
र
१८८२–१९४५

Alexey Yastev
र
१८८२

Franz Kafka
ज
१८८३–१९२४

Yevgeny Zamyatin
र
१८८४–१९३७

Panteleimon Romanov
र
१८८४–१९३८

Émil Verhaeren
फ्रे
१८८५–१९१६

Jules Romains
फ्रे
१८८५–

André Maurois
फ्रे
१८८५

Ernst Weichert
ज
१८८७

Franz Werfel
ज
१८९०–१९४५

Boris Pasternak
र
१८९०–

Vladimir Mayakovsky
र
१८९३–१९३०

Ernst Toller
ज
१८९३–१९३९

Isaak Babel
र
१८९४

Sergey Yesenin
र
१८९५–१९२५

Mikhail Zoschenko
र
१८९५–

Ilya Ilf
र
१८९७–१९३७

Erich Maria Remarque
ज
१८९७

Louis Aragon
फ्रे
१८९७–

Valentin Kafayev
र
१८९७–

Alexander Bezymensky
र
१८९८

Federico Garcéa Lorca
स्पे
१८६६–१६३६

Leonid Leonov
र
१८६६–

Yury Olesha
र
१८६६–

Andre Malraux
फ्रे
१६०१–

Yevgeny Petrov
र
१६०२–१६४४

Veniamin Kaverin
र
१६०२

Mikhail Sholokov
र
१६०५–

Mikhail Matusovsky
र
१६१५–

Yevgeny Dolmatovsky
र
१६१५–

अध्याय १५

हिंदी साहित्य की महान् परंपराएँ

कवि देश-कालनिरपेक्ष होकर काव्य रचना नहीं करता। उस अतीत से, जो कभी मरता नहीं और उस वर्तमान से, जो प्रतिपल हमारे साथ है, कवि का सुनिश्चित संबंध रहता है। इस प्रसंग में टी० एस० इलियट का यह महावाक्य उल्लेखनीय है, "कवि को अपनी हड्डियों में सिर्फ अपने युग को ही लेकर नहीं लिखना चाहिए। उसे तो इस अनुभूति से प्रेरित होना चाहिए कि होमर से लेकर यूरोप का समस्त साहित्य, जिसके अंतर्गत उसके अपने देश का संपूर्ण साहित्य भी आ जाता है, उसके लिए आपाततः महत्त्व रखता है और एक साथ ही एक योजना प्रस्तुत करता है।"

टी० एस० इलियट आधुनिक अँगरेजी साहित्य में एक युगान्तकारी कवि और महान् आलोचक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्हें प्रदत्त होकर 'नोबेल' पुरस्कार सम्मानित हो चुका है। उनका यह सिद्धान्त हिंदी-साहित्य के अध्येताओं के लिए विशेष महत्त्व रखता है। हिंदी-साहित्य प्रकृत्या, और कभी-कभी अस्पृहणीय अर्थ में भी परंपरा-प्रेमी रहा है। आधुनिक युग में दूसरे प्रकार के परंपरा-प्रेम के विरुद्ध स्वस्थ और सर्वथा आवश्यक विद्रोह तो हुआ, पर साथ-ही-साथ परंपरा की जीवित शाखाओं पर भी कुठाराघात किया गया। हम अपनी विवेक-शून्य भूल समझ रहे हैं—शायद समझ चुके हैं। फलतः उस संबंध में सविस्तर विवेचन समीचीन समझा जा सकता है।

हम किसी लेखक की प्रशंसा में कहते हैं, "अमुक एक महान् परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं। ठीक इसके विपरीत, इसके खंडन में नहीं, किसी साधारण लेखक की महत्त्वशून्यता दिखलाने के लिए उसे न केवल किसी अवांछनीय परंपरा से संबद्ध ही बताया जाता है, बल्कि यह भी कहा जाता है कि उसने 'केवल परंपरा का निर्वाह किया है।"

हमने अभी-अभी देखा, किस तरह अलोचक भिन्न ध्वनियों के साथ इस शब्द का प्रयोग करते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि हम अतीत के साथ लेखक के संबंध का पुनर्विवेचन करें। यह संबंध सूक्ष्म और जटिल है तथा दो भिन्न लेखकों में समान रूप से नहीं पाया जाता। फिर भी दो बातें स्पष्ट हैं—कोई भी लेखक, वह शास्त्रज्ञ विद्वान् होकर कबीर-सूर की तरह अनपढ़ संत ही क्यों न हो, बर्न्स या 'भिखरिया' के समान अशिक्षित जन-कवि ही क्यों न हो, परंपरा से अछूता नहीं रहता। भाषा को वह रिक्त के रूप में पाता है। ऐसी दशा में यह संभव ही नहीं कि वह अतीत से सर्वथा असंपृक्त हो। उसकी रचनाओं में, वे लिखित हों या मौखिक, उन बातों की प्रतिध्वनि रहेगी ही, जिन्हें पढ़ी या सुनी हैं। इसका

दूसरा पहलू यह है कि कोई भी लेखक, चाहे वह कितना भी अनुकृतिप्रिय क्यों न हो, परंपरा के दलदल में संपूर्णतः फंसा नहीं रह सकता। वह अनिवार्य रूप से उसमें कुछ-न-कुछ परिवर्त्तन करेगा ही। इसका कारण भी भाषा ही है। भाषा की प्रकृति गतिमूलक और परिवर्त्तनशील है। फलतः भाषा के उपयोग में ही परंपरा का पालन भी और उसका न्यूनाधिक परिवर्त्तन भी निहित है।

परंपरा का व्यापकतम अर्थ है—वे सारी संस्कारगत रूढ़ियाँ, साहित्यिक मान्यताएँ, और अभिव्यंजना की प्रणालियाँ, जो एक लेखक को अतीत से प्राप्त होती हैं। हम किसी विशिष्ट साहित्यिक मान्यता की परंपरा की चर्चा कर सकते हैं, उदाहरणार्थ 'दुःखान्तं न नाटकम्', जो संस्कृत नाटक-साहित्य में निरपवाद रूप से तथा हिंदी नाटक-साहित्य में भी बहुत अधिक मात्रा में, एवं हिंदी-रंगमंच और चित्रपट में भी, जाने-अनजाने व्याप्त था और है। हम किसी साहित्यिक रूप (Form) की परंपरा पर विचार करते हैं, यथा, महाकाव्य का रूप, जो संस्कृत के महाकाव्य-रचयिताओं से लेकर, तुलसीदास-मैथिलीशरण तक एक अव्याहत प्रवाह है। हम रीति-काल जैसी युग-संबंधी परंपरा की बात करते हैं, जो भारतेंदु-रत्नाकर तक प्रलंबित होकर ऊर्ध्व-श्वास लेती रही। और, किसी भाषा या शैली की परंपरा भी हो सकती है, जैसे ब्रजभाषा में अभिव्यक्त वैष्णव-भावना 'ब्रजबुलि' के रूप में सुदूर बंगाल में भी गृहीत हुई।

इस तरह, विशद और स्पृहणीय रूप में, परंपरा से हमारा तात्पर्य है—अतीत में से हमारी ओर प्रवहमान विकास की वह मुख्य और मूल धारा जो आकस्मिक नहीं होती, काल या स्थान में बँधती नहीं। कल्याणप्रद परंपरा कुत्ते की तरह अपनी दुम के चारों ओर चक्कर नहीं काटती; वह निम्नाभिमुख जल-धारा के समान सदैव गतिशील रहती है।

किसी लेखक का परंपराविशेष से क्या संबंध है, इसे समझने के लिए इन दोनों बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। अतीत की अपरिहार्य अनुभूति और अतीत को वर्त्तमान से संबद्ध करने की आवश्यकता—इन दोनों सिद्धांतों के तनाव में ही उपर्युक्त संबंध का आधार निहित है।

परंपरा के संबंध में इन धारणाओं के सहारे विचार करने पर हम यह कहने में संकोच नहीं करेंगे कि भौतिकता हिंदी-साहित्य की मुख्य परंपराओं में से एक है। आप चौंके मत, सामान्य रूप से यह समस्त भारतीय साहित्य और संस्कृति की ही प्रमुखतम परंपरा है। हमारी हीन भावना का रूप-विपर्यय कुछ इस प्रकार हुआ, और बाहरवालों ने हमारी अपेक्षाकृत गौण विशेषताओं को कुछ इतना बढ़ा-चढ़ाकर हमारे सामने रखा कि अपने साहित्य को इस परंपरा से सतत अनुप्राणित होते हुए देखने पर भी हम इसे सिद्धांततः अस्वीकार करते हैं। अपनी संस्कृति और साहित्य के संबंध में यह हमारी नितांत भ्रामक धारणा है।

वेदों के भाषा-शास्त्र-सम्मत तथा सहज-बुद्धि-स्वीकार्य अर्थ के आधार पर हम दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य का एक बड़ा अंश मनुष्य के जीवन से ही, अर्थात् 'अर्थ' और 'काम' से ही संबंध रखता है। प्रायः समस्त पुराणेतर संस्कृत साहित्य और प्राकृत साहित्य इस परंपरा से ओतप्रोत है।

इसके परिणामस्वरूप हिंदी-साहित्य में यह परंपरा प्रारंभ से ही; और अनिवार्य रूप से

दिखाई पड़ती है। वीरगाथा-काल और रीतिकाल का तो कहना ही क्या, भक्तिकाल भी अपने ढंग से इस परंपरा से प्रेरित और प्रभावित हुआ है—निर्गुण-शाखा को छोड़कर।

विस्तार संभव नहीं। इतना भर समझ लें कि प्राचीन काल से ही भौतिकता के दो रूप दीख पड़ते हैं—मर्यादित और अतिवादी। उदाहरण के लिए वैदिक दृष्टिकोण (मर्यादित रूप) के साथ हमें लोकायत मत (अतिवादी रूप) की भी चर्चा करनी ही पड़ती है; लब्ध-प्रतिष्ठ संस्कृत कवियों और नाटककारों (मर्यादित रूप) के समय में ही भाण, डिम और प्रहसन भी (अतिवादी रूप) लिखे ही गये।

जहाँ तक हिंदी साहित्य का प्रश्न है, वीरगाथा-काल और भक्तिकाल में भौतिकता की परंपरा की पहली धारा, उसका मर्यादित रूप, और रीतिकाल में दूसरी धारा, अतिवादी रूप, पाया जाता है। यहीं, प्रसंगवश, यह भी स्पष्ट कर दें कि निर्गुणवादी संतों की परंपरा भिन्न थी। वह भी वेदों से उद्‌भूत मानी जा सकती है, यद्यपि उपनिषदों से ही उसका विशेष संबंध है। स्पष्टतः यह परंपरा अपेक्षाकृत दुर्बल थी, क्योंकि जैसे ही संतों के पंथ फलने-फूलने लगे, वैसे ही इस परंपरा की प्राणवत्ता नष्ट हो गई। पंथों में परंपरा का 'पालन' और 'निर्वाह' मात्र ही तो होता है।

इसके विपरीत भौतिकता की परंपरा संपूर्ण प्राचीन हिंदी साहित्य को प्रेरित करती हुई और उसके द्वारा नवीकृत होती हुई आधुनिक काल की प्रमुख प्रवृत्ति ही बन गई है। रहस्य-वादियों ने अपनी प्राचीन परंपरा का 'पालन' किया और समाप्त हो गये। किंतु बहुतेरे रहस्य-वादी छायावादी भी थे। उन्होंने भौतिकता की परंपरा को नवीन रूप दिया। रहस्यवाद आगे नहीं बढ़ सका; पर छायावाद का रूप-विपर्यय प्रगतिवाद में हुआ। 'निराला' और पंत से बड़े छायावादी नहीं हुए, न उनसे बड़े प्रगतिवादी ही। पंत ने एक बार फिर पीछे मुड़ने का उद्योग किया है, किंतु वह परंपरा का पुनरुज्जीवन न होकर अनुकरण मात्र है।

मेरी समझ में यह कहना एक बहुत बड़ी भूल है कि आधुनिक हिंदी साहित्य में ही भौतिकता का तत्त्व पहले-पहल देखा जा रहा है, और कि वह पश्चिम से आया है।

हिंदी साहित्य की दूसरी प्रमुख परंपरा यथार्थता है। भारतीय साहित्य के संबंध में विद्वानों की जो बद्धमूल धारणाएँ हैं उनसे प्रतिकूल होने पर भी, मेरा ऐसा व्यक्तिगत विचार है, निर्मम विश्लेषण के फलस्वरूप इसी परिणाम पर पहुँचा जा सकता है। वेदों में यम-यमी-संवाद जैसे यथार्थतापूर्ण साहित्यिक वर्णन उपलब्ध हैं। संस्कृत साहित्य में भी आदर्शवादिता से कहीं अधिक परिणाम में यथार्थता का तत्त्व है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कामशास्त्र का अनिवार्य अध्ययन, अध्यापन तथा साहित्य में उसका निर्भीक और निर्विकार समावेश। पाश्चात्य साहित्य में यथार्थता का जो तत्त्व उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में और बीसवीं के प्रारंभ में, संघटित आंदोलन के बाद, ग्राह्य हुआ, वह सैकड़ों वर्ष पूर्व हमारे साहित्य के लिए साधारण बात थी।

प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य से प्रवाहित होती हुई यह धारा हिंदी साहित्य को भी प्रभावित करती रही। सिद्धों की वाणी में इसकी प्रचुरता है। डिंगल के काव्यों के युद्ध और प्रेम-वर्णनों में इसका स्पष्ट रूप देखने को मिलता है। भक्तिकाल में, तुलसीदास को छोड़कर,

निर्गुण और सगुण दोनों ही शाखाओं के संत-साहित्यिकों की रचनाओं में, दर्शन के अतिरिक्त जो साहित्यिकता है, वह इसी यथार्थता के तत्त्व के कारण। रीतिकाल के संबंध में, इस दृष्टि से, यहाँ अधिक विस्तार से विचार करना तो अनावश्यक ही है। आधुनिक काल में भारतेंदु-युग तथा द्विवेदी-युग की तथा समकालीन रचनाओं की यह प्रमुखतम धारा है। छायावाद-रहस्यवाद-युग निस्संदेह इस परंपरा के प्रति उग्र विरोध था, लेकिन यह विशेष रूप से स्मरणीय है कि उसके दो सूत्रधारों ने, अर्थात् 'निराला' और पंत ने, आगे चलकर अपने व्यक्तिगत प्रतिभा को उक्त परंपरा के साथ संबद्ध किया। इनमें भी 'निराला' तो छायावाद रहस्यवाद में भी इस परंपरा से अंशतः ही उदासीन थे।

इस तरह हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न युगों में आदर्श का ऊपरी आवरण तो बदलता रहा है, किंतु यथार्थता का भीतरी ढाँचा बना रहा है।

हिंदी साहित्य की तीसरी महान् परंपरा मानववाद (Humanism) है और चौथी मानवतावाद (Humanitarianism)। मानवतावाद किसी प्रकार के अतिवाद (Extremism) को प्रश्रय नहीं देता। मानवतावाद के अनुसार मनुष्य अपने अतीत के ज्ञान और संस्कार की सहायता से अपने वर्त्तमान को मर्यादित कर सकता है। मनुष्य अपनी विवेक-शक्ति के आधार पर अपने अतीत और वर्त्तमान का सदुपयोग कर सकता है। संक्षेप में मनुष्य मनुष्य है; मनुष्य-जीवन की अपनी सार्थकता होती है।

साहित्य के क्षेत्र में मानवतावाद के फलस्वरूप जहाँ एक ओर दृष्टिकोण में उदारता आ पाती है, वहीं प्राचीनता और शास्त्रीयता के प्रति थोड़ी-बहुत पक्षपात की प्रवृत्ति भी। कहना न होगा कि प्राचीन भारतीय साहित्य अतिवाद से सर्वथा मुक्त रहा है। दर्शन के क्षेत्र में जो थोड़ी बहुत कटुता थी भी, वह साहित्य में अधिक-से-अधिक तो उपालंभ बनकर रह गई। कबीर यदि केवल दार्शनिक या संत ही रहते, तो उनकी कटुता कितनी चोट पहुँचानेवाली होती। किंतु अभिव्यंजना-विधि में उनकी कटुता बहुत-कुछ मृदु हो जाती है और उनकी मानवता ही सतह पर आ पाती है: हिंदू-मुसलमान एक है, परमात्मा ही तो 'राम' है! सगुण भक्ति का कबीर के द्वारा खंडन कुछ तीखा अवश्य है, किंतु तुलसी और सूर जब निर्गुण का खंडन करते हैं, तब उनकी सहिष्णुता देखने ही लायक होती है। मानवता की यह परंपरा हिंदू जीवन और भारतीय साहित्य की, विशेषतः हिंदी साहित्य की, एक प्रत्यभिज्ञेय परंपरा रही है।

आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने इस परंपरा की बड़ी मौलिकता और व्यावहारिकता के साथ प्रतिनिधित्व किया। हिंदी-साहित्य को भी उनसे बहुत-कुछ मिला। बहुत-कुछ क्या, आधुनिक युग के गद्य और पद्य के दो सर्वाधिक प्रसिद्ध, लोकप्रिय और श्रेष्ठ लेखक, प्रेमचंद और मैथिलीशरणगुप्त, उन्हीं के द्वारा परिवर्त्तित और परिवर्त्तित मानवतावाद से अपनी कला को इतना उत्कर्ष प्रदान कर सके। इन लेखकों की कृतियों में मानवता की पूर्वोक्त दूसरी विशेषताएँ स्पष्ट ही हैं।

इधर यह देखकर विचारक चौकन्ने हो रहे थे कि राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन के साथ-ही-साथ साहित्य से भी मानवतावाद धीरे-धीरे अपदस्थ होता जा रहा था और अतिवाद

की मनहूस छाया चारों ओर फैलती जा रही थी। महात्मा गांधी की हत्या के द्वारा हिंदू संस्कृति और परंपरा के दावेदारों ने तो समूची जाति की प्राण-शिरा ही काट डाली है।

हिंदी साहित्य की चौथी परंपरा मानववाद, का उल्लेख तीसरी परंपरा के साथ ही हो चुका है। मानववाद जीवमात्र के कष्ट मिटाना चाहता है। मानववादी के हृदय में सहानुभूति तो रहती ही है, किंतु इससे भी अधिक रहती है पीड़ित के साथ समव्यथा की भावना। फलतः वह सुखी को और अधिक सुखी बनाने के लिए उतना व्यग्र नहीं रहता, जितना दुखी को सुखी बनाने के लिए। मानववादी यह विश्वास करता है कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा या बुरा नहीं होता, वस्तुतः वातावरण ही उसके स्वभाव का निर्माण करता है। इसलिए मानववादी मानव-जाति की सामाजिक या आर्थिक व्यवस्था को उन्नत करना चाहता है।

प्राचीन काल में मानववादी धर्म की कट्टरता से विद्रोह कर फिर किसी-न-किसी प्रकार के धर्म का ही आश्रय लेता था—जैसे, महावीर, बुद्ध, कबीर इत्यादि। आधुनिक मानववादी वैज्ञानिकों और स्वतंत्र चिंतकों की सहायता लेता है। इसी दृष्टि से पंडित जवाहरलाल नेहरू का मानववाद महात्मा गांधी के मानवतावाद से भिन्न है।

मानववाद से प्रेरित कृतियाँ, पर्चे आदि प्रचार-पुस्तिकाएँ बनकर रह जाती हैं—उनका साहित्यिक रूप स्थायी महत्त्व का नहीं माना जा सकता। किंतु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मानववादी विचारधारा स्थायी महत्त्व के साहित्यिक रूपों में अनिवार्य रूप से अनुस्यूत हो जाती है और इस तरह साहित्य और जीवन एक दूसरे के बहुत निकट चले जाते हैं। सच बात तो यह है कि स्तिमित होते हुए साहित्य को इसी मानववाद से प्रगति का प्राणवंत विस्फूर्जन प्राप्त होता है।

पालि, अर्ध-मागधी, प्राकृत और अपभ्रंश में अभिव्यक्त मानववाद की विद्रोही विचार-धाराओं ने कई बार मि्रयमाण संस्कृत साहित्य को पुनरुज्जीवित किया था। मार्क्सवाद से अनुप्राणित यही प्राचीन परंपरा आज के प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य की रीढ़ बनी हुई है। पंतजी ने यही विचार-धारा युगांत और युगवाणी में अपनाई थी। यह विचार-धारा जिस साहित्यिक रूप में इन कृतियों में अभिव्यक्त हुई थी, वह ग्राह्य नहीं हुई। किंतु स्वर्णधूलि और स्वर्णकिरण में यही परंपरा उत्कृष्ट साहित्यिक रूप धारण कर अवतरित हुई है। प्रगतिवाद की कहिए, या इस परंपरा की, यही श्रेयस्कर परिणति है। नरेन्द्र शर्मा की कविताएँ, रामविलास शर्मा की आलोचनाएँ, अमृतराय की कहानियाँ, और दूसरे प्रगतिवादियों के संतुलित प्रयत्न इस परंपरा में प्रखरता लाने में समर्थ हुए थे। प्रगतिवाद के कर्णधार जब अपनी परिधि को सीमित करने लगे, तब उनकी यह संकीर्णता उनकी स्पृहणीय विशिष्टता के लिए घातक सिद्ध हुई।

हमारे साहित्य की पाँचवीं और अंतिम उल्लेखनीय परंपरा है धार्मिकता—जिसे, शायद, कुछ लोग प्रथम और प्रधान स्थान देना चाहेंगे।

प्राचीन भारतीय या हिंदी साहित्य के संबंध में धार्मिकता की दृष्टि से यहाँ कुछ कहने की विशेष आवश्यकता नहीं। धार्मिकता की परंपरा की सबलता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि रीतिकाल की घोर शृंगारिकता पर भी मुलम्मा इसीका चढ़ा हुआ है और

मार्क्सवाद के रास्ते पर काफी आगे बढ़ चुकने के बाद भी पंतजी अकस्मात् फिर इधर ही मुड़ गये हैं।

आधुनिक साहित्य में, स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से, यह परंपरा अविच्छिन्न है। पंतजी के संबंध में कहा जा चुका है; 'प्रसाद' ने रहस्यवादी के रूप में और शैव सिद्धांतों के समर्थक की हैसियत से इसे स्वीकृत किया; 'निराला' ने रहस्यवादी और अद्वैतवादी के रूप में, और मैथिलीशरण गुप्त ने संपूर्णतः और स्पष्टतः। इस परंपरा का अतीत और वर्त्तमान चाहे जैसा भी रहा हो, भविष्य बहुत संभावनापूर्ण नहीं है।

आधुनिक हिंदी साहित्य को ये पाँच सदानीरा धाराएँ सिंचित कर रही हैं। उसके विकास और संवर्धन के लिए पोषण-तत्त्व स्वतः सुलभ है।

टी० एस० इलियट के जिस निबंध का प्रारंभ में उद्धरण दिया गया था, उसी में उन्होंने यह भी कहा है कि परंपरा "क्रमागत नहीं हो सकती; यदि कोई इसकी आवश्यकता अनुभव करता है, तो उसे इसकी प्राप्ति के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है।" नवीन अनुभूतियों की सान पर चढ़कर परिवर्त्तित हुए बिना क्रमागत परंपराओं की मौलिक प्रखरता नष्ट हो जाती है; वे मात्र चर्वित-चर्वण और नियम-पालन रह जाती हैं।

आरंभ में कहा गया था कि परंपरा अप्रतिहत गतिवाली निम्नाभिमुख जल-धारा के समान होती है। यह बिलकुल ठीक भी है; परंपरा कारण और कार्य का सातत्य है ही। किंतु यह कहना गलत होगा कि एक नवीन लेखक इस जल-धारा में तिनके की तरह असहाय बहता रहता है। लेखक की सफलता इसमें है कि वह इस धारा को, अपनी 'व्यक्तिगत प्रतिभा' के अनुरूप, और समय की आवश्यकता के अनुसार नई दिशा में मोड़ दे। अतीत को स्वायत्त करने का प्रयत्न उसे वर्त्तमान के प्रकाश में देखने की सूक्ष्मता—ये ही बातें किसी लेखक को, अच्छे अर्थ में परंपरा से संबद्ध करती हैं। अतीत की विवेकशून्य अनुकृति के परिणामस्वरूप ऐसे ऐतिहासिक नाटकों या उपन्यासों की रचना हो सकती है, जिनका वर्त्तमान से कोई सजीव संबंध न हो—और सच पूछिए तो, जिनका, इसी कारण, अतीत से भी कोई वास्तविक संबंध नहीं माना जा सकता।

परंपरा का एक दूसरा विचारणीय रूप है, जिसकी ओर इशारा भी किया जा चुका है। जैसा कुछ विद्वानों का मत है, यदि एक बार परंपरा को अपने शिविर में घुसने का मौका दिया जाय, तो खतरा यह रहता है कि वह कहावत के ऊँट की तरह धीरे-धीरे समूचे शिविर पर ही कब्जा कर ले सकती है। कभी-कभी लता आधार-वृक्ष को ही जकड़कर सुखा डालती है। इसीलिए परंपरा के संबंध में विस्तृत विवेचन की आवश्यकता समझी गई है। हमें उसके बारे में किसी तरह की गलतफहमी नहीं रखनी चाहिए।

अब तक हिंदी साहित्य के विद्वान् बहुत कम पर बहुत अधिक विचार करते रहे हैं; अब उन्हें बहुत अधिक पर बहुत अधिक विचार करना आवश्यक हो गया है।[१]

टिप्पणी

१। इस उप-परिच्छेद का मुख्यांश ओरिएंटल कानफरेंस के अधिवेशन विशेष के लिए लिखा गया था, और उसके लिए स्वीकृत हुआ था। फिर यह बिहार-सरकार के जन-संपर्क विभाग के साहित्यिक मासिक पत्र 'बिहार' में प्रकाशित हुआ था। इसके सैद्धांतिक अंशों का उपयोग डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने बिना आधार स्वीकार किये अपनी एक पुस्तक में कर लिया है। प्रसिद्ध त्रैमासिक 'दृष्टिकोण' के अंक-विशेष में इस कृत्य की आलोचना द्रष्टव्य है।

अध्याय १६

साहित्यिक इतिहास के शेष पक्ष

(क) साहित्यिक इतिहास और जन-रुचि

साहित्य के इतिहास में, और सामान्यतः कलाओं के इतिहास में भी, कलाकार तथा कलाकृति पर ही विचार केंद्रित रखा जाता है। जन-रुचि के विकास की समस्या की उपेक्षा ही होती चली आई है। इसीका परिणाम है कि अतीत या वर्त्तमान के अनेक कला-विषयक परिवर्त्तन असमाधेय प्रतीत होते हैं। ऐसे परिवर्त्तनों के कारणभूत रुचि-परिवर्त्तनों पर विचार करने पर हम बहुधा पाते है कि रहस्य सहज ही समझ में आ जाता है। इसके लिए आवश्यक केवल यह है कि साहित्यिक परिवर्त्तनों को उनके ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय परिवेश में रख कर समझने की कोशिश करें।

इस दिशा में अपवादस्वरूप जो प्रयत्न हुए है, वे अतिसरलीकरण के दोष से ग्रस्त हैं। उदाहरण के लिए १८९० में Feodinard Brunetièrs का Evolution des genres dans l' Histoire de la Littèratuie प्रकाशित हुआ था, जिसमें फ्रांस के इस प्रकांड आलोचक और इतिहासकार ने ललित कलाओं और साहित्य के विकास पर Charles Warwin के 'जीवों के उद्भव' के आधारभूत सिद्धांतों को पूर्णतः घटित कर दिखाया था। उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि ललित कलाओं और साहित्य में भी पहले सरल रूप देखने को मिलते हैं; वे ही बाद में जटिल-जटिलतर बनते चले जाते है, और शाखा-प्रशाखाओं में विकसित होते हैं। नाटक के इतिहास में तो उसने यौवन, परिपूर्णता, परिपक्वता, क्लांति, ह्रास तथा विशीर्णता के क्रम निर्दिष्ट करने का भी प्रयास किया था। इस प्रकार इस फ्रांसीसी विद्वान् ने कला को सजीव जाति मात्रों में विभक्त कर, उन पर डार्विन के 'चयन के सिद्धांत' आरोपित करने का विचक्षणतापूर्ण, किंतु दूरगामी प्रयत्न किया था।

वास्तविकता यह है कि जीवन और कलाओं के बीच बाह्य और आंशिक सादृश्य भर है। जीवन अपने को प्रजनन अथवा बीजारोपण द्वारा स्वतन्त्र रूप से प्रसारित करता है, जब कि कला-सृजन मानवीय विचार-व्यापार पर अवलंबित है। प्रकृति में अस्तित्व के लिए जो संघर्ष देखा जाता है, उसे कला में भी दिखाया जा सकता है; किंतु हमें यह स्मरण रखना होगा कि कला के क्षेत्र में विभिन्न रूप या कृतियाँ नहीं, बल्कि प्रवृत्तियाँ संघर्ष करती हैं। ब्रुनेतिएर सिद्ध करना चाहता है कि कभी-कभी साहित्य का रूप-विशेष, उदाहरणार्थ नाटक, युग-विशेष में आंतरिक शक्ति से रहित होने के कारण, नष्ट हो जाता है, किंतु तथ्य यह है कि इसके लिए रूप-विशेष नहीं, प्रत्युत कृतिकार उत्तरदायी होते हैं। मनुष्य के जीवन में न केवल कलाओं का,

बल्कि व्यवहार में आनेवाली अनेकानेक वस्तुओं का, उदाहरणार्थ परिधान आदि का, रूप-परिवर्त्तन देखने को मिलता है; उनकी तुलना सजीव प्रकृति के जाति-विशेष से थोड़े ही की जा सकती है !

अस्तु, यह ठीक है कि कलाओं का साहित्य का ऐकांतिक अध्ययन संभव नहीं है; किंतु यह भी सत्य है कि इन्हीं क्षेत्रों में ऐसे परिवर्त्तन भी देखने को मिलते हैं, जिनके कारणों का निर्देश कठिनतम सिद्ध होता है। L. L. Shücking ने इस प्रसंग में ये उदाहरण दिये हैं—शिलर ने फील्डिंग को श्रेष्ठ प्राचीनों में परिगणनीय माना था; बायरन के इतिवृत्तात्मक पद्य, प्रकाशित होने के तुरत बाद हजारों की संख्या में बिकते थे, किंतु आज उन्हें शायद ही कोई पढ़ता है; ग्येते के समय में ज्याँ पाल का एक केश-गुच्छ किसी को मिल जाता था, तो उसे वह मूल्यवान् निधि समझता था। हम अपने साहित्येतिहास से भी ऐसे अनेकानेक उदाहरण अनायास प्रस्तुत कर सकते हैं; 'किं रघुवंशमपि काव्यम् ? तस्यापि टीका ? सापि संस्कृतमयी ?' 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः'; 'सूर सूर तुलसी ससी'; आदि में संकेतित रुचि स्पष्ट है। आज हम जन-रुचि के ऐसे उदाहरणों का समाधान कृतिकारों या उनकी रचनाओं के दोषों के निर्देश द्वारा कर देते हैं—उनका मनोविज्ञान अपरिणत था, उनमें ईमानदारी की कमी थी, उनमें विचारों की गंभीरता का अभाव था, अथवा उनमें रचना-कौशल भर था। किंतु हम पाठकों की रुचि की दृष्टि से इस समस्या पर विचार करें! क्या उन दिनों का पाठक आज की कृतियों को अपने युग की कृतियों से उच्चतर मानने को तैयार होगा ? पिछले युग का आदमी बैलगाड़ी की तुलना में रेलगाड़ी को, या तेल के दिये के मुकाबले बिजली-बत्ती को निश्चित प्रगति का प्रमाण मानने को बाध्य होगा, किंतु वह स्वसामयिक कला की अपेक्षा वर्त्तमान-युगीन कला को शायद ही प्रगति या विकास माने। इस प्रकार हम देखते हैं कि अतीत तथा वर्त्तमान की कलात्मक रुचि में स्पष्ट भेद मिलते हैं।

महान् कलाकारों के विषय में भी रुचि-भेद के परिणाम देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ, शेक्सपियर को शताब्दियों तक मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी। Shücking ने इस उदाहरण के साथ ही लार्ड चेस्टरफील्ड जैसे परिष्कृत रुचि-संपन्न अभिजात व्यक्ति के कला-विषयक दृष्टिकोण का उल्लेख किया है; पुत्र के नाम लिखे अपने प्रसिद्ध पत्रों में से एक में, पुत्र द्वारा यह पूछने पर कि वह Rembrandt के कुछ चित्र सस्ते खरीद ले, चेस्टरफील्ड सलाह देता है—'नहीं, यह समझदारी का काम नहीं होगा।' और, आज Rembrandt संसार के श्रेष्ठ चित्रकारों में परिगणित होता है !

इसी प्रकार निश्चित रूप से मान्यता-प्राप्त कलाकारों के बारे में भी बहुविध रुचि-भेद बना रहता है। एक तो हम यह देखते हैं कि चंद्रमा की घटती-बढ़ती कलाओं की तरह उनकी लोकप्रियता भी घटती-बढ़ती है, ग्येते या बाणभट्ट जैसे लेखकों तक के बारे में यह सत्य है ! दूसरे यदि लोकप्रियता घटने-बढ़ने के बदले एक समान ही बनी रहती है, तो भी यह देखा जाता है कि इसका कारण जो कल माना या बताया जाता था, वह आज नहीं माना-बताया जाता। एलिजाबेथ-युगीन दर्शक शेक्सपियर के नाटकों की महत्ता जिन कारणों से स्वीकार करते थे, उन कारणों को आज के उनके पाठक विचारणीय भी नहीं मानते। यही बात तुलसी-दास के संबंध में भी कही जा सकती है।

Shücking ने इन्हीं आधारों पर यह निष्कर्ष उपस्थित किया है कि युग-विशेष में रुचि-विशेष का प्राधान्य रहता है। ललित कलाओं के विषय में यह अपेक्षया अधिक सत्य है। यही कारण है कि जिन देशों में ललित कलाओं का सामान्य जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है, वहाँ सांस्कृतिक युगों के नाम कलात्मक प्रवृत्तियों पर चल पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिम में पुनर्जागरण-युग की चर्चा बहुशः होती है, किन्तु यह तो किसी जमाने में स्थापत्य के प्रवृत्ति-विशेष का अभिधेय था। इधर पश्चिम में ही 'अभिव्यंजनावादी युग' की भी चर्चा होने लगी है। हमारे यहाँ क्यों इसके दृष्टांत नहीं मिलते, इसका कारण स्पष्ट है; हमारे यहाँ सामान्य जीवन पर ललित कलाओं का थोड़ा प्रभाव भी नहीं है।

(ख) प्राचीन काव्यों की प्रामाणिकता

हिंदी के आधुनिक विद्वानों में यह प्रवृत्ति बढ़ती पर है कि प्राचीन काव्यों में पाई जानेवाली इतिहास-विरुद्ध बातों या अपेक्षाकृत नई भाषा के कारण उन्हें अप्रामाणिक घोषित कर दिया जाय। हिंदी-साहित्य के एक नवीन इतिहास-ग्रंथ में शुक्लजी के द्वारा उद्भावित वीरगाथा-काल के प्रायः सभी ग्रंथ अप्रामाणिक सिद्ध कर दिये गये हैं, और इस काल को ही बेबुनियाद ठहरा दिया गया है।

एक वह भी समय था जब हमारे यहाँ के इतिहास-ग्रंथ, वे चाहे राजनीतिक इतिहास से संबंध रखते हों या साहित्यिक इतिहास से, मात्र दंतकथाओं और किंवदंतियों के संकलन होते थे। अवश्य यह सर्वथा अवांछनीय वस्तु-स्थिति थी। आज इसके विपरीत हिंदी-साहित्य के विद्वान् वैज्ञानिक दृष्टिकोण के ऐसे समर्थक हो गये हैं कि वे तारीख और नाम को ही साहित्य की प्रामाणिकता का एकमात्र कसौटी मान बैठे हैं। यह स्थिति भी खतरों से खाली नहीं है।

एक विदेशी विद्वान् (बुलर) ने वीरगाथा-काल के सबसे महत्त्वपूर्ण काव्य, 'पृथ्वी-राजरासो' का प्रकाशन कुछ ऐसे ही कारणों से स्थगित करा दिया था। उसके बाद तो हिंदी के विद्वान् दो दलों में बँट गये और उनके बीच खूब तर्क-वितर्क हुआ कि रासो प्रामाणिक है या जाली।

वस्तुतः यह सैद्धांतिक प्रश्न है, और बहुत दूर तक जो बात एक प्राचीन काव्य पर लागू होगी वही, सामान्य रूप से, सभी देशों के ऐसे काव्यों के लिए सच होगी। इस तथ्य की अवहेलना करने के कारण साहित्यिक इतिहासों में भी ऐसे काव्यों की प्रामाणिकता का ही विवेचन होता रह जाता है और इनका साहित्यिक मूल्यांकन उपेक्षित रह जाता है।

क्या हिंदी के विद्वानों को मालूम नहीं कि 'पृथ्वीराजरासो' या वीर-गाथा-काल की अन्य रचनाओं की तरह होमर के काव्य भी प्रामाणिकता की दृष्टि से विशेषज्ञों के लिए आज भी विषय बने हुए हैं, और 'Homeric Problem' होमरीय समस्या—कभी न सुलझनेवाली गुत्थी मान ली गई है? और तो और, क्या शेक्सपियर नामक नाटककार सचमुच कभी था? इस विषय पर 'Baconian theory' बेकन-सिद्धान्त—के समर्थकों ने तो इतना लिखा है कि छोटा-मोटा पुस्तकालय बन जाय! और क्या व्यास या वाल्मीकि का अस्तित्व भी था? और पुराण? और क्या भास के नाम पर स्वीकृत नाटक वस्तुतः भास के थे? विशेषज्ञ इन प्रश्नों को लेकर निरन्तर अनुसंधान कर रहे हैं। उनके परिणामों और निष्कर्षों से, यदि वे वहाँ

तक पहुँच सके, तो साहित्यिकइतिहासों के विवरणों में थोड़े-बहुत परिवर्त्तन आवश्यक हो जा सकते हैं, किंतु अधिकांश में, इस प्रकार के शोध और साहित्यिक इतिहास के क्षेत्र और कार्य भिन्न हैं और उन्हें अपनी सीमाओं का ध्यान रखना उचित है ।

इस समस्या का गवेषणात्मक से भिन्न, साहित्यिक समाधान यह है कि प्राचीन काव्यों के संप्रति निश्चित रूप और उनके संबंध में बद्धमूल परंपरा उनकी प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त हैं । यदि कर्नल टॉड ने पृथ्वीराजरासो के आधार पर राजस्थान का इतिहास पुनर्निर्मित करने का प्रयास किया था, तो विशुद्ध इतिहास-विज्ञान की दृष्टि से उन्होंने अपने निष्कर्षों के लिए गलत आधार चुना था, किंतु यदि बुलर के निश्चय की अवहेलना कर नागरी-प्रचारिणी सभा ने यह निश्चय किया था कि रॉयल एशियाटिक सोसायटी के द्वारा स्थगित रासो के प्रकाशन-कार्य को वह पूरा करेगी, तो, एक साहित्यिक संस्था होने के नाते, उसने स्तुत्य निर्णय करने का साहस दिखाया था, और इसी प्रकार, शुक्लजी ने पृथ्वीराजरासो या वैसी अन्य छोटी-बड़ी रचनाओं के आधार पर वीरगाथा-काल की उद्‌भावना की थी, उसका विवरण दिया था, साहित्यिक विवेचन प्रस्तुत किया था, तो उन्होंने भी साहित्यिक इतिहासकार के सर्वथा अनुरूप दृष्टिकोण स्वीकार किया था । बुलर ने पृथ्वीराजरासो का प्रकाशन तो स्थगित करा दिया था; क्या वे एलियड और ओडेस्सी के बारे में भी, यदि उन्हें ऐसा अधिकार होता भी, यह रुख अख्तियार करते, और यदि करते, तो उन्हें अन्य साहित्यिकों का समर्थन भी प्राप्त होता ?

इसी समस्या को ध्यान में रखकर सिद्धांततः महाकाव्यों के दो वर्ग माने जाते हैं । एक तो परंपरागत (Traditional) महाकाव्यों का वर्ग होता है, और दूसरा साहित्यिक महाकाव्यों का । पहले वर्ग के महाकाव्यों को विकास के महाकाव्य (Epics of Growth) भी कहते हैं, जिससे उनके वास्तविक रूप का स्पष्टीकरण हो जाता है । रघुवंश या रामचरितमानस या पैरेडाइज लास्ट साहित्यिक महाकाव्य हैं; वाल्मीकि रामायण और महाभारत और एलियड और ओडेस्सी और पृथ्वीराजरासो विकास के महाकाव्य हैं ।

विकास के ये महाकाव्य एक व्यक्ति या किसी निश्चित अवधि के अंदर नहीं लिखे गये थे । यदि किसी व्यक्ति एक व्यक्ति का नाम किसी ऐसी रचना के साथ जुड़ा हुआ है, तो इसलिए कि उसकी कल्पना उसने की थी, कुछ इसलिए नहीं कि उसने अपनी कृति को शुरू कर खत्म भी कर लिया होगा । यह संभव भी नहीं हैं; क्योंकि रचनाएँ बहुत कुछ पुराणों की प्रकृति की होती हैं, जिनका रचना-काल एक नहीं, अनेक युगों में विस्तीर्ण रहता है; क्योंकि उनमें एक प्रतिपालक का चरितांकन तो मुख्य रूप से होता है, पर उसके वंशधरों का भी गौण रूप से, मूल कवि के वंशजों के द्वारा होता चला जाता है । कभी-कभी कुछ विद्वान्, भाषा-शैली के आत्मनिर्धारित निकषों के सहारे, ऐसे काव्यों के मूल अंश को छाँट निकालने का प्रयत्न करते हैं, पर यह तो बहुत बड़ी बात है, स्पष्टतः प्रक्षिप्त अंशों के अतिरिक्त दूसरे छोटे अंशों को भी अस्वीकृत करना अवांछनीय माना गया है । पूना से महाभारत का जो संस्करण प्रकाशित हो रहा है, उसकेसंपादकों को प्राच्य-विद्या-विशारद विंटरनित्स ने यही सलाह दी थी और उन्हें सावधान किया था कि वैज्ञानिक संपादन के नाम पर कहीं वे अर्थ का अनर्थ न कर डालें ।

विकास के महाकाव्यों की रचना होती नहीं, होती चलती है; उसकी रचनावधि भी

निश्चित नहीं होती, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अनेक रचयिताओं और विस्तीर्ण अवधि के फलस्वरूप धीरे-धीरे ऐतिहासिक तथ्य धूमिल पड़ते जाते हैं और उनकी बहुत अधिक उपयोगिता नहीं रह जाती। फिर भी, नाम और तिथि की दृष्टि से अनुपयोगी होने पर भी, न केवल साहित्यिक इतिहास के लिए, प्रत्युत सांस्कृतिक इतिहास के लिए भी, ऐसे काव्य महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं, और अगर पार्जिटर जैसा परिश्रमी विद्वान् हो, तो जैसे उसने पुराणों से भारतीय इतिहास की आधारभूत सामग्री संकलित कर ली थी, उसी तरह वह इन काव्यों से भी राजनीतिक इतिहास के लिए पर्याप्त तथ्य इकट्ठे कर ले सकता है।

जहाँ तक साहित्यिक मूल्यांकन, प्रवृत्ति-निरूपण तथा परंपरा-निर्धारण का प्रश्न है, जो साहित्यिक इतिहासकार के लक्ष्य होते हैं, ये काव्य उतने ही महत्त्वपूर्ण होते हैं, जितने साहित्यिक महाकाव्य। वीरगाथा-काल की वीर या प्रेम-गाथाओं का उसी दृष्टिकोण से अध्ययन होना चाहिए। जिन्होंने ऐसा किया है, उन्होंने साहित्यिक इतिहासकार के दायित्व का पालन किया है।

(ग) लोकवार्त्ता

हिंदी में हम ढीले-ढाले ढंग से लोक-साहित्य शब्द का व्यवहार करते हैं। अँगरेजी में लोकवार्त्ता (Folk Lore) शब्द का व्यवहार होता है, हालांकि उसमें थोड़े भ्रम की भी गुंजाइश रहती है। उदाहरण के लिए, फ्रांसीसी और स्कैन्डेनेवीय भाषाओं में लोकवार्त्ता के अन्तर्गत परम्परागत गृह-रूप, कृषिसंबंधी रूढ़ियाँ, कपड़ा बिनने के तरीके—ये सभी तथा अन्य नृशास्त्रीय विषय भी आते हैं। इसके विपरीत अँगरेजी में यह शब्द, साधारणतः, सामान्य जनता की मौखिक या लिखित परम्पराओं को ही व्यक्त करता है—यह दूसरी बात है कि इस परिभाषा की परिधि भी, विषय और शैली की दृष्टि से, अनेक बिन्दुओं पर नृशास्त्र की सीमाओं के सम्पर्क में आ ही जाती है।

लोकवार्त्ता के अन्तर्गत सभी प्रकार के लोकगीत, लोककथाएँ, अंधविश्वास, स्थानिक जनश्रुतियाँ, कहावतें, बुझौवल आ जाते हैं। लोकवार्त्ता की तात्त्विक विशेषता यह है कि वह परम्परागत होती है। वह जन-समुदाय, जिसमें लोकवार्त्ता संपृक्त रहती है, मौलिकता के महत्त्व को अस्वीकार कर देती है। उसके लिए तो वही प्रामाणिक है, जो पुराना है। मौसम के बारे में कहावतों में भविष्यवाणी रहती है, बीमारियों के नुस्खे बड़े-बूढ़े बना जाते हैं! यह समुदाय नवीन जीवन-प्रणालियों से दूर ही रहता है।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत से लोकवार्त्ता के विषय में विद्वानों की अभिरुचि बढ़ी और उसके अध्ययन को पर्सी की पुस्तक Reliques of Ancient English Poetry से विशेष प्रेरणा मिली, जो १७६५ में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद तो समूचे योरोप में, और तदनन्तर अमेरिका में लोकगीतों के संग्रह का कार्य शुरू हो गया। इसके साथ ही साथ लोकगीतों के उद्भव और महत्त्व के संबंध में सैद्धांतिक विवेचन का आरंभ हुआ।

लोकगीतों के आकर्षण के दो कारण हैं। पहले तो यह कि उसमें मनोविनोद होता है और उसका संबंध उत्सवों के साथ रहता है। दूसरे रूमानी रुझान के विद्वानों की दृष्टि में लोकगीत विशुद्ध रूप से मिट्टी की उपज हैं, और इसलिए सर्वसाधारण को भी और सुसंस्कृत

व्यक्तियों को भी वह समान रूप से प्रभावित और आकृष्ट करता है, और दोनों के बीच संबंध स्थापित करने में समर्थ होता है। उनकी दृष्टि में लोकगीतों के अध्ययन से यह लाभ होता है कि हम सफल पारम्परिक व्यवहार की शताब्दियों की कालावधि में बद्धमूल विचारों और काव्यात्मक प्रणालियों को प्रत्यक्ष रूप से पहचान और समझ सकते हैं। बाद के विद्वानों ने इस रूमानी दृष्टिकोण का तो परित्याग कर दिया, किंतु वे लोकगीतों का संग्रह करते रहे और संगृहीत सामग्री के वैज्ञानिक मूल्यांकन की प्रणालियाँ उद्भावित करने में सचेष्ट रहे।

विद्वानों के एक अपेक्षाकृत छोटे वर्ग ने लोककथा को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। चूंकि लोककथा विस्तार में सार्वभौम है, इसलिए इसके संग्रह का कार्य भी तीव्रता से बढ़ता चला गया है और पिछली शताब्दी में इसके संघटन की पद्धतियों का सतर्कता से विकास किया गया है। इस विकास में शायद सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है ऐतिहासिक भौगोलिक पद्धति का।

यह एक विवादास्पद विषय है कि पारस्परिक साहित्यिक कथाओं को लोककथा माना जाय या नहीं। व्यवहार में अवश्य ही मौखिक परम्परा को लिखित परम्परा से अलग कर सकना कठिन है, किन्तु दोनों के अध्ययन की प्रणालियाँ मूलतः भिन्न हैं। मौखिक परंपरा, जिस रूप में ही साधारणतः लोक-कथा स्वीकृत होती है, स्मरण-शक्ति की अनिश्चयता के खतरे से गुजरती है, और उसकी समस्याएँ उस लिखित परंपरा से भिन्न होती हैं, जो पाण्डुलिपियों, मुद्रित संस्करणों और ज्ञात लेखकों पर आश्रित रहती हैं। जब दो परंपराएँ एक दूसरे को प्रभावित करती हैं, तब विद्वानों के द्वारा विचारणीय समस्या अत्यधिक जटिल हो जाती है।

चूंकि लोकवार्त्ता मूलतः जनता की वाणी से संकलित की जाती है, इसलिए, यदि उसके संग्रह और सुरक्षा पर पूरा ध्यान न दिया गया, तो उसके नष्ट हो जाने की आशंका बनी रहती है। योरोपीय देशों में, विशेष रूप से उनमें जहाँ समृद्ध मौखिक परंपरा वर्त्तमान है, सरकारी देख-रेख में काम करनेवाले संग्रहालय हैं, जहाँ संग्रह-कार्य की सम्यक् योजना बनाई जाती है और उसे कार्यान्वित किया जाता है, तथा लोक-वार्त्तासंबंधी संगृहीत सामग्री रक्षित, अधीत और सूचीबद्ध होती है।

लोकवार्त्ता आकर्षक विषय है। बहुतेरे लोग जो अपने कार्यवश लोक-सम्पर्क में आते रहते हैं, जैसे छात्र, चिकित्सक, वकील आदि पारम्परिक सामग्री के संकलन का शौक रखते हैं। इनका दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय होता है और ये इस तथ्य में विशेष अभिरुचि नहीं रखते कि ये परंपराएँ संसार भर में समान रूप में विस्तीर्ण पाई जाती हैं। इसके विपरीत लोकवार्त्ता का विशेषज्ञ कभी-कभी मौखिक परंपराओं की सार्वदेशिक समानताओं में इस तरह दिलचस्पी लेने लगता है कि वह परंपरा के वाहक व्यक्ति पर ध्यान ही नहीं देता। इस शताब्दी में नवीन दृष्टिकोण रखनेवाले लोकवार्त्ता-विशारदों की नई पीढ़ी ने लोकवार्त्ता के अध्ययन को सुव्यवस्थित, संतुलित और वैज्ञानिक बनाने का सफल प्रयास किया है।

(घ) उपसंहार

इस तनिक विस्तृत अध्ययन से इसका अनुमान किया जा सकता है कि साहित्येतिहास के क्षेत्र में पाश्चात्य देशों में कितनी अधिक पद्धतियाँ व्यवहृत होती और हो रही हैं। इनमें केवल भिन्नताएँ ही नहीं हैं, कुछ समानताएँ भी हैं। ये केवल निषेधात्मक ही नहीं हैं। इनमें

समन्वय, वैचारिक साहस और दार्शनिक सूक्ष्मता भी है। इनमें कला-कृति के, उसकी समग्रता और अन्विति में, अधिकाधिक गहन विश्लेषण की प्रचेष्टा भी है। विस्तार और संकोचन दोनों ही स्वास्थ्य के लक्षण हैं, किंतु इनके अतिवादी रूपों के अपने खतरे भी हैं। साहसिक विचारण विस्तृत क्षेत्र, सूक्ष्म विश्लेषण, और विवेकपूर्ण निर्णयों के सामने हम यह भूल जा सकते हैं कि प्राचीन पाठावलंबी अध्ययन का उत्कृष्ट रूप हमें प्रासंगिक तथ्यों का ठोस अंतस्संस्थान प्रदान करता था। हमें आज ऐसे वैदुष्य की अपेक्षा है, जो साहित्य—कला के रूप में भी तथा हमारी सभ्यता की अभिव्यक्ति के रूप में भी—के अनुशीलन की मुख्य समस्याओं की परिधि में केन्द्रित हो।

आकर-साहित्य-विवरण

(क) साहित्य तथा समाज

ARISTOTLE. The Rhetoric of Aristotle. Edited by Lane Cooper, New York, 1932.

—— Nicomachean Ethics.

—— Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts.
Edited by S. H. Bucher. Cambridge : At the University Press, 1875.

BACON, F. Advancement of Learning. Book II.

BALDENSPERGER, FERDINAND, La Littérature : Création, Succes durée. Paris 1913.

BALET, LEO. Die Verbürgerlichung der deutschen Kunst, Literature, und Musik in 18. Jahrhundert. Leipzig, 1936.

BENTHAM, J. Tables of Springs of Action. London, 1817.

—— Books of Fallacies. London, 1824.
Benthem's Theory of Fictions. Edited with an Introduction by C. K. Ogden. London, 1932.

BURCKHARDT, J. The Civilization of the Renaissance in Italy. Several editions.

—— Force and Freedom: Reflections on History. Edited by J. H. Nichols. New York, 1943.

BURKE, KENNETH. Counter-Statement. New York, 1931.

—— Permanence and Change : An Anatomy of Purpose. New York, 1935.

—— Attitudes toward History. 2 Vols. New York, 1937.

—— The Philosophy of Literary Form : Studies in Symbolic Action. Baton Rough La : Louisiana State University Press, 1941.

—— A Grammar of Motives. New York, 1945.

—— A Rhetoric of Motives. New York, 1950.

—— Review of A Rhetoric of Motives by Hugh Dalziel Duncan

in American Journal of Sociology Vol. LVI, No. 6 (May, 1951).

CAILLOIS, ROGER. Sociologí a de la novela. Buenos Aires, 1942.

CARLYLE, THOMAS. Sartor resartus. Book III.

CASSAGNE, ALBERT. La Théories de l'art pour l'art en France chez les derniers romantiques et les premiers réalistes. Paris, 1906.

CASSIRER, ERNST. Language and Myth. Translated by S. K. Langer. New York, 1946.

—— Philosophie der symbolischen Formen. Book I : Die Sprache. Berlin, 1923. Book II : Das mysthische Denken. Berlin, 1925. Book III : Phänomenologie der Erkenntnis. Berlin, 1929.

CAUDWELL, CHRISTOPHER. Illusion and Reality. London, 1937.

CHADWICK, H. Munro AND N. KERSHAW. The Growth of Literature. 3 Vols. Cambridge, 1932, 1936, 1940.

COLERIDGE, S. T. Biographia literaria. Several editions.

COLLINGWOOD, R. G. The Principles of Art. Oxford, 1938.

CROCE, BENEDETTO. La Critica letteraria: Qestioni teoriche. Rome, 1894. Reprinted in Primi saggi (2nd ed. Bari, 1927), pp. 77-199.

DAICHES, DAVID. Literature and Society. London, 1938.

—— The Novel and the Modern World. Chicago, 1939.

—— Poetry and the Modern World. Chicago, 1940.

DEWEY, JOHN. Art as Experience. New York 1934.

DIRTHEY, W. Der Aufban der geschichtlichen Welt in den Geisteswissenschaften. Leipzig and Berlin, 1943. Vol. VII of Gesammelte Schriften (II Vols.; Leipzig and Berlin: B. G. Teubner, 1921-1936).

—— Die geistige Welt. Leipzig and Berlin, 1924. Vols. V and VI of Gesemmelte Schriften. See esp. "Dichterische Einbildungskraft und Wahnsinn." "Die Einbildungskraft des Dichters: Bausteine für eine Poetik"; "Die drei Epochen der moderenen Ästhetik und ihre heutige Aufgabe" (in Vol. VI of Gesammelte Schriften).

—— Das Erlebnis und die Dichtung. 3d enl. ed. Leipzig, 1910.

WILHEM DILTHEY : An Introduction. By H. A. Hodges. New York, 1944.

"WILHELM DILTHEY's Application of His 'Erlebnis' Theory to English Literature". Dissertation by Adolphe Zech. Stanford University, 1938.

EMPSON, WILLIAM. English Pastoral Poetry. New York 1938.
—— Seven Types of Ambiguity. London, 1947.
—— The Structure of Complex Words. London, 1951.
FERGUSSON, F. The Idea of Theatre. Princeton: Princeton University Press, 1949.
FINKLESTEIN, S. Art and Society. New York, 1947.
FOS, MARTIN. Symbol and Metaphor in Human Experience. Princeton: Princeton University Press, 1948.
FREUD, S. Wit and its Relation to the Unconscious, London, 1916.
—— The Interpretation of Dream. London, 1913.
FRÉVILLE, JEAN. Sur la litt'erature et l'art, 2 Vols. Paris, 1936.
GUÉRARD, ALBERT L. Literature and Society. New York, 1935.
GUYAU, J. L'Art an point de vue sociologique. Paris, 1889.
HANDWÖRTERBUCH der Soziologie. Edited by A. Vierkandt. Stuttgar, 1931.
HENDERSON, P. Literature and a changing Civilization. London, 1935.
—— The Novel of To-day: Studies in Contemporary Attitudes. Oxford, 1936.
HUIZINGA, J. The Waning of the Middle Ages: A Study of the Form of Life, Thought, and Art in France and the Netherlands in the XIVth and XVth Centuries. Leiden, 1924.
KANT, IMMANUEL. Kant's Critique of Aesthetic Judgment. Translated, with seven introductory essays, notes, and analytic index, by James Creed Meredith Oxford, 1911.
KERN, ALEXANDER C. "The Sociology of Knowledge in the study of Literature", Sewance Review, L (1942), 505-14.
KLINGENDER, F. D. Marxism and Modern Art, London, 1943.
KNIGHTS, L. C. Drama and S ciety in the Age of Jonson, London, 1937.
KÖNIG, RENÉ. "Literarische Geschmacksbildung," Das dentsche Wort, XIII (1937), 71–82
KOHN-BRANSTEDT, E. Aristocracy and the Middle Classes in Germany: Social Types in German Literature, 1830–1900. London, 1937. (Contains Introduction, "The Sociological Approach to Literature".)
LALO, CHARLES. L'Art et la vie sociale. Paris, 1921.
LANGER, SUSANNE K. Philosophy in a New Key: A Study in the Symbolism of Reason, Rite and Art. London and New York, 1948,

LANSON, GUSTAVE. "L' Histoire litt'eraire et la sociologie", "Revue de métaphysique et morale, XII (1904), (621–42).

LASSWELL, H.; SMITH, B. L. AND COSEY, R. D. Propoganda, Communication and Public Opinion : A Comprehensive Reference Guide Princeton : Princeton University Press, 1946.

LEAVIS, Q. D. Fiction and the Reading Public. London, 1932.

LERNER, MAX AND MIMS, EDWIN. "Literature", Encyclopaedia of the Social Sciences, IX (1933), 523–41.

LEVIN, HARRY. "Literature as an Institution", Accent, VI (1946), 159–68.

LIFSHITZ, M. The Philosophy of Art of Karl Marx. Translated by R. B. Winn. New York 1938.

LÖWENTHAL, L. "Zur gesellschaftlichen Lage der Literatur", Zeitschrift für Sozialforschung, Vol. 1 (1932)

LUKÁCS, GEORG. Die Thearie des Romans : Ein geschichts-philosopher Versuch über die Formen der grossen Epik. Berlin, 1920.

—— "Zur Soziologie des modernen Dramas" Part I and II, Archiv für Sozialwissenschaft und Sozial politik, XXXVIII (1914), 303–45, 662–706.

MCKEON, RICHARD. "The Philosophic Bases of Art and Criticism", Modern Philology, XLI, Nos 2-3. (November-February, 1943-44), 65–171.

—— "Literary Criticism and the Concept of Imitation in Antiquity", ibid., XXXIV (1936), 1–34.

MALINOWSKI, B. Coral Garden and Their Magic : A Study of the Methods of Tilling the Soil and of the Agricultural Rites in the Trobriand Islands. 2 Vols. London, 1935.

—— ,Myth in Primitive Psychology. New York, 1926.

MARTIN, ALFRED VON. Soziologie der Renaissanc. Suttgart, 1932.

MARX, KARL, AND ENGELS, FRIEDRICH. The German Ideology, Edited with an Introduction by R. Pascal, New York, 1947.

MEAD, G. H. "The Nature of Aesthetic Experience", International Journal, of Ethics, XXXVI (1926), 384–87. Reprinted with further notes as Chap. XXIII of the Philosophy of the Act (Chicago : University of Chicago Press, 1938).

MORRIS, WILLIAM. On Art and Socialism: Essays and Lectures, Selected, with an Introduction, by Holbrook Jackson. London, 1947.

NEEDHAM, H. A. Le Développement de l'esthetiqué sociologique en France, et en Angleterre an XIXe siécle. Paris, 1926.

—— Sidney : An Apology for Poetry—Shelley : A Defense of Poetry. Edited, with Introduction and Notes, by H. A. Needham. London, n.d.

NIETZSCHE, F. The Birth of Tragedy. Several editions.

OGDEN, C. K.; AND RICHARDS, I. A. The Meaning of Meaning. A Study of the Influence of Language upon Thought and of the Science of Symbolism, with Supplementary Essays by B. Malinowski and F. G. Crookshank. 7th ed. New York, 1945.

PARK, ROBERT E. "Reflections on Communication and Culture", American Journal of Sociology, XLIV (1938), 187–205.

PLATO. Republic.

PLEKHANOV, GEORGE V. Art and Society. Translated from the Russian by Paul S. Leitner, Alfred Goldstein, and C. H. Crout. New York : Critics Group, 1937.

POLLOCK, T. C. The Nature of Literature : Its Relation to Science, Language, and Human Experience. Princeton: Princeton University Press, 1942.

READ, HERBERT. Art and Society. London, 1937.

RIBOT, T. L'Imagination créatrice. Paris, 1900.

RICHARDS, I. A. Mencius on the mind : Experiments in Multiple Definition. London, 1932.

—— The Philosophy of Rhetoric. London, 1936.

—— Principles of Literary Criticism. New York, 1925.

SAPIR, EDWARD. Language. New York, 1921.

—— "Communication", Encyclopaedia of the Social Sciences. Vol. IV.

SARTRE, JEAN P. L'Imagination. Paris, 1936.

SCHOPENHAUER, A. The Art of Controversy, and Other Posthumous Papers. Selected and Translated by T. Bailey Saunders. London, 1886.

SCHÜCKING, L. L. The Sociology of Literary Taste. Translated from the German by E. W. Dicks. London, 1944.

—— "Literarische 'Fehlurteile': Ein Beitrag zur Lehre vom Geschmacksträgertyp", Dentsche Vierteljahrsschrift für Lit. wiss und Geistesgesch X(1932), 371–86.

SEWTER, A. C. "The Possibilities of a Sociology of Art," Sociological Review (London), XXVII (1935), 441–53.

SOROKIN, P. Fluctuations of Forms of Art. Vol. I of Social and Cultural

Dynamics. Cincinnati: American Book Co., 1937.

SPITZER, L. Linguistics and Literary History : Essay in Stylistics. Princeton: Princeton University Press, 1948.

STRAUSS, WALTER. Vorfragen einer Soziologie der literarischen Wirkung. Diss., Cologne, 1934.

TATE, ALLEN. On the Limits of Poetry. New York, 1948.

THOMSON, G. Aeschylus and Athens: A Study in the Social Origin of the Drama. London, 1941.

TOMARS, A. S. Introduction to the Sociology of Art. Mexico City, 1940.

TOLSTOI, L. What Is Art and Essays on Art. Translated by A. Maude. Oxford, 1930.

TRILLING, LIONEL. "Art and Fortune", Partisan Review, December 1948 p. 1271.

—— The Liberal Imagination. New York, 1950.

TROTSKY, L. Literature and Revolution. Translated from the Russian by Rose Streensky. New York, 1925.

URBAN, WILBUR M. Language and Reality : The Philosophy of Language and the Principles of Symbolism. London, 1939.

VICO, GIAMBATTISTA. The New Science of Giambattista Vico. Translated from the 3rd. ed. by Thomas Goddard Bergin and Max Harold Fisch. Ithaca, N. Y.: Cornell University Press, 1948.

VIËTOR, K. "Programme einer Literature soziologie", Volk im Werden, 11 (1934), 35–44.

WEBER, MAX. Gesammelte Aufsätza zur Religions soziologie. 3 Vols. Tübingen, 1920. See esp. "The Chinese Literati" from Konfuszianisnms und Taoisnms, as translated by H. H. Gerth and C. Wright Mils in from Max Weber : Essays in Sociology (Oxford, 1946).

WELLEK, RENÉ, AND WARREN, AUSTIN. Theory of Literature. New York, 1949.

WINTERS, YVOR. In Defense of Reason. New York, 1947.

WITTE, W. "The Sociological Approach to Literature", Modern Language Review, XXXVI (1941), 86–94.

ZIEGENFUSS, W. "Keenst" Handwörterbuch der Soziologie. Edited by Alfred Vierkandt. Stuttgart, 1931.

(ख) साहित्य का सामाजिक महत्त्व

ANON. "Whither the American Writer ?" (questionnaire), Modern Quarterly, VI (Summer, 1932), II-9.

ARAGO, E. "La République et les artistes", Revue Républicaine, II (1834), 14.

ARANOLD, MATTHEW. Culture and Anarchy. Several Editions.

ARVIN, NEWTON. "Literature and Social Change", Modern Quarterly, VI (Summer, 1932), 20–25.

BENDA, J. Belpregor, Essai sur l'esthétique de la présente Société francaise Paris: Emile-Paul, 1919.

BERSOT, E. Litt'erature et morale (articles extraits pour la plupart du "Journal des Debats"). Paris: Charpentier. 1861.

BLACKMUR, R. P. The Expense of Greatness. New York, 1940.

BLANC, L. "De L' influence de la sociéte sur la litterature", Revue Républicaine, I (1834). 276.

—— "Avenir littéraire," Revue du Progrés, I (1839), 126.

BONALD, L. De. Des progés ou de la décadence des letters. In his Œuvres, Vol. XI (1810).

BONAPARTE, M. "A Defense of Biography", International Journal of Psycho-analysis, XX (1939), 231–40.

BONUY, HAROLD V. Reading: An Historical and Psychological Study. Gravesend : A. J. Philip, 1939.

BRUNETIÉRE, F. L' Art et la morale. 2d. ed. Paris: Hetzel, 1898.

BUKHARIN, N. "Poetry, Poetics and the Problems of Poetry in the U.S.S.R" In Scott, H. G. (ed.), Problems of Soviet Literature. New York, n. d.

BULLOZ, J. E. "L' Education populaire et les chefs-d' oeuvre de l'art. Paris: Braun, 1896.

BURKE, KENNETH. "Acceptance and Rejection," Southern Review, II, No.3 (1936-37), 600.

—— "Symbolic War", ibid., No. 1, 134.

CAIRD, E. Essays on Literature and Philosophy, I 54, "Goethe and Philosophy." 2 Vols. Glasgow: Madehose, 1892.

CALVERTON, V. F. "Art and Social Change : A controversy, the Radical Approach," Modern Quarterly, VI (Winter, 1931), 16-27.

CARPENTER, F. Angel's Wings—a series of Essays on Art and Its Relations to Life. London: Allen & Unwin, 1898. 6th ed., 1920.

CASSAGNE, ALBERT. La Théorie de l'art pour l'art en France chez les derniers romantiques el les premiers réalistes. Paris, 1906.

CHASE, RICHARD. "Art, Nature, Politics", Kenyon Review, (Winter, 1950), 580.

CHENIER, A. "Sur les causes et les effects de la décadence des letters" (fragment). In his Œuvres en prose. Paris : Gosselin, 1840; 1st ed., 1819.

COUYBA, CH. M. L'Art et la démocratie. Paris : Flammarion, 1902.

DESCAMPS, A. "Les Arts et l'industrie an XIX^{e} siécle," Révue républicaine III (1834), 27; IV (1835), 175.

DOUTRÉPONT, GEORGES. Les Types populaires de la ittérature francaise ("Publication of the Académie royale de Belgique des Sciences, des letters et des beaux-arts de Belgique", 2d. ser., Vol. XXII, Part I.) Brussels, 1926.

DUSSIEUX, L. L'Art considéré comme le symbole de l'état social, on tablean historique et synoptique du développement des beaux-arts en France. Paris : Derand, 1839.

ELIOT, T. S. "Poetry and Propaganda", Book, LXX (February, 1930), 595–602.

ELIOT, T. S. The Use of Poetry and The Use of Criticism. London, 1933.

FARRELL, JAMES T. Literature and Morality. New York, 1947.

Fellows in American Letters of the Library of Congress (eds.) The Case against the Saturday Review of Literature. Chicago, 1949.

FERGUSSON, FRANCIS. "Action as Passion", Kenyon Review, autumn, 1947, p. 201.

—— "Action as Rational : Racince's Bérénice", Hudson Review, Summer, 1948, p.188.

FLORES, ANGEL (ed.). Literature and Marxism. New York, 1938.

FOX, RALPH. The Novel and the People. New York, 1937.

FRYE, NORTHROP. "Levels of Meaning in Literature," Kenyon Review, Spring, 1950, p. 246.

GALABERT, E. Les Fondements de t'esthélique scientifique. Paris : Giard & Briére. Reprinted from Revue international de sociologie, January, 1898.

—— Le Rôle social de l'art. Paris : Giard & Briére. Reprinted from Revue internationale de sociologie, January, 1898.

—— Le Rôle social de l'art. Paris : Giard & Briére. Reprinted from Revue internationale de sociologie, August-September, 1898.

—— L' Evolution esthétique. Paris : Giard & Briére. Reprinted from Revue internationale de sociologie. October, 1898.

GALSWORTHY, JOHN. "The Creation of character in Literature," Bookman, LXXIII, No.6 (1931), 561–69.

GAULTIER, P. "Le Rôle social de l'art". Revue de philologie, LXI (1906), 391–409.

GOTSHALK, D. W. Art and the Social Order. Chicago : University of Chicago Press, 1947.

GORKY, MAXIM. Culture and the People. New York, 1939.

GRASSERIE, R. De La. "Des rapports de la sociologie et de l'esthétique. Paris : Imprimerie nationale, 1906.

GUÉRARD, ALBERT. Art for Art's Sake. Boston : Lothrop, Lee, & Shephard, 1936.

GUYAN, MARIE J. Les Problémes de l'esthétique contemporaine. 4th ed. Paris, 1897.

HAZLETT, HENRY. "Art and Social Change : A Controversy. The Eclectic Approach," Modern Quarterly, VI (Winter, 1931), 10–15.

HIGHEST, GILBERT. The Classical Tradition. New York, 1949.

HIRGEL, RUDOLPH. Der Dialog : Ein literar-historischer versuch. Leipzig. 1895.

The Importance of Literature to Men of Business. (Series of addresses delivered at various popular institutions, revised and corrected by the authors.) London and Glasgow, 1852.

JACKSON, HOLBROOK. The Fear of Books. London and New York, 1932.

KENTON, EDNA. "The Beginnings of the 'Problem Novel,'' Bookman, XLIII (June, 1916), 434-49.

KNIGHTS, L. C. Drama and Society in the Age of Jonson. London, 1937.

KRUTCH, J. W. "Literature and Propaganda", English Journal, XXII (December, 1933), 793—802.

LALO, CHARLES. L'Expression de la vie dans l'art. Paris, 1933.

—— L'Art et la morale. Paris : Alcan, 1922.

LASSWELL, HAROLD D. "The Person : Subject and Object of Propaganda," Annals of the American Academy of Political and Social Science, CLXXIX (May, 1935), 187–93.

LEE, ALFRED McCLUNG, & LEE, E. B. (ed.) The Fine Art of Propaganda : A Study of Father Coughlin's Speeches. New York : Harcourt, Brace & Co., 1939.

LETOURNEAN, CH. L'Evolution littéraire dans les diverses races humaines. Paris : Battaille, 1894.

LEWES, G. H. "The Principles of Success in Literature", six articles in the Fortnightly Review, Vol. I and II (1865).

LEWIS, WYNDHAM. "Detachment and the Fictionist", English Review, LIX (October, 1934), 441–52; (November, 1934), 564–73.

—— Men without Art. London, 1934.

LOWES, JOHN L. Convention and Revolt in Poetry. Boston, 1928.

MAIGRON, L. Le Romantisme et la mode. Paris 1910.

—— Le Romantisme et les moeurs : essai d'etude historique et sociale, d'après des documents inédits. Paris, 1910.

MOCK, JAMES P., AND LARSEN, CEDRIC. Words that Won the War : The Story of the Committee on Public Information 1917–19. Princeton: Princeton University Press, 1939.

MONTENACH, G. Propaganda esthétique et sociale: la formation du goût dans l'art et dans la vie. Fribourg, Switzerland, 1914.

MULLER, HERBERT J. The Modern Conception of Tragedy. Ithaca, N.Y., 1932.

—— Modern Fiction : A Study of Values. New York and London : Funk & Wagnalls, 1937.

ORWELL, GEORGE. "Politics and the English Language." In Shooting an Elephant, pp. 81–101, London, 1950.

OWEN, CARROLL H. "The treatment of History in Gerhart Hauptmann's Dramas." Ph. D. diss., Cornell University, 1938.

PLANCHE, G. "Histoire et philosophie de l'art. VI Moralité de la poésie", Revue des deux mondes, February, 1835, p. 241.

PONSINET, L. Des rapports de la sociologie et de l'esthétique. Paris : Imprimerie nationale, 1906.

POUND, EZRA, CULTURE. Norfolk, Conn; New Directions Press, 1938.

PROUDHON, P. J. Les Majorats littéraires. 2d ed. Paris: Dentu, 1863.

—— Du principe de l'art et de sa destination sociale. In his Œuvres posthumes. Paris: Garnier, 1865.

RANSOM, JOHN CROWE. "The Pragmatics of Art." Kenyon Review, winter, 1940, p. 76.

READ, HERBERT. Poetry and Anarchism. New York, 1939.

REMUSAT, CH. DE. "De la mission des écrivains", Revue des deux mondes, XLIII (January 1, 1863), 57.

ROELLINGER, FRANCIS X., JR. "Two Theories of Poetry as Knowledge," Southern Review, VII, No. 4 (1941–42), 690.

Le Rôle intellectual de la presse. Paris : Société des nations, Institut international de coopération intellectuelle, 1933.

ROSE, L. LA. L'Art et l'époque. Paris: Grosset, 1914.

RUNES, D. D. "The Twilight of Literature", Modern Thinker, I (August, 1932), 323-24.

SAISSET, E. L'Ame et la vie : suivie d'un examen critique de l'esthétique francaise. Paris : Baillière, 1864.

SCANLAN, ROSS. "Drama as a Form of Persuasive Communication". Ph. D. diss., Cornell University, 1937.

SLOCHOWER, HARRY. "Thomas Mann and Universal Culture", Southern Review, IV, No.4 (1938-39), 726.

SMITH, BRUCE L.; LASSWELL, HAROLD D.; AND CASEY, RALPH. D. Propaganda, Communication, and Public Opinion. Princeton : Princeton University Press, 1946.

SOREL, G. La Valeur sociale de l'art (Conférence) Paris: Jacques, 1901.

STRACHEY, JOHN. Literature and Dialectical Materialism. New York, 1934.

STRICH, FRITZ. Dichtung und Zivilisation. Munich, 1928.

TATE, ALLEN. "Literature as Knowledge : Comment and Comparison," Southern Review VI (1940-41), 629-57.

—— "Mr. Bruke and the Historical Environment", ibid., II, No.2 (1936-37), 363.

THOMSON, GEORGE. Marxism and Poetry. New York, 1946.

TRILLING, LIONEL. "Manners, Morals, and the Novel," Kenyon Review, Winter, 1948, p. 11.

VANDERVELDE, E. Essais Socialisters : l'alcoolisme, la religion, l'art. Paris : Alcan, 1906.

VEBLEN, THORSTEIN. The Theory of the Leisure Class. New York, 1918.

WALBRIDGE, E. F. "Do Novelists Use Real People ?" Golden Book, VII (February, 1928), 765-75.

WALSH, D. "The Cognitive Content of Art", Philosophical Review, LII (1943), 443-51.

WALZEL, OSKAR. Das Prometheussymbol von Shaftesbury zu Goethe. Munich, 1932.

WILSON, EDMUND. The Triple Thinkers. New York, 1938.

WINTERS, YVOR. Primitivism and Decadence. New York, 1937.

(ग) भावा-संपत्ति

ARMSTRONG, EDWARD A. Shakespeare's Imagination : A Study of the Psychology of Association and Inspiration. London; Lindsay Drummond, Ltd., 1946.

BARFIELD, OWEN. Poetic Diction : A Study in Meaning. London, 1925.

BLOOMFIELD, L. Language. New York, 1933.

BOWRA, C. M. The Heritage of Symbolism. London, 1943.

BROOKS; CLEANTH. The Well Wrought Urn. New York, 1947.

BROWN, S. J. The World of Imagery : Metaphor and kindred Imagery. London, 1927.

BUCHANAN, SCOTT. Symbolic Distance. London, 1932.

BURKE, KENNETH. "Four Master Tropes". In his A Grammar of Motives, New York, 1946.

CASSIRER, ERNST. "Le Langage et la construction du monde des objects". In his Psychologie du langage. Paris, 1933.

—— Language and Myth. Translated by Susanne K. Langer. New York : Harper & Bros., 1946.

CLEMEN, COOLFGANG. Shakespears Bilder: Ihre Entwicklung und ihre Funktionen in dramatischen werk. Bonn, 1936.

COOMARA SWAMY, A. K. Figures of Speech or Figures of Thought. London, 1946.

DAICHES, DAVID. The place of meaning in Poetry, London : Oliver & Boyd, 1935.

DAY, LEWIS C. The Poetic Image. London, 1947.

EMPSON, WILLIAM. "The Need for 'Translation' theory in Linguistics," Psyche, XV (1935), 188–97.

—— Seven Types of Ambiguity. London : Chatto & Windus, 1930.

—— The Structure of Complex Words. London, 1951.

FIRTH, R. "Proverbs in Native Life, with Special Reference to those of the Maori," Parts I and II, Folk-Lore, XXXVII (London, 1926), 134–53, 245–70.

HATZFELD, HELMUT. "The Language of the Poet", Studies in Philology, XLII (1946), 93–120.

HERSCHBERGER, RUTH. "The Structure of Metaphore", Kenyon Review, V (1943), 433–43.

HOLMES, ELEZABETH. Aspects of Elezabethan Imagery : A Critique of Literary Method, Publications of the Modern Language Association, LVII (1942), 638–53.

HULME, T. E. Notes on Language and Style. Seattle, Wash, 1929.

JESPERSON, OTTO. Language ; Its Nature, Development, and Origin, New York, 1922,

KONRAD, H. Étude sur la métaphore. Paris, 1939.

LÉVY-BRUHL, L. L'Âme primitive. Paris, 1922.

MEAD, MARGRET. "Natives Languages as Fields-Work Tools," American Anthropologist, XLI (1939), 189–206.

Mencken, H. L (ed.). A New Dictionary of Quotations on Historical Principles from Ancient and Modern Sources. New York, 1942.

—— The American Language. Several eds.; latest revised, 1946. NewYork, 1946.

MILES, JOSEPHINE. The Vocabulary of Poetry : Three Studies. (University of California Publications in English," Vol· XII, Nos.1, 2 and 3) Berkeley and Los Angeles, 1942–46.

MORRIS, CHARLES. Signs, Languages, and Behavior. New York, 1946.

MORTON, A. L. Language of Men. London, 1945.

OGDEN,. C. K., AND RICHARDS, I. A. The Meaning of Meaning : A Study of the Influence of Language upon Thought and of the Science of Symbolism, with Supplementary Essays by B. Malinowski and F. G. Crookshank. 7th ed. New York, 1945.

PONGS, HERMANN. Das Bild in der Dichtung, Vol· I Versuch einer Morphologie der metaphorischen Formen. Marburg, 1927. Vol. II Voruntursuchungen zum Symbol. Marburg, 1939.

PIAGET, J. The Language and thought of the Child, London, 1926.

READ, A. W. "Words Indicating Social Status in America in the Eighteenth Century," American Speech, IX (October, 1934), 204–8.

REINECKE, JOHN E. "Marginal Languages : A Sociological Survey of the Creole Languages and Trade jargons." Ph. D. diss., Yale University, 1937.

RICHARDS, I. A. Science and Poetry. New York, 1926.

—— Coleridge on Imagination. New York, 1935.

—— The Philosophy of Rhetoric. London, 1936.

RIESER, MAX. "Analysis of the Poetic Simile," Journal of Philosophy, XXXVII (1940), 209–17.

ROBACK, A. A. A Dictionary of International Slurs (Ethnophanlisms), with a Supplementary Essays on Aspects of Ethnic Prejudice. Cambridge Mass., 1944.

SAPIR, EDWARD. "Language and Environment," American Anthropologist, XIV (1912), 226–42.

—— "Language as a Form of Human Behavior, "English Journal, XVI (1927), 421–23.

—— "Speech as a Personality Trait, "American Journal of Sociology, XXXII (1927), 892–905.

—— "Symbolism", Encyclopaedia of the Social Sciences, XIV (1934), 492–95.

SECHRIST, FRANK K. The Psychology of Unconventional Language. Worchester, Mass,. 1913.

SMITH, LOGAN PEARSALL. Words and Idioms. London, 1925.

STERN, GUSTAV. Meaning and Change of Meaning. Göteborg, 1931.

TATE, ALLEN (ed.). The Language of Poetry. Princeton : Princeton University Press, 1942.

TUVE, ROSAMUND. Elizabethan and Metaphysical Imagery. Chicago : University of Chicago Press, 1947.

—— A Reading of George Herbert. Chicago : University of Chicago Press, 1952.

VAILINGER, H. The Philosophy of "As If". Translated by C. K. Ogden. New York, 1935.

VENABLE, VERNON. "Poetic Reason in Thomas Mann," Virginia Quarterly Review, XIV (1938), 61–76.

WALL, BERNARD. "Question of Language" Partisan Review, September, 1948, p. 997.

WALSH, DOROTHY. "The Poetic Use of Language", Journal of Philosophy, XXXV (1938), 73–81.

WESTERMARCK, EDWARD. Wit and Wisdom in Morocco (Morocco). A Study of Native Proverbs. London, 1930.

WHEELUN, PHILIP. "On the Semantics of Poetry," Kenoy Review, II (Spring, 1940), 263–83.

WHITEHALL, HAROLD. "America's Language : A to Dew", Kenyon Review, II (Spring, 1940), 212.

WYLD, H. C. A History of Modern Colloquial English. London, 1920.

—— Dictionary of Underworld Lingo. New York, 1950.

YOUNG, K. "Language, Thoughts, and Social Reality," In Young, K, (ed.), Social Attitudes. New York, 1931.

शब्दानुक्रमणी

अ

आ

इ

ई

ऐ

ओ

औ

क

घ

झ

प

भ

म

य

र

श

स

ह

क्ष

———